# हिन्दी-गद्य-मीमांसा

( संशोधित तथा परिवर्द्धित )


लेखक—

रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०

अध्यापक, जसवन्त कालेज, जोधपुर


———


प्रकाशक—

सिटी बुक हाउस, कानपुर

तृतीय बार ] [ मूल्य ६)

# प्राक्कथन

—:o:—

मुझे बहुत दिनों से इस बात का अनुभव हो रहा था कि हिन्दी-लेखक कविता के पीछे बुरी तरह पड़े हैं। उनकी यह धारणा सी हो गई है कि हिन्दी-साहित्य का गौरव-वृद्धि करने तथा उसे समृद्ध बनाने के लिए कविता की भरपूर सृष्टि करना ही एक मात्र उपाय है। पर, बात तो यह है कि साहित्यिक उन्नति केवल कविता ही के सहारे कदापि नहीं हो सकती। गद्य अर्थात् भाषा का वह स्वरूप जिसे छोटे, बड़े, शिक्षित और अशिक्षित, पुरुष और स्त्रियाँ प्रतिदिन सांसारिक व्यवहार में हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा के भावों को व्यक्त करने में प्रयोग करते हैं उनको एकदम से कविता के मुक़ाबिले में हीन स्थान देना एक प्रकार का साहित्यिक पाप करना है।

ठीक इसी विचार को ध्यान में रखकर मैंने प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी-गद्य का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी में गद्य की इस ढंग से या तद्रूप अन्य रीति से पर्यालोचना करने की परिपाटी हिन्दी-गद्य के प्रतिभापूर्ण अनन्य सेवक स्वर्गीय बाबू बाल-

मुकुन्द जी गुप्त के बाद लुप्तप्राय सी हो रही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उनके पहले भी इस विषय पर कुछ लिखा था और श्रद्धेय श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने भी 'अधखिला फूल' के आदि में इस विषय की गवेषणापूर्ण विवेचना की। किन्तु तब से हिन्दी के समालोचकों ने गद्य से बिलकुल मुँह मोड़ लिया है। अस्तु—

मैंने इसी त्रुटि को कुछ सीमा तक पूर्ण करने का साहस किया है। पर मुझे आशा होती है कि मैंने जो विस्तृत प्रस्तावना तथा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ प्रत्येक गद्य-लेखक के ऊपर लिखी हैं उनका मननशील हिन्दी-प्रेमी समुचित आदर करेंगे। यही नहीं, मैं अपना पूरा एक वर्ष का परिश्रम तभी सफल समझूँगा जब मेरी 'गद्य-मीमांसा' सचिन्त समालोचकों को इसी के आधार पर काट-छाँट करके मौलिक पुस्तकें तैयार करने को उत्तेजित करेगी।

मुझे इस 'गद्य-मीमांसा' के लेखक-चयन के सम्बन्ध में एक आवश्यक बात कहनी है। वह यह है कि मैंने इस संग्रह में केवल उन्हीं लेखकों को स्थान दिया है जो अपनी छाप गद्य पर लगा चुके हैं चाहे वे जीवित हों या न हों।

मुझे विश्वास है कि इस से किसी लेखक को असन्तुष्ट होने का अवसर न मिलेगा।

अन्त में मुझे प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, प्रो० शिवाधार

पांडेय, प्रो० धीरेन्द्र वर्मा, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा अपने बड़े भाई प्रो० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी को बहुमूल्य अनुमतियों के लिए हार्दिक धन्यवाद देना है।

जसवन्त कालेज,
जोधपुर
१२ अक्टूबर, १९२९

रमाकान्त त्रिपाठी

---

## द्वितीय संस्करण की भूमिका

यह देख कर कि हिन्दी-प्रेमियों ने इस पुस्तक का समुचित आदर किया, इसका दूसरा संस्करण निकाला जाता है। इस बार काल-क्रम से हिन्दी-गद्य के विकास की विवेचना करते हुए कई नई बातों का समावेश करके विषय को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसके सिवाय कई नये लेखकों के नमूने जोड़े गये हैं। साथ ही साथ पुस्तक को ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक उपादेय बनाने के उपयोग से कई प्राचीन गद्य लेखों के नमूने भी इस बार दिये गये हैं जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए।

आशा है, इस दफ़े भी हिन्दी-प्रेमी इसे अपनावेंगे।

१२ अक्टूबर, १९३१

रमाकान्त त्रिपाठी

---

# तीसरे संस्करण की भूमिका

'हिन्दी-गद्य-मीमांसा' का दूसरा संस्करण निकले काफ़ी समय हो गया। इस बीच में इस विषय पर अनेक उपयोगी लेख तथा ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी कई मित्रों तथा साहित्य-सेवियों की प्रेरणा और प्रोत्साहन से मैंने यह तीसरा संस्करण भी प्रकाशित करने का साहस किया है।

प्रस्तुत संस्करण में बहुत से नये प्रकरण जोड़ दिये गये हैं जिनके कारण साहित्य-मर्मज्ञों को निस्सन्देह संतोष होगा। उदाहरणार्थ, 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर विस्तार-पूर्वक ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से विचार किया गया है। अनेक प्रख्यात विद्वानों की सम्मतियाँ भी दी गई हैं।

इसके अतिरिक्त 'सिनेमा' तथा 'रेडियो' द्वारा भाषा पर जो दूरव्यापी प्रभाव पड़ा है अथवा पड़ने की सम्भावना है, उसकी भी समीक्षा की गई है। इस सम्बन्ध में उपयुक्त उद्धरण भी दिये गये हैं।

हिन्दी-गद्य में इधर कई प्रकार की जो नई विकास-धारायें दृष्टिगोचर हुई हैं उनके उद्धरण भी इस बार जोड़ दिये गये हैं। पिछले संस्करणों में प्रत्येक गद्य-लेखक के जो अवतरण नमूने के तौर पर दिये गये थे, उनमें बहुत काट-छाँट की गई है। यही नहीं, भाषा में बिल्कुल काया-पलट कर दिया गया है, जिसका

पता विज्ञ वाचकों को तुरन्त लग जायगा। एवं, यथा सम्भव पुस्तक को एकदम नया रूप देने का तथा उसकी सर्वाङ्गीन उपादेयता की वृद्धि करने का प्रयास किया गया है।

मेरा विश्वास है कि हिन्दी-प्रेमी तथा हिन्दी-सेवी अपनी बहुमूल्य सम्मति प्रदान कर मुझे कृतकृत्य करेंगे।

अन्त में मुझे अपने प्रिय सहयोगी प्रोफ़ेसर मुरारीलाल जी, जसवन्त कालेज, जोधपुर, तथा योग्य शिष्य श्री श्रीगोपाल जी को हृदय से धन्यवाद देना है। मुरारीलाल जी ने सिनेमा की भाषा के सम्बन्ध में कई बहुमूल्य सुझाव दिये तथा श्रीगोपाल जी ने कई सिनेमा के कथनोपकथन लाकर देने में काफ़ी कष्ट सहा।

अपने बड़े भाई, पूज्य प्रिंसिपल लक्ष्मीकान्त जी त्रिपाठी, ने पुस्तक छपने के समय उसके प्रूफ़ देखने का जो काम जिस तत्परता से किया उसके लिए मैं उनका सदैव आभारी रहूँगा।

नवम्बर, २९, १९४९ रमाकान्त त्रिपाठी

# विषय-सूची

—:*:—

## प्रारम्भिक आधुनिक गद्य ( १८ सौ के लगभग )



## हरिश्चन्द्र के समय से आज तक

## परिशिष्ट

# प्रस्तावना

## हिन्दी में प्राचीन गद्य-साहित्य की कमी

यह देखा जाता है कि प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार गद्य से पूर्व होता है। महाकाव्य अथवा वीर-गाथायें ही सभी जातियों की प्राचीनतम साहित्यिक सम्पत्ति हुआ करती हैं। गद्य-साहित्य का प्रचार अधिकतर उसी समय होता है जब किसी देश की सामाजिक अवस्था अत्यधिक सभ्यतापूर्ण, या यों कहिए कि पार्थिवतापूर्ण, हो जाती है। सभ्यता और दुनियादारी ये दोनों शब्द पर्यायवाची से हैं, क्योंकि ज्यों ज्यों मानव-समाज अपनी आदिम अवस्था से निकल कर अधिकाधिक सभ्य होता जाता है और उसकी ज्ञानराशि तथा सांसारिक आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं त्यों त्यों उसकी मानसिक दशा में क्रमशः बड़ा विपर्यय होता जाता है। ऐसी जटिल परिस्थिति में आवश्यकतायें बढ़ते रहने से तथा जीवन-संग्राम के अत्यधिक गम्भीर होने से लोगों की व्यावहारिक दृष्टि प्रबलतर होती जाती है। एवं लौकिक असुविधाओं तथा कठिनाइयों का सामना करते करते उनकी बौद्धिक शक्तियों का उपयोग बढ़ता जाता है। जो आवेश तथा जो मानसिक स्वातंत्र्य प्रदर्शन करने के अवसर मनुष्य को प्रारम्भिक अव्यवस्थित दशा में मिला करते थे वे उसे उसकी प्रौढ़ावस्था में विविध प्रकार के सामाजिक बन्धनों से

जकड़ जाने पर नहीं मिलते। तभी तो कहा गया है कि सभ्यता और वास्तविक कविता इन दोनों में पारस्परिक वैर है। वस्तुतः सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ मनुष्यों में ऐहिकता की प्रवृत्ति अधिक व्यापक हो जाती है; साथ ही साथ उनकी बुद्धि तीक्ष्ण होती जाती है। अतएव अधिकांश मनुष्यों में कविता को सराहने तथा उससे आत्मानन्द प्राप्त करने की शक्ति क्षीण पड़ जाती है। सभ्य समाज में जिन उपयोगी कलाओं का विकास होता है उनके कारण कवितोचित परिस्थिति का न्यूनाधिक लोप हो जाता है। फलतः समुचित तथा अनुकूल परिस्थिति आविर्भूत होने लगती है।

शायद पद्य का प्रचार पहले पहल इस कारण से भी होता हो कि पद्य में जो बात लिखी होती है उसे स्मरण रखना सब के लिए अधिक सरल रहता है। गद्य की पंक्तियों को स्मरण रखना इतना सहल काम नहीं। अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक सिडनी ने भी अपनी सम्मति यही दी है। इसीलिए गद्य लिखने की परिपाटी प्रत्येक देश में तभी पड़ी थी, जब मुद्रणयंत्रों का आविष्कार तथा प्रचार हुआ। मुद्रणयंत्र गद्य-साहित्य के प्रसार में विशेष उपयोगी इसलिए सिद्ध हुआ क्योंकि उसके द्वारा बहुत सी प्रतिलिपियाँ तैयार होना सम्भव हो सकीं और बड़े से बड़े गद्य-ग्रंथ भी लिखे जा सके तथा जन-साधारण तक उन ग्रंथों के प्रचार होने का पूरा सुभीता हुआ।

यही पर एक बात और ध्यान देने योग्य है। जब समाज में शिक्षित समुदाय की वृद्धि होती है, तभी गद्य-साहित्य की खपत होती है। अनपढ़ अथवा अधकचरे लोग भी कविता को बहुत कुछ समझ

सकते हैं और उसको शीघ्र कण्ठस्थ करके आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु गद्य की वाक्य-रचना को एकाएक हृदयंगम कर लेना तथा उसमें लिखे हुए किसी लम्बे लेख का भाव केवल सुन कर ही समझ लेना साधारण अशिक्षित पुरुष की शक्ति के बाहर होता है। इस सिद्धांत की परिपुष्टि पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य कई १६ वीं शताब्दी वाले हिन्दी-लेखकों के गद्य-लेखों से होती है। प्रतापनारायण मिश्र का गद्य न तो विद्वतापूर्ण ही था और न सर्वोच्च कोटि के साहित्यिक गद्य का नमूना ही था। यद्यपि उसमें अनेक ऐसे गुण थे जो उच्च कोटि के गद्य में होते हैं, और यद्यपि हिन्दी-गद्य उनका बड़ा आभारी रहेगा, तथापि अन्त में यही मानना पड़ेगा कि उसकी भाषा तथा उसका स्वरूप दोनों प्रारम्भिक गद्य के से थे। उन्होंने जान-बूझ कर ऐसी ग्रामीणतापूर्ण सुबोध भाषा लिखी थी जो अल्पशिक्षित हिन्दी-जनता की समझ में आ सके और रुचे। एक प्रकार से उन्होंने अपनी शैली-द्वारा आधुनिक गद्य-साहित्य के प्रचार का शिलान्यास-सा किया था। यदि प्रतापनारायण के समकालीन अन्य लेखक घोर संस्कृतमय भाषा लिख गये होते तो आज हिन्दी-गद्य की इतनी विभिन्न रोचक शैलियां देखने को न मिलतीं।

संस्कृत में गद्य का अभाव इस कारण रहा होगा कि उसके साहित्याचार्यों ने साहित्य को धार्मिक स्वरूप देना चाहा था। जो कोई नया काव्य अथवा नाटक लिखता था उसे अपनी कविता का विषय अथवा नाटक का कथानक रामायण या महाभारत से ही लेना पड़ता था। साहित्य से लौकिकता कई रूपों में हटाई जाती

थी—काव्यों में देवी-देवताओं की स्तुतियां अवश्य रखनी होती थीं। नाटकों का अन्त सदैव सुखप्रद ही होता था, संयोग की जगह वियोग दिखाना वर्जित था। नाटकों में यह स्वाभाविक ही था कि पात्रों की बोलचाल बहुधा गद्य में ही हो, पर तब भी ज़्यादातर वे कविता ही में वार्तालाप करते थे।

ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी पर भी संस्कृत-साहित्य की इस काव्यमयता का बड़ा प्रभाव पड़ा होगा। हिन्दी का संस्कृत से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उसका छन्दःशास्त्र, उसके अलंकार, उसकी शब्दावली सभी संस्कृत से ली गई हैं। इसके सिवाय प्राचीन हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी लेखक और आचार्य संस्कृत के पूर्ण ज्ञाता थे। अतएव, शायद संस्कृतकाव्यकारों के सिद्धान्त को मान कर ही उन्होंने रोज़ की बोलचाल की भाषा या गद्य में कुछ लिखना हेय समझा हो। हिन्दी में गद्य लिखने की प्रथा देर में इससे भी प्रारम्भ हुई होगी कि उसके साहित्य का स्वर्णकाल अधिकतर धार्मिक आन्दोलनों के बीच में ही पड़ गया था। १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों के आसपास जब सूरदास और तुलसीदास के द्वारा हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट भाग निर्मित हो रहा था, तब वल्लभाचार्य और रामानन्द वैष्णव-धर्म को बड़े वेग से समस्त भारत में फैला रहे थे। ऐसे वायु-मण्डल में जहां

"कीन्हें प्राकृत-जन गुण-गाना,
शिर धुनि गिरा लागि पछिताना"।

की गूँज हो रही हो, गद्य लिखना तो दूर रहा, सांसारिक विषयों पर

कविता लिखना तक असम्भव था। हां, यह दूसरी बात है कि राज-दरबारों में राज-प्रश्रय में सभी प्रकार की साहित्यिक चर्चा हो सकती थी। जायसी, गंग, रहीम, सेनापति तथा अन्य कवियों ने हिन्दी में लौकिक ( Secular ) साहित्य की रचना इसी कारण कर पाई कि या तो वे राजदरबारों के प्रभाव के निकट रहे या सम-कालीन धार्मिक आन्दोलनों के प्रवेग से बाहर रहे, जिससे उनके दिमाग़ों में वह व्यावहारिकता अथवा वह चुलबुलाहट उपस्थित रही होगी जिससे उत्कृष्ट तथा रोचक गद्य-साहित्य को सृजन की प्रेरणा मिलती है।

अब, यदि कहा जाय कि मुसलमान-राज्य में और विशेष कर मुग़ल-काल में जब एक से एक बढ़े-चढ़े हास्यप्रिय दरबारी रहा करते थे, जो रात-दिन अपने हँसी के लतीफ़ों से क़हक़हे मचाये रहते थे, तब ऐसी अनुकूल परिस्थिति में गद्य लिखने की प्रथा का प्रचार क्यों न हो पाया? बात ठीक है, और इसका यथेष्ट समाधान करना भी कठिन है। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मुग़लों के राज्यकाल में, और खासकर अकबर और उसके निकटतम उत्तराधिकारियों के समय में, अपेक्षाकृत सुख और शान्ति थी, तथापि इसी प्रसंग में इतिहास साक्षी है कि उस समय भी नित्य नये रणकौतुक रचे जाते थे। स्वयं अकबर को अन्त तक कभी राजपूतों से, कभी सीमान्त-प्रदेशवालों से और कभी दक्षिण वाले राज्यों से लड़ते ही बीता। सारांश यह है कि भारत में सर्वत्र किसी न किसी रूप में रण-चर्चा व्याप्त थी। ऐसी स्थिति में भला गद्य-लेखकों के लिए कहां

स्थान था? यदि लेखक गद्य-साहित्य लिखते भी तो वाचक कहां से मिलते? उस समय तो केवल ऐसा साहित्य रुचिकर प्रतीत हो सकता था जिसे पढ़ कर लोगों में वीरता, उत्साह तथा जाति के अतीत गौरव की भावना जागृत हो सके। ऐसे समय में साधारण चारणों का सम्मान अधिक होता था, साधारण गद्य-लेखक की क़द्र होना असम्भव था।

अभी कह चुके हैं कि मुग़ल-राज्य के से शान्तिमय काल में गद्य-साहित्य को प्रोत्साहन न मिला। किन्तु, तब भी यह निर्विवाद है कि राज-दरबार के मुसलमान-दरबारियों तथा विद्वानों के द्वारा भविष्य में गद्य-प्रचार होने की समुचित सामग्री तैयार हो रही थी और एक अनुकूल वातावरण बन रहा था। अकबर-जैसे लोक-प्रिय सम्राट् की निष्पक्षता तथा सहृदयता पर मुग्ध होकर हिन्दू, मुसलमान सभी को निर्द्वन्द्वतापूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला। पारस्परिक सौहार्द से उन्होंने एक दूसरे की भाषा-वेष का अनुकरण तथा अध्ययन किया। जैसा कि राजा शिवप्रसाद कहते हैं हिन्दुओं ने अपनी भाषा निरी फ़ारसीमय बना डाली और बड़े गर्व से बोल-चाल तक में वे उसका प्रयोग करने लगे। फल यह हुआ कि किसी समय हिन्दू-मुसलमानों में जो घृणापूर्ण भाव एक दूसरे के प्रति रहते थे, उनका बहुत कुछ लोप हो गया और वे आपस में घुल-मिल गये। ख़ानख़ाना, अबुलफ़ज़्ल तथा बीरबल आदि इस गंगा-यमुनी संगम के अच्छे उदाहरण हैं। अस्तु, अकबरी दरबार के द्वारा पारस्परिक मिलन तथा गप्प-गोष्ठी का बड़ा प्रचार हुआ, और इसी के साथ साथ एक प्रकार से गद्योपयुक्त लौकिक चर्चा तथा सामाजिक

व्यवहार एवं मानसिक आदान-प्रदान की जड़ जमी, जो वर्षों के उपरान्त १६ वीं शताब्दी में पल्लवित हुई ।

१६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में हिन्दी-गद्य के अभाव का एक और बड़ा कारण था। अकबर के समय तक हिन्दुओं ने अपनी भाषा का अस्तित्व फ़ारसी में डुबोना शुरू कर दिया था। इसी व्रजभाषा तथा मुग़ल-सैनिकों की बाज़ारू भाषा के संमिश्रण से उर्दू का जन्म हुआ था। इसके सिवाय मुग़ल-दरबार की लिखा-पढ़ी भी फ़ारसी में ही होती थी । आजकल जिसे हम हिन्दी कहते हैं वह एकदम से लुप्त-सी होगई थी।

जब औरंगज़ेब की कुचालों से मरहटों और सिक्खों ने हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान का डंका बजाया, तब तत्कालीन हिन्दू-साहित्य पर भी उसका प्रतिघात हुआ। हिन्दी-कविता जिसका मूल सिद्धान्त सम्भवतः संस्कृत-कवियों की भांति यह रहा था :—

"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्" उसका काया-पलट हो गया। उसमें भूषण के वीर-रस का समावेश किया गया और काल्पनिक तथा राजदरबारी दुनिया से उसको मुक्त करके उसमें वास्तविकता का संचार किया गया।

इस प्रकार जब से एक ओर हिन्दू लोग अपने जातीय जीवन का विच्छेद मुसलमानों से करने लगे तथा दूसरी ओर मुसलमानी राज्य की नींव अंग्रेज़ों की शक्ति के उपक्रमण से उखड़ने लगी, तभी से हिन्दी-साहित्य का कलेवर परिवर्तित होना शुरू हुआ। तभी से मुसलमानी राज-दरबारों के सांसारिकतापूर्ण वैभव और आडम्बर के वायुमण्डल में तैयार किये हुए क्षेत्र में हिन्दी-गद्य का

आधुनिक स्वरूप उत्पन्न हुआ । लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' के गद्य की भाषा इस बात का प्रमाण है कि उस समय तक हिन्दू लोग अपनी भाषा को मुसलिम सभ्यता, संस्कृति तथा संस्कारों से विनिर्मुक्त करने में कितने प्रयत्नशील हो रहे थे ।

मुसलमानों के संसर्ग से हिन्दी को एक बड़ा लाभ था । हिन्दी-गद्य के विकास में बड़ी भारी अड़चन यह पड़ रही थी कि कोई एक प्रान्तीय भाषा सर्वमान्य साहित्यिक प्रयोग की भाषा नहीं बन सकी थी । एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने के कोई समुचित साधन तो थे ही नहीं । प्रत्येक जनपद के निवासी अपनी-अपनी भाषा का व्यवहार करते थे। मुगलों के शासन-काल में सारे देश में एक प्रकार की एकता उत्पन्न होगई । एक सम्राट् की छत्र-छाया में रहने तथा हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक घनिष्ठता से भारत का अधिकांश भाग एक सूत्र में बँध-सा गया था । शायद इसी ऐक्य के प्रभाव से तथा प्रत्येक प्रान्तीय भाषा पर फ़ारसी का गहरा प्रभाव पड़ने से कालान्तर में लोगों की बोलचाल की भाषा में साम्य आने लगा । समय पाकर जब बोलचाल की भाषा को साहित्यिक भाषा बनने का अवसर मिला, तभी से बघेली, मागधी, राजस्थानी आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के स्थान में एकमात्र खड़ी बोली के प्रयोग होने की सम्भावना हो गई ।

अन्त में अंग्रेजी राज्य के जमने से तथा विदेशियों की शिक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तकों की रचना होने से हिन्दी-गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला जैसा कि लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है ।

इस अध्याय में हिन्दी-गद्य-विकास के विलम्ब की विवेचना करते हुए जो कारण अनुमान के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें से कोई एक स्वतंत्र रूप से काफ़ी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं हो सकता। इस बात का पता लगाना कि साहित्य के अमुक अंग की पुष्टि देर में क्यों हुई सरल काम नहीं है। जिस प्रकार मानव जीवन रहस्यमय तथा निगूढ़ है, उसी प्रकार साहित्यिक विभागों तथा उप-विभागों की सृष्टि और विकास भी सामाजिक परिस्थिति के अनुसार नियमित होने के कारण रहस्यमय होते हैं। अतएव इस बात का निश्चित रूप में तै करना कि किसी समय-विशेष में किसी साहित्य में कविता तथा नाट्यकला की उन्नति क्यों हुई तथा किसी दूसरे समय में उनका ह्रास होने पर गद्य-लेखों का प्राचुर्य क्यों हुआ, कठिन ही नहीं बल्कि भ्रामक है।

अस्तु, हिन्दी-गद्य-साहित्य के प्रारम्भ होने में इतनी देर क्यों हुई? इस प्रश्न का ठीक ठीक, व्यापक तथा संतोषजनक उत्तर देना असम्भव है। वास्तव में यह निश्चित रूप से कहना असम्भव तथा निस्सार है कि पहले समाज की परिस्थिति में ऐसी कौन सी बातें उपस्थित थीं जिनके कारण लेखकों की प्रवृत्ति गद्य लिखने की ओर न होती थी, तथा अब ऐसा कौन सा परिवर्तन घटित हो गया है, जो उस ओर उन्हें प्रोत्साहित करता है।

## हिन्दी-गद्य का क्रमिक विकास

आजकल हिन्दी का जो स्वरूप देख पड़ता है, उसके उद्गम स्थान तथा प्रारम्भिक काल का पता लगाना कठिन है। केवल भाषातत्वज्ञों

की खोज के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १२ वीं शताब्दी के लगभग आधुनिक बोलचाल की तथा पुस्तकों में लिखी हुई हिन्दी की नींव पड़ी होगी। मुसलमानों के आक्रमण के पहले शौरसेनी, मागधी आदि भिन्न भिन्न अपभ्रंश प्रान्तीय भाषाओं का प्रचार रहा था। ज्यों ज्यों मुसलमानी सभ्यता का सिक्का भारत में जमता गया त्यों त्यों उनकी भाषा की भी रंग उत्तरोत्तर यहां की बोली पर चढ़ता गया। जैसा कि राजा शिवप्रसाद कहते हैं, संस्कृत की गौरव-गरिमा तो हिन्दू साम्राज्य के अस्त होने के साथ ही लुप्त होने लगी थी। अरबी, तुरकी और फ़ारसी, जो मुसलमान शासक तथा सैनिक अपने साथ लाये थे, उनका संमिश्रण क्रमशः प्रान्तीय भाषाओं से हुआ। फ़ारसी को राज-दरबार की भाषा बनने का सौभाग्य मिलने से इस संमिश्रण में और भी सुगमता हुई।

अस्तु, ब्रजभाषा जो वर्तमान हिन्दी की जननी कही जाती है, उसका भी विदेशी भाषाओं के संसर्ग से काया-पलट हुआ। यहां पर स्मरण रखने की बात है कि मुसलमान विजेताओं ने ही उस समय की प्रचलित देहली तथा मेरठ के आसपास की भाषा को "हिन्दी" नाम दिया था। सम्भव है कि पहले पहल हिन्दुओं ने इस देशी तथा विदेशी भाषाओं के संगम को घृणा की दृष्टि से देखा हो। परन्तु, अन्त में आपसी बोल-चाल, आचार-व्यवहार की सुविधा का ख्याल करके उन्होंने अपनी भाषा को खिचड़ी बन जाने दिया। एक समय ऐसा आया जब कि बड़े से बड़े कट्टर हिन्दू पत्र-व्यवहार तक फ़ारसी में करने लगे। देवनागरी-अक्षरों का चलन तो बन्द हो

सा हो गया था। उस प्रकार भाषा को चाहे हिन्दी कहिए चाहें उर्दू।

इस मिश्रित भाषा का परिपक्क स्वरूप १३ वीं शताब्दी में खुसरो की कविता में मिलता है। खुसरो अलाउद्दीन खिलजी के समय में दिल्ली में था। फ़ारसी में कविता करने के सिवाय उसने हिन्दी में भी बहुत कुछ लिखा है। उसकी 'खालिक़बारी', पहेलियां, दोसखुने तथा ग़ज़लें प्रसिद्ध हैं।

"बिया बिरादर, आवरे भाई। बिनशी मादर, बैठरी माई"।

खुसरो ने इस प्रकार की पंक्तियों में फ़ारसी और "हिन्दवी" को खूब मिलाया है, और एक प्रकार से आजकल की खड़ी बोली की जड़ जमाई है।

'चार महीने बहुत चले और महीने थोरी।
अमीर खुसरो यों कहे तू बता पहेली मोरी' ॥

खुसरो की यह ग़ज़ल भी देखिए :—

"वह गये बालम, वह गये नदिया किनारे,
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदारे।
भाई रे मल्लाहो हमको उतारो पार,
हाथ की देउँगी मूँदरी गले का देउँ हार"॥

इस दोनों की भाषा सीधी-सादी हिन्दी का नमूना है। यह इस बात का उत्तम प्रमाण है कि खुसरो के समय तक ब्रजभाषा तथा फ़ारसी के संयोग से एक ऐसी भाषा का प्रौढ़ रूप तैयार हो गया था जो आगे चल कर यथासमय साहित्यिक प्रयोग के उपयुक्त सिद्ध हो सकेगा।

ख़ुसरो के बाद १५ वीं शताब्दी में कबीर साहब ने स्वयं अधिक शिक्षित न होने के कारण बहुतकर गँवारी, बोल-चाल की भाषा में रचना की। उनकी भाषा प्रायः ग्रामीणतापूर्ण है परन्तु उसकी व्यंजक-शक्ति बड़ी प्रबल है। उसमें फ़ारसी, अरबी, संस्कृत तथा ठेठ बोल-चाल की मात्रा सभी का मेल है। जहां जहां उनकी भाषा परिमार्जित है, वहां फ़ारसी-शब्दों की खूब धूम है।

"साहब के दरबार में, कमी काहु की नाहिं;
बन्दा मौज न पावही, चूक चाकरी माहिं"।

तथा,

"छोड़ बदबख़्त तू क़हर की नज़र को,
खोल दिल बीच जहां बसत हक्का।
अजब दीदार है अजब महबूब है,
करन कारन जहां सबद सच्च।" ॥

ये दोनों पद इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं कि १५ वीं शताब्दी तक मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव हिन्दू-विचार तथा हिन्दू-भाषा पर कितना गहरा पड़ चुका था। 'हिन्दवी' भाषा निरी फ़ारसीमयी हो चुकी थी। परन्तु इसी सम्बन्ध में यह बात भी स्मरणीय है कि राज-काज में मुसलमानों के सम्पर्क में रहते रहते हिन्दुओं ने भी अपनी भाषा तथा वेष दूसरों को सिखला दिये थे। अकबर के समय में तो उसकी समदर्शिता के कारण हिन्दू और मुसलमानों की पारस्परिक घनिष्टता और भी बढ़ गई थी, यहां तक कि रहीम तथा रसखान से हिन्दी-कवि तथा अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी-जैसे संस्कृतज्ञ देख पड़ने लगे थे।

इस प्रकार फ़ारसी के सहवास से हिन्दी को प्रारम्भिक समय में कई लाभ हुए। एक तो मुसलमान-सम्राटों की ओर से जो कर्मचारी-गण भिन्न भिन्न प्रान्तों में नियुक्त होकर जाते थे, वे अपने साथ फ़ारसी ले जाते थे। वे सब कार्यवाही उसी में करते थे और जिस जिस प्रान्त में वे रहते थे वहीं उनके द्वारा फ़ारसी का प्रचार होता था। वहां के लोग उनसे मिलते-जुलते धीरे धीरे फ़ारसी के शब्द तथा मुहावरे सीख लेते होंगे। परिणाम यह होता था कि भिन्न भिन्न प्रान्त वाले, जो साधारणतया अपनी अपनी भाषायें बोला करते थे, क्रमशः एक भाषाभाषी बनते जाते थे। शायद यह सब इस बात का एक पक्का सबूत है कि १६ वीं शताब्दी तक हिन्दी में कविता करने वाले सभी कवि ब्रजभाषा न्यूनाधिक परिमाण में प्रयोग करने लगे और समय पाकर ब्रजभाषा ही कविता की सर्वमान्य भाषा निश्चित हो गई। विशेष कर हिन्दीं-गद्य के लिए तो यह बड़ा आवश्यक था कि प्रान्तीय बोलियों में अधिकाधिक साम्य हो क्योंकि उसकी उन्नति अथवा प्रचार तभी सम्भव हो सकते थे। यही कारण था कि इतने समय बाद लगभग १६ वीं शताब्दी के पूर्वकाल में ब्रिटिश-शासन के जमने पर तथा अंग्रेज़ी शिक्षा के व्यापक प्रभाव से प्रान्तीय भाषाओं की विभिन्नता और वैषम्य के दूर होने पर हिन्दी में उत्कृष्ट गद्य-साहित्य का श्रीगणेश हो पाया।

अस्तु, हिन्दी की उत्पत्ति तथा उसकी साहित्यिक परिस्थिति पर १६ वीं शताब्दी के लगभग तक विचार करके अब उसके गद्य-साहित्य के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालनी है। अभी संकेत किया

जा चुका है कि शुरू शुरू में गद्य-साहित्य के प्रसार के मार्ग में कैसी रुकावटें पड़ रही थीं। एक ओर प्रान्तीय भाषायें बोल-चाल तथा लिखने की भाषा के बीच में दीवार खड़ी कर रही थीं। यदि कोई ब्रज-मण्डल-निवासी लेखक गद्य की पुस्तक लिखने बैठता तो स्वभावतः वह ब्रजभाषा में ही लिखता था। परन्तु उसका प्रचार ब्रज-भूमि के बाहर शायद ही और कहीं हो पाता था। यह तै करना कठिन तथा दुस्साध्य था कि सब जगहों के रहने वाले बोलें चाहे जौन सी भाषा पर लिखें कोई एक भाषा। यह भाषा-सम्बन्धी प्रश्न एक विशेष प्रकार की अनुकूल सामाजिक तथा मानसिक परिस्थिति उत्पन्न होने पर ही समुचित रीति से हल हो सकता था।

इसी तरह अन्य कई अड़चनें गद्य के विकास पर पड़ रही थीं। परन्तु, क्योंकि बहुत काल तक गद्य का सर्वथा अभाव रहा, इस लिए लोग पद्य ही बोलते रहे होंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते। तात्पर्य केवल यह है कि जिस प्रकार कविता में लिखने और बोलने की भाषा का संगम हो चुका था, उस प्रकार की परम्परा गद्य के विषय में निर्दिष्ट न हो पाई थी। स्वप्न में भी लेखकों के दिमाग में इस बात का ख्याल न आता होगा कि गद्य में भी कोई पृथक् लेखन-शैली हो सकती है। इसके लिए हम तत्कालीन लेखकों को दोषी नहीं ठहरा सकते, क्योंकि वे ऐसी परिस्थिति में स्थित थे जो गद्य के लिए सर्वथा प्रतिकूल थी। केवल कविता ही उसमें पनप सकती थी।

वैसे तो साहित्यिक पुरातत्वज्ञों को प्राचीन हिन्दी-साहित्य में गद्य-लेखों की खोज करते समय कुछ सामग्री मिल ही जावेगी। परन्तु

उसमें से अधिकांश इस ढंग की है जिससे कुतूहल मात्र की संतुष्टि हो जाती है, और जो इस विचार से साहित्यिक अजायबघर में रखने योग्य है। उदाहरणार्थ, पृथ्वीराज के समय के कुछ पूर्व, गोरखनाथ के तितर-बितर गद्य-लेख इसी श्रेणी में परिगणित हो सकते हैं। सबसे पहला समीचीन गद्य का नमूना गोकुलनाथ की "चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में मिलता है। उनका स्फुरण-काल १६ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। हम उनकी वार्त्ताओं को १६ वीं शताब्दी की आदर्श गद्य-रचनायें मानकर उन पर विचार करेंगे।

वह धार्मिक आन्दोलनों का युग था। इसलाम का निरनुक्रोशता तथा धार्मिक आवेग के संघर्षण से म्रियमाण हिन्दू-धर्म की शुष्क अस्थियों में भी जीवन-ज्योति का संचार हो उठा। शंकराचार्य की बौद्धिक फ़िलासोफ़ी तथा प्रज्ञावाद से उत्पन्न हुई सुषुप्तावस्था से इसलाम-धर्म की आवेषपूर्ण पैग़म्बर-पूजा ने हिन्दुओं को जगाया। हिन्दू-समाज ने अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए राम और कृष्ण की भक्ति की धूम देश भर में मचाई।

इसी आवेशपूर्ण भक्तिवाद का संदेश लेकर स्वामी रामानन्द तथा वल्लभाचार्य ने उत्तरी भारत में भ्रमण किया। सारे देश में थोड़े ही समय में राम और कृष्ण की लीलाओं के कीर्तन बड़े ही उल्लासपूर्वक होने लगे। इस देशव्यापी भक्ति-मार्ग के उत्थान के साथ साथ भारत के विभिन्न प्रान्तों में बड़े बड़े सन्त पैदा हुए। इन सन्तों ने स्वयं भक्तिजनित आनन्दातिरेक का अनुभव तो किया ही, पर साथ ही

साथ उन्होंने उस आनन्द को जन-साधारण के दिलों में भी पहुँचाने तथा उसके द्वारा उनमें एक नई स्फूर्ति उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया। एवं, सूरदास, तुलसीदास, अष्टछाप वाले भक्तों ने तथा अन्यान्य संतों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा अपने भावों का प्रचार करना शुरू किया। यद्यपि कबीर और दादू जैसे ज्ञान-मार्गियों ने तथा सूर, तुलसी जैसे भक्ति-मार्गियों ने अपने अपने सिद्धान्त पृथक् पृथक् रूप में लोगों के सामने रक्खे, पर उन सबों ने उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रचलित भाषा का ही कुछ हेर-फेर से अपने अपने ढंग से प्रयोग किया। इन सबों की रचनाओं में जो साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा व्यवहृत हुई है इसका सम्बन्ध तत्कालीन भक्तिमार्ग की देशव्यापी लोकरञ्जक प्रवृत्ति से था। बात यह थी कि उस समय के प्रायः सभी सन्तों ने यह समझ लिया कि जब तक हम अपने सिद्धान्त बोल-चाल की भाषा में नहीं प्रकट करते तब तक उनका प्रभाव विशदरूप में जनता पर नहीं पड़ सकेगा। बात भी ऐसी ही थी। क्योंकि अब उस समय सारे देश में संस्कृत का प्रचार न था और वेद-शास्त्र को समझाने की तालिका ब्राह्मण पंडितों के हाथ में थी, मुसलमान-साम्राज्य के जमने से भारत के जीवन तथा उसकी विचार-धारा पर बड़ा परिवर्तन हो चुका था। इस समय की हिन्दू-जनता अपनी प्राचीन संस्कृति में तथा साहित्य में श्रद्धा जरूर रखती थी और उनके तत्वों को फिर से जानने की उसे जिज्ञासा अवश्य थी; पर उद्भट पंडितों के मुँह से दुरूह व्याख्यान सुनने में उसकी रुचि न थी। हां, यदि नित्यप्रति की बोलचाल की भाषा से

मिलती जुलती, भक्तिप्लावित सुगम भाषा में उन्हें कोई बड़े से बड़े गहन दार्शनिक तत्वों का भी दिग्दर्शन कराने को तैयार होता तब तो सभी लोग उसे सुनते ।

जनता की इसी प्रवृत्ति को देख कर तथा अपने प्रचार करने के उद्देश्य की सफलता की सम्भावना देख कर ही १५वीं और १६वीं शताब्दियों के बहुत से संत कवियों ने संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी उस "भाषा" में ही अपने ग्रन्थ लिखे । इस प्रसंग में कबीर तथा तुलसीदास ने अपने विचार बड़ी ही स्पष्ट रीति से व्यक्त किये हैं।

कबीर कहते हैं :—

संसकिरत संसार में, पंडित करै बखान ।
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निर्बान ॥१॥
संसकीरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर ।
भाषा सतगुरु सहित है, सत मत गहिर गँभीर ॥१॥
पूरन बानी वेद की, सोहत परम अनूप ।
आधी भाषा नेत्र बिन, को लखि पावे रूप ॥३॥

तुलसीदास जी कहते हैं :—

का भाषा का संसकृत, प्रेम चाहिये साँच ।
काम जो आवै कामरी, का करि सकै कमाँच ॥४॥

ऊपर दिये हुए कबीर के दूसरे दोहे से यह बात कितनी अच्छी तरह ज्ञात होती है कि उस समय के सभी मननशील लोगों को यह भली भाँति विदित हो गया था कि संस्कृत का विकास-प्रवाह व्याकरण के नियमों से जकड़े जाने से न जाने कब बंद हो चुका था और

इसी कारण वह साधारण प्रयोग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो चुकी थी। इसके प्रतिकूल उत्तरी भारत में क्रमशः एक नई भाषा बन रही थी जिसका भविष्य बड़ा उज्ज्वल देख पड़ता था। इस भाषा का रुख वाग्धारा की ओर ही था और इसी से उसकी सजीवता का पूरा प्रमाण मिलता था। तभी तो कबीर ने उसे 'बहता नीर' कहा है।

इस प्रकार तत्कालीन भक्त कवियों तथा ज्ञानी संतों के प्रयत्न से भाषा पर एक नया लौकिक, अथवा यों कहिए कि लोकसत्तात्मक, प्रभाव पड़ा जिसके कारण साहित्य का आदर्श ही एकदम बदल गया। अभी तक अधिकतर कवि प्रायः रीति-सम्बन्धी अथवा शृंगार-रस-बिषय कवितायें ही लिखा करते थे। पर भक्ति-आन्दोलन के आवेग में पड़ कर घोर शृंगारी कवियों को भी अपने हृद्गत भाव भक्तिरस में डुबो कर उन पर 'एक नया सात्विक आवरण चढ़ा कर प्रदर्शित करने की प्रेरणा सी हुई। इसके अतिरिक्त उस समय के बहुत से भक्ति-रस-प्रेरित काव्य-साहित्य का ध्येय जनता में सद्भावों को उद्दीप्त करने का था।

तुलसीदास जी ही को लीजिए। उन्होने स्वयं रामायण के आरम्भ में अपना उद्देश्य निर्धारित करते हुए कहा है :—

कीरति, भनिति, 'भूति, भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

इस समीक्षा से यह निष्कर्ष निकला कि हिन्दी-गद्य के उपयुक्त एक सुचिक्कण भाषा के बनने में जो रुकावटें अभी तक पड़ रही थीं उनमें से एक बड़ी रुकावट इस भक्ति-आन्दोलन के द्वारा दूर हुई। अभी तक उत्तर भारत की बोल-चाल की कई भाषायें थीं, उनमें से किसी एक

को अथवा उन सबके यथोचित परिमाण में मिले हुए मिश्रित स्वरूप को साहित्यिक उपयोग के लिए सर्वस्वीकृत होने का सुअवसर न मिल पाया था। यह काम भक्त कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों तथा भक्ति-रस-पूर्ण पदों के द्वारा अच्छी तरह सम्पादित किया।

इस सम्बन्ध में तुलसीकृत रामायण का स्थान प्रथम आता है। अकेले रामायण के द्वारा जिस प्रकार बहु-संख्यक लोगों की रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर उद्दीप्त हुई है उसका अनुमान तक नहीं हो सकता।

इसी तरह कबीर, मीरा, सूर, तुलसी, दादू आदि प्रधान ज्ञानियों तथा भक्तों के पदों ने सारे भारतवर्ष में सहृदय लोगों के दिलों में जो घर कर लिया उसके कारण भी १५वीं तथा १६ वीं शताब्दियों में हिन्दी को सुसंगठित होने में तथा परिमार्जित होने में बहुत सहायता मिली होगी।

मुग़लों की छत्रच्छाया में भारतीय गान-विद्या को जो समुचित समादर प्राप्त हुआ था और जिसके कारण बैजू बावरा, मियाँ तानसेन आदि तत्कालीन उस्तादों को प्रोत्साहन मिला उसके कारण से भी हिन्दी को क्रमशः आगे बढ़ने में पूर्ण योग मिला होगा। क्योंकि, उनके पदों को गाते-गाते तथा सुनते-सुनते लोगों की बोली पर ही नहीं बल्कि साहित्यिक भाषा पर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा होगा। यह बात केवल अनुमान करने की है।

इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन के प्रवाह के वेग में तथा मुग़लों के प्रोत्साहन से गान-विद्या आदि अन्य कलाओं का सर्वग्राह्य स्वरूप में प्रचार होने से उस समय हिन्दी को एक साहित्यिक रूप मिलने में बड़ा

ही अच्छा अवसर मिला। ठीक इसी समय अर्थात् १६ वीं शताब्दी के बीच में हिन्दी में कई तरह का उच्चकोटि का साहित्य बनना शुरू हो गया था। पर इस प्रसंग में उस समय के उच्चकोटि के काव्य-साहित्य का उल्लेख न करके केवल गद्य-साहित्य पर ही विचार करना है और यह दिखाना है कि उसका भी तत्कालीन भक्ति-मार्ग की प्रगति से घनिष्ट सम्बन्ध है।

अभी कह चुके हैं कि वल्लभाचार्य ने १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग में उत्तरी भारत में कृष्ण-भक्ति का खूब प्रचार किया। इन्हीं के पुत्र विट्ठलनाथ जी थे जिन्होंने अष्टछाप की भक्ति-कवि-मण्डली की स्थापना की थी। इन्हीं विट्ठलनाथ जी के गोकुलनाथ जी सुपुत्र थे। इन्होंने वल्लभाचार्य जी के साथ साथ उत्तरी भारत में बड़ी दूर तक पर्यटन किया था। 'चौरासी वैष्णवों की बार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता' नाम की पुस्तकों में उन्होंने उन वृत्तान्तों का उल्लेख किया है जो यात्रा में उन्होंने स्वयं देखे होंगे अथवा वल्लभाचार्य की सगुण कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने के लिए तथा आचार्यों की महिमा के बखान करने के लिए जो गढ़ लिये गये हैं। इस प्रकार इन दोनों पुस्तकों का उद्देश्य वस्तुतः वैष्णव धर्म के पुष्टि-संप्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करना ही है।

एवं, लेखक का ध्येय निरा धार्मिक है। कोरे आत्मानन्द के लिए उसने कदापि नहीं लिखा था। इसी से उसकी शैली में सादगी है और उसकी पदयोजना में किसी प्रकार का रचना-चमत्कार नहीं है। उसकी वैयिक्तकता अदृश्य है तथा उसमें भाव-वैचित्र्य लाने के लिए हास्य आदि का समावेश कहीं नहीं किया गया। रोचकता से यदि आपका

अभिप्राय रचना-तारल्य अथवा हास्यपूर्णता से है तो वह गोकुलनाथ के गद्य में ढूँढ़ने पर भी न मिल सकेगी। हाँ, एक दूसरे प्रकार की रोचकता उसमें अवश्य है। उसकी कथाओं के पात्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लिये गये हैं। चोर, उठाईगीर, लुच्चों से लेकर मथुरा के चौबों, सेठों, साहूकारों, दरबारियों तक का सभी का हाल है। इसके सिवाय प्रत्येक प्रान्त के लोग उन वार्ताओं के पात्रों में मिलते हैं। इन सब विशेषताओं के कारण वे काफ़ी मनोरंजक प्रतीत होती हैं। उन्हें पढ़ते समय यही ज्ञात होता है कि मानो हम स्थानान्तर में विचरण कर रहे हैं और प्रति दिन के लौकिक जीवन के चित्र हमारे सम्मुख खिंच रहे हैं। एक बात अवश्य है कि ये जो लौकिकतामय चित्र सामने प्रस्तुत हैं वे भक्ति के चौखटे में जड़े हुए हैं। जिसे देखिए वही पहले चाहे जितने जघन्य कर्म क्यों न करता रहा हो, अन्त में वैष्णव-धर्म को स्वीकार कर लेता है। यही एक बात है जिसके कारण गोकुलनाथ की वार्ताओं को हम उच्चकोटि के गद्य-साहित्य में सम्मिलित करने से हिचकते हैं क्योंकि वस्तुतः सांप्रदायिक प्रोपेगंडा ही उसका प्रधान उद्देश्य है। तब भी यह देखते हुए कि उनके समय तक हिन्दी में उनकी टक्कर का कोई भी स्वतंत्र गद्य-ग्रंथ नहीं बना था, हम गोकुलनाथ को महत्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं।

यह तो हुई 'चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं' के प्रतिपाद्य विषय की बात। अब उनके गद्य की ऐतिहासिक महत्ता की विवेचना करनी है।

गोकुलनाथ अपने समय के एक मात्र गद्य-लेखक कहे जा सकते हैं

वार्ताओं के लिखने में उनका उद्देश्य चाहे जो कुछ रहा हो, परन्तु हिन्दी में गद्य-कथायें लिखने की परिपाटी उन्हींने डाली है। इनकी वाक्य-रचना में पुनरुक्ति-दोष तथा विषमता अवश्व विद्यमान हैं और उसमें एक प्रकार का शैथिल्य भी है। फिर भी उन्होंने इतने बड़े बड़े ग्रंथ गद्य में लिखकर भावी लेखकों के लिए उससे भी अधिक परिमार्जित भाषा में भिन्न भिन्न प्रकार की रचनायें करने का द्वार खोल दिया। सब से बड़ा काम गोकुलनाथ ने यह किया कि उन्होंने वर्णन करने के लिए गद्य का प्रयोग करके उसकी वर्णन-शक्ति बढ़ाई और अपने शब्द-कोष को काफ़ी विस्तृत बनाया। फ़ारसी अरबी, व्रजभाषा, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी तथा ठेठ बोलियों तक के शब्द और मुहावरे लाकर उन्हें उन लोगों के सम्बन्ध की चित्र-विचित्र घटनायें वर्णन कीं। अतएव इस वर्णन-विभिन्नता के तद्रूप शब्दावली का प्रयोग करके गोकुलनाथ ने हिन्दी-गद्य के विकास में बड़ा योग दिया।

यद्यपि 'अर्द्धकथानक' के लेखक बनारसीदास शायद गोकुलनाथ के समकालीन रहे हों, तथापि हम प्राचीन गद्य-लेखकों की श्रेणी में उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दे सकते। एक तो उनका लिखा हुआ गद्य बहुत कम मिला है, और दूसरे जो कुछ मिलता है वह काफ़ी सुसंगठित तथा सुप्रवाह नहीं है। उसमें उस प्रकार की स्वाभाविकता नहीं जो गोकुलनाथ की भाषा में है। ऐसी अवस्था में हिन्दी-गद्य के विकास के अध्ययन करने वाले का बनारसीदास का नाम केवल इसलिए स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने सुरति मिश्र आदि अन्य कई टीकाकारों की भांति ऐसे समय में जब गद्य लिखने की प्रथा न थी साहित्य के

एक आवश्यक अंग की पूर्ति की।

एक तरह से 'चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के उपरान्त कोई भी विशेष मार्के की पुस्तक गद्य में १६ वीं शताब्दी के आरम्भ तक नहीं मिलती। कई वर्ष हुए १६२७ ई० की लिखी हुई हस्त-लिखित 'शृङ्गारशतक' की टीका मिली थी, जो किशोरदास नामक लेखक की लिखी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से उस टीका का कोई खास महत्व नहीं। बात यह है कि उसकी भाषा केवल पर्यायवाची शब्दों का ढेर है। कहीं कहीं उसमें प्रान्तीयता यहाँ तक भरी है कि पढ़ने वाला गूढ़ता के दलदल में उलझ जाता है। वाक्य-निर्माण भी इतना लचर है कि यह प्रतीत होता है कि लेखक बड़ा असावधान तथा अल्पशिक्षित रहा होगा।

किशोरदास की भाषा से इतना तो अनुमान अवश्य होता है कि गोकुलनाथ के बाद गद्य बहुत कम लिखा गया था जिसके कारण उनके उत्तरवर्ती लेखकों को गद्य लिखने में बड़ी कठिनाई अनुभव करनी पड़ी।

किशोरदास की टीका से एक बात का और पता लग सकता है। वह यह कि शायद १७ वीं शताब्दी, या यों कहिए कि किशोरदास के समय तक, हिन्दी-साहित्य में फ़ारसी तथा उर्दू के बहिष्कार करने का तथा संस्कृत के आश्रय लेने की एक प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी। कम से कम हिन्दी-गद्य के जो थोड़े से लेखक उस समय थे, उन्होंने जान-बूझ कर अपनी भाषा से फ़ारसी आदि अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दों को छाँट-छाँट कर निकालना आरम्भ किया। उनकी दृष्टि में गोकुलनाथ के गद्य की

इसप्रकारकी फ़ारसी-अरबी की शब्दावली हेय जान पड़ी । एवं, जैसा कि किशोरदास की भाषा की शुद्धता तथा संस्कृतमयता से सिद्ध होता है, उस समय के अन्य गद्य-लेखकों ने गोकुलनाथ की चलाई हुई रीति का विरोध किया।

यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः किशोरदास या अन्य किसी लेखक के निर्दिष्ट किये हुए मार्ग पर चलने से हिन्दी-गद्य के विकास पर आघात पहुँचा हो । क्योंकि किसी भाषा का गद्य बिना दूसरी भाषाओं के संमिश्रण के केवल अपनी भाषा के शब्द-कोष पर निर्भर रह कर कभी भी पनप नहीं सकता । असंख्य भावों को सजीवरूप में व्यक्त करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए उसे दूसरी भाषाओं के चुभते हुए शब्दों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है ।

अस्तु, किशोरदास के बाद १६ वीं सदी तक हिन्दी का गद्य-साहित्य कोरा पड़ा रहा । सम्भव है कि कुछ ग्रन्थ इस बीच में लिखे भी गये हों, किन्तु अभी तक एक का भी पता नहीं चल सका ।

वास्तव में सैयद इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने ही गद्य की नींव डाली । इंशा ने अपनी, 'रानी केतकी की कहानी' उर्दू-लिपि में ही लिखी थी, यद्यपि उनकी भाषा खड़ी बोली अथवा आजकल की बोल-चाल तथा लिखने-पढ़ने की हिन्दी का एक अप्रौढ़ रूप है ।

सैयद इंशा एक बहुभाषाभाषी पुरुष थे । उनकी तबीयत में पूरी मस्ती तथा चुलबुलापन था । एवं उनको यह धुन सवार हुई कि गद्य में एक ऐसी कहानी लिखी जाय कि जिसमें उनकी फ़ारसी, अरबी, तुरकी की विद्वत्ता का लेशमात्र भी न आ पावे, और जो ऐसे मुहावरेदार शैली में हो कि उसे

सर्वसाधारण समझ सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर उन्होंने 'रानी केतकी को कहानी' लिखी। इस कहानी की भाषा बड़ी सरल और रसीली है। सचमुच इस में न तो 'हिन्दी (अर्थात् संस्कृतपूर्ण हिंदी) का छुट है' और न 'और किसी बोली का पुट है'। इंशा ने इस कहानी के द्वारा उस युग के सामने एक उत्कृष्ट गद्य-शैली का अच्छा नमूना प्रस्तुत किया जो हिन्दी और उर्दू दोनों के भविष्य लेखकों के बड़े काम का निकला। प्राचीन गद्य-लेखकों ने किसी पथ-प्रदर्शक को न पा कर बड़ी दबी क़लम से, बड़े परिश्रम से, गद्य लिखा था, जो आजकल के साधारण से साधारण वाचक के विचार से भद्दा दिखता है। इंशा ने स्पष्ट दिखला दिया कि किस ढंग से उच्च कोटि का गद्य लिखा जा सकता है।

यद्यपि इंशा ने यह समझ-बूझ कर तथा गम्भीर विचार करके 'रानी केतकी की कहानी' की रचना कदापि न की होगी कि वे उसके द्वारा भावी गद्य-लेखकों को एक निर्दिष्ट परम्परा अथवा शैली का सहारा मिल जावेगा, तथापि अपनी उस एक रचना के कारण उनकी गिनती हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर निर्मायकों में करनी चाहिए।

इंशा के गद्य के कई गुण स्मरणीय रहेंगे। उनकी भाषा पर उनकी चंचल प्रकृति पूरी तौर से प्रतिबिम्बित है। उनका रँगीलापन प्रत्येक भाव तथा प्रत्येक पद में नाचता हुआ देख पड़ता है। उनके गद्य में सबसे बड़ी और अनोखी बात यह है कि उसमें एक प्रकार की घनिष्टता तथा मृदुलता है जिसके कारण उसे पढ़ने वाले का चित्त लेखक की ओर आपसे आप खिंच जाता है और उसके जीवन-वृत्तान्त जानने की जिज्ञासा उसमें उत्पन्न हो जाती है। यह 'घनिष्टता' का गुण सदैव उच्चकोटि के

गद्य में ही मिलता है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बाल-कृष्ण भट्ट के लेखों में भी इस प्रकार का गाढ़ सौहार्द पाया जाता है। यह मानते हुए भी कि किसी साहित्यिक प्रणाली के उत्पत्ति-स्थान का सरलता से पता लगाना बड़ा कठिन है, फिर भी अनुमानतः इतना कह सकते हैं कि प्रतापनारायण मिश्र की शैली पर सैयद इंशा का बहुत अंशों में प्रभाव पड़ा है। यह न सही, तो भी कम से कम मिश्र जी के और इंशा के गद्य में बड़ा साम्य है और शैली के हिसाब से उनका वर्गीकरण भी बहुत अंशों में एक साथ किया जा सकता है।

हिन्दी-गद्य के ऐतिहासिक विकास में इंशा का खास स्थान है। उनके पहले हिन्दी में गद्य-साहित्य सिवाय गोकुलनाथ की वार्ताओं, बनारसीदास के दो-एक ग्रन्थों तथा कुछ टीकाओं के था ही नहीं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है गोकुलनाथ को सब विचारों से गद्य-साहित्य का एक सीमा-चिन्ह मान सकते हैं, क्योंकि उन्होंने काफ़ी संख्या में कथायें लिखीं और उनके द्वारा बहुत सा सुसम्बद्ध गद्य-साहित्य उस प्रारम्भिक काल में प्रस्तुत किया। 'चौरासी वैष्णवों की बार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता' को तब भी वास्तविक प्रकार के गद्य-साहित्य में परिगणित नहीं कर सकते, क्योंकि उनका ध्येय सर्वथा धार्मिक था। वैष्णव-धर्म की महत्ता दिखाना तथा उसको सर्वग्राह्य बनाकर उसका प्रचार करना ही गोकुलनाथ का एकमात्र अभिप्राय था। उन कथा-वार्ताओं से वाचकों का कोरा मनोरञ्जन अथवा 'प्राकृत' जन-गुण-गान करना उनका उद्देश्य न था।

पर, इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' इसी मतलब से लिखी थी

कि "जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊं जो देखते ही आप के (वाचक के) ध्यान का घोड़ा अपनी चौकड़ी भूल जाय" अर्थात् अपनी भाषा के चमत्कार से पाठकों को चकित करना ही उनका उद्देश्य था। सचमुच क्या ही निरा लौकिक-उद्देश्य उनका था! गोकुलनाथ की तरह किसी मत-विशेष के प्रचार करने की नियत उनसे कोसों दूर थी। अस्तु, इंशा ने अपनी 'कहानी' के द्वारा गद्य को धार्मिकता के बंधन से मुक्त करके उसे सहृदय उदारता की ओर प्रेरित किया। इस अर्थ में हम उन्हें हिन्दी-गद्य का एक बड़ा उन्नायक मान सकते हैं।

लल्लूलाल और सदल मिश्र ने निश्चित रूप में हिन्दी-गद्य की नींव डाली। पर 'सिंहासन-बत्तीसी', 'प्रेमसागर', तथा 'नासिकेतोपाख्यान' को गद्य में लिखने की प्रेरणा उन दोनों की एक नई दिशा से मिली। लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों कलकत्ते के फ़ोर्टविलियम कालेज में अध्यापक थे, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से आये हुए कर्मचारियों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिए खोला गया था। उस कालेज के मुख्याध्यापक गिलक्राइस्ट साहब के अनुरोध से उन दोनों लेखकों को हिन्दी में ऐसी पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का काम सौंपा गया था जिनके द्वारा ताज़े विलायत से आये हुए कम्पनी के अफ़सर देश-भाषा सीख सकें। गिल-क्राइस्ट साहब के दिये हुए आदेश का दोनों ने भिन्न भिन्न रीति से पालन किया। लल्लूलाल ने अपना 'प्रेमसागर' ऐसी भाषा में लिखा जिसमें उर्दू-शब्दों तथा मुहावरों का नाम तक न था, और जो यहाँ तक परिष्कृत

थी कि उसमें आद्योपान्त शुद्ध व्रजभाषा की धूम थी। इसके सिवाय 'प्रेमसागर' के गद्य में शब्दाडम्बर तथा काव्यमयता भी खूब है। सीधी-सादी बोल-चाल की मुहावरेदार भाषा का आश्रय न लेकर उन्होंने पद्यात्मक गद्य का प्रयोग किया है। इसी दृष्टि से लल्लूलाल का वह स्थान हिन्दी-गद्य के इतिहास में नहीं है जो कि उन्हें मिलता यदि वे सिंहासन-बत्तीसी' वाली भाषा को अपनाकर उसी में 'प्रेमसागर' की रचना करते। क्योंकि 'सिंहासन-बत्तीसी' में उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी आदि सभी को आवश्यकतानुसार भाषा की विशदता तथा व्यंजक-शक्ति बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया है। फिर भी, लल्लूलाल ने हिन्दी-गद्य को, जान बूझ कर या अनजान में ऐसे साँचे में ढाल कर तैयार किया जिससे कि वह आगे चल कर साधारण विषयों के अनुपयुक्त होने पर भी एक विशेष प्रकार के उपयोग के लिए अनुकूल सिद्ध हुआ। क्योंकि रसपूर्णता, काव्यमयता तथा वर्णन-विशदता के समावेश से एक ख़ास तरह की आवेशपूर्ण गद्य-शैली का प्रचार हुआ जिसके परिपोषकों में से आजकल के कई लेखकों की गिनती हो सकती है। अस्तु, यह होते हुए भी कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की शुद्ध, व्रजभाषा से रँगी हुई, काव्योचित भाषा को मुद्रित पुस्तकों के द्वारा स्थिर करके हिन्दी-गद्य की नौका, उल्टी-गङ्गा बहाकर, खेई, इतना निसन्देह मानना पड़ता है कि तब भी उन्होंने एक ऐसी प्रणाली चलाई जिससे हिन्दी में मिश्रित तथा संस्कृत दोनों रीतियों के ओतप्रोत से कई विभिन्न शैलियों का आविर्भाव हुआ। तात्पर्य यह है कि जहाँ

आगामी गद्य-लेखकों को खड़ी बोली के मिश्रित गद्य के नमूने सैयद इंशा तथा सदल मिश्र ने प्रस्तुत किये वहीं लल्लूलाल ने उनके सामने ऐसी भाषा लिखकर रखी जो बहुत कुछ आवश्यक अंगों में परिवर्तित किये जाने पर शान्त, कोमल मनोवेगों के व्यक्त करने के लिए अच्छे संस्कृत माध्यम का काम दे सकती थी।

सम्भवतः सदल मिश्र को आभास हो गया होगा कि किसी समय हिन्दी-साहित्य में ऐसी स्थिति आवेगी जब गद्य और पद्य की भाषा में आकस्मिक उलट-पलट होगी, यहाँ तक कि गद्य से भी व्रजभाषा का साम्राज्य उखड़ेगा और उसके स्थान में खड़ी बोली अर्थात् देहली, आगरे के पड़ोस की बोल-चाल की भाषा का व्यवहार होगा। यही कारण है कि उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' के गद्य को यथासम्भव उसी मुहावरेदार मिश्रित भाषा में लिखा है। इतना तो कहना कठिन है कि उनकी भाषा बिल्कुल सोलह आने आजकल की उत्कृष्ट हिन्दी अर्थात् बोल-चाल की मिश्रित भाषा है। परन्तु लल्लूलाल के मुक़ाबिले में उन्होंने शुद्धता का ध्यान कम रखा है और प्रायः इस बात का प्रयत्न किया है कि भाषा को थोड़ा-बहुत चुभीली बनाने के लिये उर्दू, फ़ारसी कहीं से भी उपयुक्त मुहावरे तथा शब्द लिये जायँ। तभी तो 'लगी कहने' ऐसा उर्दू का वाक्यविन्यास तथा 'कानाकानी', 'उथल-पुथल', 'रोने कलपने लगा', 'फूलो फलो' इस प्रकार के दोहरे पदों का प्रयोग उन्होंने किया है, जिनसे कही हुई बात ख़ूब जँचती है।

वास्तव में गोकुलनाथ के उपरान्त हीन तथा शिथिल दशा से हिन्दी-गद्य को उठाने वाले लेखकों में सदल मिश्र का नाम विशेष रीति से

उल्लेख्य । इस सम्बन्ध में वे इसलिए और भी श्रेय के भागी हैं कि ऐसे समय पर जबकि उन्हें ठीक ठीक दिशा का संकेत करने वाला कोई भी पूर्ववर्ती लेखक न था, उन्होंने अपने आन्तरिक ज्ञान से यह जान लिया कि भविष्य में गद्य और कविता दोनों की वही सर्वमान्य भाषा बनेगी जो शताब्दियों के हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संपर्क से बोल-चाल में प्रयुक्त होने लगी थी। यही समझ कर अंग्रेज अफ़सरों के लिए उन्होंने जो पाठ्य पुस्तकें बनाई वे सब मिश्रित भाषा में ही लिखीं।

सदल मिश्र के उपरांत हिन्दी के सोद्देश्य तथा चिंतनशील गद्य-लेखों में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का नाम सबसे प्रथम आता है। परन्तु उनके गद्यविषयक विचारों की गवेषणा करने के पूर्व इस बीच के समय में ( अर्थात् १८०३ से १८६४ तक ) जो देश की स्थिति में भिन्न भिन्न परिवर्तन हुए थे, उनका इसलिये उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि गद्य के प्रचार तथा उन्नति में उनका बड़ा दूरव्यापी प्रभाव पड़ा था।

इस प्रसंग में सबसे पहले ईसाई-धर्म-प्रचारकों का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि सन् १८०३ के आस-पास पादरियों ने धर्म-प्रचार की नियत से विलायत से आकर कलकत्ते के निकट सिरामपुर में अपना डेरा डाला, वहाँ एक प्रेस भी खोला गया। वहीं से बाइबिल का भाषानुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में प्रकाशित हुआ। सन् १८१८ तक ईसाइयों के पूरे धर्म-ग्रन्थ का अनुवाद निकल गया। इस सब प्रचार-कार्य की देख-रेख विलियम कैरी नामक तथा कई अन्य पादरियों ने की थी।

ईसाइयों के इस प्रचार-कार्य का तत्कालीन हिन्दी-गद्य के विकास पर

बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, क्योंकि ऐसे समय में जब कि गद्य-साहित्य प्रगतिहीन तथा निष्प्राण सा हो रहा था, ईसाई अनुवादकों ने भावी लेखकों को एक निश्चित मार्ग दिखाया। बाइबिल का अनुवाद करते समय तथा धर्म-प्रचारार्थ जन-साधारण को प्रभावित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'सदासुख' तथा 'लल्लूलाल' की विशुद्ध भाषा को ही अपनाया। इसके सिवाय, यह समझ कर कि जन-समुदाय की प्रतिदिन की बोल-चाल की भाषा उस विशुद्ध भाषा से बहुत कुछ मिलती थी, उन्होंने अरबी-फ़ारसी-रंजित शैली को जान-बूझ कर यथासम्भव दूर रखा। उनके अनुवाद की भाषा वस्तुतः ठीक वही है जिसमें तत्कालीन हिन्दू-जनता कथा-पुराण सुना करती थी। उसी भाषा में आगे चल कर ईसाई-धर्म-सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें तथा पर्चे बराबर निकलते रहे।

इन्हीं पादरियों ने कुछ समय पीछे कई शहरों में बालकों के शिक्षा का काम भी अपने हाथ में ले लिया और बहुत से स्कूल खोले। शिक्षा-सम्बन्धिनी पाठ्य-पुस्तकें भी सरल, सुबोध हिन्दी में लिखी गईं।

इस प्रकार के प्रचार-कार्य के साथ-साथ आगरा, मिर्ज़ापुर, मुंगेर, कानपुर आदि भिन्न भिन्न नगरों में ईसाई प्रचारकों ने अपने धार्मिक साहित्य का अच्छा खासा प्रसार किया।

इन सब बातों को देखते हुए यह कहना अत्युक्ति न होगा कि ईसाइयों ने इस देश के लाभ के लिए जहाँ अन्य शिक्षा-सम्बन्धी तथा समाज-सुधार का काम किया है वहाँ हिन्दी-गद्य के विकास में भी अदृश्य रूप में पूरा योग दिया है। बात यह है कि सन् १८०३ तथा ग़दर के बीच के समय में हिन्दी में गद्य-साहित्य लुप्तप्राय सा हो रहा

था। गद्य में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाय इस समस्या का संतोषजनक तथा सर्वमान्य उत्तर मिल ही न रहा था। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में पादरियों ने अपने प्रचार-साहित्य में विशुद्ध भाषा के साथ जन-साधारण में व्यवहृत सजीव ठेठ ग्रामीण शब्दों का बेधड़क प्रयोग करके आगे के लिए एक शिष्ट तथा व्यंजक गद्य-शैली की नींव रख दी।

इसी बीच में मैकाले की अनुमति से लार्ड विलियम बेंटिंक के समय में देशवासियों की शिक्षा का प्रबन्ध पाश्चात्य ढंग पर अर्थात् अंग्रेजी के माध्यम द्वारा होना निश्चित हुआ। एवं तदनुसार उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों की रचना हुई और लोगों की प्रवृत्ति अंग्रेजी पढ़ने की ओर हुई। इसके सिवाय पढ़कर लोगों को कम्पनी के दफ्तर में नौकरियाँ भी मिलने लगीं। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा पाने तथा पाश्चात्य प्रभुओं की नौकरी करने का इस देश के लोगों पर क्रमशः यह प्रभाव पड़ा कि उनके संकुचित विचार एकदम उड़ से गये और उन अंग्रेजों के रहन-सहन, वेष-भूषा, बोल-चाल को अनुकरण करने की इच्छा उनमें अदृश्य रूप में जाग्रत हुई। फलतः ईस्ट इंडिया कम्पनी की धनलिप्सा, जो उसके व्यवसायिक युद्धों के रूप में प्रकट होती थी, धीरे-धीरे शायद इस देश के निवासियों के संतोषमय जीवन को डगमग करने लगी। अनुमानतः कहा जा सकता है कि कम्पनी के वाणिज्य-कुशल कर्मचारियों के द्वारा यहाँ के लोगों पर बहुत कुछ दुनियादारी अथवा ऐहिकता का रंग चढ़ा होगा। इस बात पर अनावश्यक परिणाम में जोर न देकर इतना कहना उचित होगा कि अंग्रेजी राज्य के साथ साथ भारतीय

जीवन के तल में एक प्रकार की लौकिकता, या यों कहिए कि व्यावहारिकता, दृष्टिगोचर होने लगी, जो एतद्देशीय गद्य-साहित्य के लिए हितकर सिद्ध हुई।

दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य से अवगत होने पर यहाँ के शिक्षित लोगों की आँखें खुली होंगी कि उनका साहित्य उस समय तक कितना अपांग था जिसमें कविता के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। परन्तु ठीक उसी समय तक अर्थात् १६ वीं शताब्दी के मध्यकाल तक अंग्रेजी साहित्य काफ़ी सम्पन्न बन चुका था। उसमें 'बेकन के निबन्ध', ड्राइडन की सुन्दर मँजी हुई भाषा के लेख, गिबन् का ओजपूर्ण इतिहास, एडीसन और स्टील के सुबोध तथा परिष्कृत भाषा में लिखे हुए लेख—इस प्रकार के उत्कृष्ट गद्य के नमूने मिलते थे। एवं तत्कालीन सुशिक्षित भारतीयों को इस बात का दुःखपूर्ण अनुभव हुआ होगा कि उनके देश के साहित्य कैसे रंक थे। इस अनुभव के कारण शायद उनमें से बहुतों को गद्य-साहित्य की उन्नति में भाग लेने का प्रोत्साहन मिला होगा।

सन् १८५४ में सर चार्ल्स उड् (Sir Charles Wood) ने विलायत से एक योजना तैयार करके भेजी जिसमें हिन्दुस्तान की देशी भाषाओं में यहाँ के लोगों को शिक्षा देने के लिए देहाती स्कूलों के खोलने की अनुमति दी गई थी। अस्तु, जिस प्रकार मैकाले उच्च शिक्षा के अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा दिये जाने का प्रबन्ध कर गये थे, वैसे ही उड् साहब ने देशी भाषाओं के अध्ययन की नींव रखी। तदनुसार गाँव गाँव स्कूल खुले। तभी से सक्रम हिन्दी पढ़े-लिखे

लोगों का समुदाय बनने लगा । उनके लिए जो पाठ्यक्रम निर्धारित हुआ तथा जो पाठ्य पुस्तकें बनीं, उनके द्वारा हिन्दी को और विशेषकर हिन्दी-गद्य के विकास को बड़ी उत्तेजना मिली क्योंकि उनको पढ़े हुए लोगों में से भावी लेखक और भावी वाचक बन कर निकले ।

परन्तु, यह दिखाने के बाद कि उन सब कारणों से हिन्दी-लेखकों की प्रवृत्ति गद्य लिखने की ओर हुई यह सहसा मान लेना अनुचित है कि १९ वीं शदाब्दी के प्रारम्भकाल में ही, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के समय से ही, हिन्दी की उन्नति का द्वार खुल गया था । क्योंकि बात यह है कि हिन्दी को उर्दू से बड़ा भय था । ऐसी प्रथा चल गई थी कि हिन्दी वाले भी अपनी पुस्तकें फ़ारसी अक्षरों में लिखने थे । प्रेमसागर के ढंग के ग्रन्थ लगभग ६० वर्ष तक नहीं बने । उधर फ़ारसी-लिपि की धूम मची रही ।

अभाग्यवश १८३५ ई० में सरकारी दफ़्तरों में फ़ारसी-लिपि के साथ साथ हिन्दी जारी हुई । इससे देवनागरी-अक्षरों का लोप सा होने लगा, यहाँ तक कि जैसा बाबू बालमुकुन्द जी गुप्त कहते हैं 'जो लोग नागरी-अक्षर सीखते थे वह फ़ारसी-अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी-भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू बन गई' । गुप्त जी के ही शब्दों में 'हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी-अक्षरों में लिखी जाती थी' ।

अन्त में यहाँ तक नौबत पहुँची कि देवनागरी-अक्षर लोग भूल गये । बात यह थी कि अदालती काम सब उर्दू में होता था, इसलिए राजदरबार की सम्मानित तथा रईसी भाषा का स्थान उसी को प्राप्त

था। पढ़े-लिखे लोगों, खास कर नौकर-पेशा वालों, के घरों में पत्र-व्यवहार तक उर्दू में होने लगा।

१६ वीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू का प्राबल्य रहा। तब कुछ फ़ारसी, अंग्रेज़ी पढ़े हुए लोगों का ध्यान देवनागरी की कुदशा की ओर आकर्षित हुआ। इनमें से राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह मुख्य थे। इन महानुभावों का यह सिद्धान्त था कि राजकीय कामों में उर्दू चाहे जितनी समादृत क्यों न हो पर जन-साधारण के हित के लिए देवनागरी का पुनरुज्जीवन करना परम आवश्यक था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्थात् सर्वसाधारण में देवनागरी-अक्षरों का प्रचार करने के लिए सन् १८४५ ई० में राजा शिवप्रसाद ने काशी से "बनारस-अख़बार" निकालना शुरू किया। उसकी भाषा उर्दू तथा लिपि देवनागरी होती थी। उसकी भाषा का उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तय्यार हर चेहार तरफ़ से हो गया बल्कि इसके नक़्शे का बयान पहले मुंदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है"। राजा साहब की भाषा का 'आधा तीतर-आधा बटेर'-पन स्पष्ट है। अक्षर देवनागरी के हैं किन्तु शब्द उर्दू के हैं। इस खिचड़ी के दो कारण हैं। एक तो लल्लूलाल के बाद किसी लेखक का गद्य-ग्रन्थ

हिन्दी में लिखा हुआ राजा साहब के सामने न था जिससे उन्हें सहायता मिलती। लल्लूलाल की भाषा "उनकी पोथी में ही रह गई। आगे और पोथियाँ लिख कर किसी ने उनकी भाषा की उन्नति नहीं की"। उर्दू का गद्य वैसे भी हिन्दी के गद्य के कुछ पहले प्रारम्भ हुआ था और इसके सिवाय 'प्रेमसागर' के बाद उर्दू में तो लगातार धड़ाधड़ गद्य लिखने का क्रम जारी रहा। पर हिन्दी-गद्य बिल्कुल प्रसुप्त दशा में रहा। देवनागरी-अक्षरों का अप्रचार ही इसका बड़ा कारण था। अतः राजा शिवप्रसाद ने उनका पुनः प्रयोग करके हिन्दी की उन्नति के मार्ग में से एक बड़ी रुकावट हटाई। इस हिसाब से उन्होंने जो कुछ भी अनगढ़ हिन्दी लिखी है उसका बड़ा महत्व रहेगा।

वैसे तो राजा साहब के अपने कुछ भाषा-विषयक विशद सिद्धान्त थे। अपने "इतिहास तिमिरनाशक" की भूमिका में वे साफ़-साफ़ कहते हैं कि :—

"I may be pardoned for saying a few words to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books, and use in their stead Sanskrit words, quite out of place and fashion, or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population... Our Court-language in usage is Urdu, and the Court-language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day. If we cannot make the Court-

character, which is unfortunately Persian, universally used to the exclusion of Devanagari, I do not see why we should attempt to create a new language".

अर्थात् राजा शिवप्रसाद उन शुद्धि-वादियों के सर्वथा विरुद्ध थे जिन्हें हिन्दी को संस्कृतमय तथा फ़ारसी, उर्दू से मुक्त रखने की सनक सवार रहती है। कोई भी शब्द, चाहे वह फ़ारसी का हो अथवा तुरकी का, यदि चिरकाल से साधारण प्रयोग में आते रहने से उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई है तो केवल पक्षपात की दृष्टि से उसको निकालना वे बुरा समझते थे। यहाँ तक तो उनका सिद्धान्त ठीक है, किन्तु जब वे ग्रामीण मुहावरों या शब्दों को केवल ग्रामीणता के विचार से हेय कहते हैं तब आश्चर्य होता है। यदि ग्रामीणता सचमुच ऐसी जघन्य वस्तु है (तथा नागरिकता ऐसी सुन्दर वस्तु है) तब तो पंडित प्रतापनारायण के सारे लेख जला देने के योग्य ही ठहरेंगे!

अस्तु, राजा शिवप्रसाद ने दो प्रकार से हिन्दी-गद्य की उन्नति में सहायता की है। एक तो, जैसा अभी कहा जा चुका है, उन्होंने चिर-अप्रचलित देवनागरी अक्षरों का प्रचार किया और दूसरे हिन्दी-उर्दू मिली हुई भाषा का आविष्कार करके उन्होंने हिन्दी-गद्य को शुरू से दुरूहता के गड्ढे में गिरने से बचाया। वस्तुतः लल्लूलाल की भाषा की अत्यधिक शुद्धता को रोकने का राजा शिवप्रसाद ने अच्छी तरह प्रयत्न किया।

पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बाल-मुकुन्द गुप्त तथा अन्य मिश्रित शैली के लेखकों के आदि-गुरु राजा शिव-

प्रसाद ही कहे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वयं शिक्षा-विभाग में उच्च पद पर रह कर इसी मिश्रित भाषा में अपने हाथ से पाठ्य पुस्तकें लिख कर उन्होंने हिन्दी और उर्दू को बहुत कुछ एक दूसरे से मिलाने का प्रयत्न किया; और इस दिशा में वे जो काम कर गये हैं, उसी के आधार पर आजकल भी भाषा के साम्यवादी चल रहे हैं। अस्तु हिन्दी और उर्दू के बीच में 'पुल बनाना' ही उनके साहित्यिक जीवन का एक ध्येय था और इसी सम्बन्ध में हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए वे बराबर महत्वपूर्ण रहेंगे। इस सम्बन्ध में कठिन संस्कृतमय अथवा फ़ारसी से सराबोर दोनों प्रकार की अस्वाभाविक भाषाओं से चिढ़ कर राजा साहब ने मजेदार शब्दों में अपने विचार यों प्रकट किए हैं :—

"अति कठोर शब्दों को, जो हजारों बरस तक दाँत, होठ और जीभ से टकराते-टकराते गोलमटोल पहाड़ी नदी की बटिया बन गये हैं, पण्डित जी फिर वैसे ही खुरदरे सिंघाड़े की तरह नुकीले पत्थर के ढोके बनाना चाहते हैं जैसे वे नदी में पड़ने से पहले पहाड़ से टूटने के वक्त रहते हैं। और मौलवी साहब अपने ऐन-क़ाफ़ काम में लाना चाहते हैं कि बेचारे लड़के बलबलाते-बलबलाते ऊँट हो बन जाते हैं"।

राजा शिवप्रसाद के साथ ही राजा लक्ष्मणसिंह का नाम भी आधुनिक हिन्दी-गद्य के निर्माण के प्रसंग में स्मरणीय है। राजा लक्ष्मणसिंह ने यद्यपि 'सितारे हिन्द' के साथ हिन्दी के प्रचार में भरपूर सहयोग किया, तथापि वे उनके हिन्दी और उर्दू के बीच में पुल बनाने के प्रयत्न में सम्मिलित न हुए। रघुवंश का गद्यानुवाद करते समय

अपने प्राक्कथन में वे कहते हैं कि "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं। उर्दू में अरबी-पारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी-पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-पारसी के शब्द भरे हों"।

एक ओर राजा शिवप्रसाद का यह कहना है कि केवल संस्कृत की शब्दावली से भरी हुई भाषा को हिन्दी कहना गर्ह्य है तथा दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह का यह कहना है कि अरबी-फ़ारसी के शब्द के बिना भी हिन्दी बोली जा सकती है, इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उन दोनों के गद्य-विषयक सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर है। राजा शिवप्रसाद तो उर्दू की मदद से हिन्दी-गद्य को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहते थे तथा उन दोनों भाषाओं की विभिन्नता को यथा-सम्भव घटाना चाहते थे। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह लल्लूलाल के निर्दिष्ट किये हुए मार्ग का अनुसरण करके हिन्दी को उर्दू से अधिका-धिक अलग करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। राजा लक्ष्मणसिंह का यह मत उनके समय के अधिकांश सचेतहृदय हिन्दू लेखकों के विचार के अनुकूल था। क्योंकि बहुत दिनों तक फ़ारसी-भाषी शासकों के हाथ में हिन्दी अपने अस्तित्व को उर्दू की पुष्टि में न्योछावर करती रही थी और इस प्रकार स्वयं अपने कलेवर को खो चुकी थी। हिन्दुओं ने यह समझा होगा, जैसा कि श्री बालमुकुन्द जी गुप्त कहते थे, कि

"फ़ारसी, अरबी शब्दों के बहुत मिल जाने से हिन्दी हिन्दी नहीं रही कुछ और ही हो गई। हिन्दुओं के काम वह नहीं आ सकती"।

तभी राजा लक्ष्मणसिंह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा एक व्रजभाषा-मिश्रित भाषा का प्रचार हुआ जो राजा शिवप्रसाद के सिद्धान्तों से प्रतिकूल था।

राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा का एक नमूना देकर भारतेन्दु के गद्य के विषय में कहना है :—

"अनसूया—( हौले प्रियम्वदा से ) सखी मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो ? और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ? क्या कारन है कि जिससे तुमने अपने कोमल मन को इस कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है" ?

अब इसके पूर्व कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य पर विचार करें, यह आवश्यक है कि उनके समय तक जो रूप हिन्दी-गद्य को प्राप्त हो चुका था उसका सिंहावलोकन किया जावे। आधुनिक गद्य-साहित्य की नींव वास्तव में लल्लूलाल के समय से ही पड़ी थी और कई कारण थे जिनसे उसके विकास में उत्तरोत्तर सहायता मिलती गई। सब से बड़ी सहायता छापेख़ानों के प्रचार से हुई। सन् १८३७ में दिल्ली में सबसे पहला हिन्दी का लीथो-प्रेस खुला। धीरे धीरे बनारस, कलकत्ता आदि भिन्न भिन्न स्थानों में कई हिन्दी-प्रेस होगये। इस छपाई की सुविधा का यह परिणाम हुआ कि लोगों में पढ़ने-लिखने की ओर प्रवृत्ति हुई और

जिनमें कुछ भी साहित्यिक रुचि थी वे या तो समाचारपत्र निकालने लगे या समयोपयुक्त पुस्तकें लिखने लगे। तभी तो १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में 'बाग़ोबहार', 'रानी केतकी की कहानी', 'सुखसागर', 'प्रेमसागर', आदि अनेक गद्य-पुस्तकें लिखी गईं तथा 'बनारस-अख़बार', 'कवि-वचन-सुधा', आदि पत्र प्रकाशित होने लगे। तात्पर्य यह है कि मुद्रणयंत्र की सहायता से जब किसी लेख अथवा पुस्तक की असंख्य प्रतियाँ तैयार करना सम्भव हो गया, तब विशेष कर गद्य-लेखकों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। क्योंकि जिन प्रान्तीय बोलियों की विभिन्नता तथा बाहुल्य के कारण प्राचीन काल से गद्य का कोई एक निश्चित, सर्वमान्य स्वरूप न बन पाया था वह अब सम्भव होने लगा। बात यह है कि किसी प्रबन्ध अथवा विचार-समूह को छपे हुए रूप में देख कर जनसाधारण की प्रायः यह धारणा तुरन्त हो जाया करती है कि वह वेद-वाक्य के तुल्य मान्य है। इसी से जब अनेक प्रान्तीय बोलियों के बोलने वालों ने एक ख़ास तरह की मिश्रित भाषा को छपे हुए रूप में चिरस्थायी बना हुआ देखा तब उन्होंने उसे साहित्यिक कामों के लिए ग्राह्य समझ लिया। अस्तु, मुद्रणयंत्र के द्वारा हिन्दी-गद्य की भाषा का प्रश्न शीघ्र तै हो गया। खड़ी बोली ही सर्वसम्मति से उस काम के लिए स्वीकृत की गई। केक्सटन् ने चासर की पुस्तकें तथा उन पर अपनी लिखी हुई भूमिकायें छापकर अंग्रेज़ी-गद्य की भाषा को चिरस्थायी स्वरूप देने में जो कार्य किया था, वही लल्लूलाल और सदल मिश्र ने 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' तथा अन्य पाठ्य पुस्तकों के द्वारा किया।

जिस समय भारतेन्दु ने नाटक लिखना शुरू किया था उस समय तक लल्लूलाल, सदल मिश्र, मुंशी सदासुख, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह आदि थोड़े से गद्य-लेखक हो चुके थे। परन्तु उनमें से एक भी यह निर्धारित न कर पाया था कि हिन्दी में गद्य किस ढंग से लिखा जाय जिससे वह भाषा के विचार से न तो उर्दू ही बन जाय और न निरा संस्कृतमय ही हो जावे। लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' में गद्य लिखने की एक आज़माइश की जिसमें उर्दू को ढूँढ ढूँढ़ कर बहिष्कृत किया और व्रजभाषा की शाब्दिक तोड़-मरोड़ तथा कोमलकान्त-पदावली का अधिकतर प्रयोग किया। फलतः उनका सा गद्य उनके पश्चात् किसी अन्य लेखक ने न लिखा, और वे अपने ढँग के निराले बने रहे।

सदल मिश्र ने खड़ी बोली के मुहावरे स्वीकार किये और लल्लूलाल की अपेक्षा उन्होंने अधिक प्रौढ़ भाषा लिखी। राजा शिवप्रसाद ने लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के ठेठपन को निकाल कर एक ऐसी भाषा लिखी जो नागरिक सुघरता से पूरित थी, तथा जिसमें उत्कृष्ट उर्दू की झलक थी। हिन्दी का हिन्दीपन नाममात्र को सुरक्षित रखने के लिए राजा साहब ने बीच बीच में संस्कृत के तत्सम शब्दों का तथा व्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग किया। परन्तु उन्होंने अन्त में देवनागरी-अक्षरों में उर्दू लिख कर रख दी। अतएव, यद्यपि राजा शिवप्रसाद ने लल्लूलाल के प्रचलित किये हुए भ्रममूलक भाषा-शुद्धता के सिद्धान्त का निराकरण करके अपने हाथों से हिन्दी को उर्दू के व्यंजना-पूर्ण मुहावरों से सुसज्जित किया, तथापि वे भी इस कार्य

को करते करते भ्रान्त से हो गए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ठीक इसी समय आविर्भूत हुए। उन्होंने हिन्दी-गद्य को अनिश्चितता की दशा से निकाल कर एक निर्दिष्ट दिशा में प्रेरित किया।

भारतेन्दु के समय तक भारतीय जीवन के अङ्ग अङ्ग में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव व्याप्त हो चुका था और अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोग काफ़ी संख्या में तैयार हो चुके थे। इसके साथ ही साथ अंग्रेजी पढ़े हुए शिक्षित समुदाय की आँख उस नई पश्चिमीय देशों से आई हुई ज्योति से ऐसी चकाचौंध हो गई थी कि उनमें से अधिकांश अपनी भाषा को भूलने लगे थे। बड़े से बड़े प्रतिष्ठित तथा सुशिक्षित घरों में भी उर्दू का सम्मान होने लगा था, क्योंकि उन दिनों वही एक मात्र राज-सम्मानित भाषा थी। हिन्दी का पुनरुत्थान करने में राजा लक्ष्मणसिंह अपना व्यक्तिगत प्रयत्न तो कर ही गये थे, परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बहुत से होनहार प्रतिभाशाली पुरुषों की विद्याभिरुचि उद्दीप्त की तथा उनकी एक साहित्यिक गोष्ठी बनाई। रात-दिन के उठने-बैठने वाले लोगों में केवल दो ही चार थे, किन्तु अन्य बहुत से हिन्दी-प्रेमी जैसे राधा-चरण जी गोस्वामी, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बदरीनारायण चौधरी, श्री निवासदास, देवकीनन्दन खत्री, प्रतापनारायण मिश्र आदि दूर दूर रहते हुए भी उनके संपर्क में रहते थे और इसी अर्थ में वे उस हरिश्चन्द्र-मंडल के अन्तर्गत थे। सारांश यह है कि भारतेन्दु के प्रभाव में पड़ कर के ही उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार की रचनायें कीं।

हरिश्चन्द्र ने जनता में हिन्दी की ओर रुचि उत्पन्न करने के लिए

नाट्य-कला का ही आश्रय लिया और अधिकतर नाट्य-ग्रंथों की रचना की। परन्तु उनके नाटक कोरी नाट्य-कला से भरे नहीं हैं। वे व्रजभाषा की बड़ी रसीली कविता से लबालब हैं। इसी नाट्य-कला तथा कविता का आस्वादन कराके भारतेन्दु ने अपने समय के शिक्षित समाज के ताटस्थ्य को दूर करके उसकी रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर प्रवृत्त की।

यहाँ पर भारतेन्दु की कविता तथा नाट्यकला पर कुछ न कह कर केवल इस बात की विवेचना करनी है कि उनके द्वारा हिन्दी-गद्य के विकास में कहाँ तक तथा किस प्रकार सहायता मिली।

अभी संक्षेप में कहा जा चुका है कि भारतेन्दु की साहित्यिक शक्ति से हिन्दी अपनी म्रियमाण अवस्था से बात की बात में सजीव हो उठी। परन्तु यह कह सकते हैं कि यदि उन्हें अपने समय में उठी हुई देश-प्रेम की प्रबल लहर का सहारा न मिला होता तो वे अपनी मण्डली की सहायता से हिन्दी का प्रचार करने में उतने सफल न हो पाते जितना कि वे हुए हैं। उनके 'भारत-दुर्दशा', 'भारत जननी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इन सब नाट्य-ग्रंथों में एक विशेष परिस्थिति का चित्र मिलता है। उनमें जो व्यंग है वह उस समय के देश-प्रेम के झोंके में ही श्रोताओं अथवा वाचकों को रुचिकर तथा सरस सिद्ध हो सकता था।

अस्तु, गदर के बाद से ही देश-प्रेम के भाव जागृत हो उठे थे वे भारतेन्दु के समय तक अंकुरित हो गये थे। उस समय के हिन्दी-गद्य के प्रचार अथवा वृद्धि पर उन भावों का गहरा प्रभाव पड़ा था। बात यह है कि जब पढ़े लिखे लोगों को राजनैतिक परतंत्रता की असुविधाओं का तथा अपने जन्मसिद्ध स्वत्वों का ज्ञान हुआ, तब वे तरह तरह से शासकों

और शासन-प्रणाली पर व्यंग करके अपने चित्त को तुष्ट करने लगे। अतएव उनकी देखादेखी जनसाधारण को भी यह समझने का अभ्यास होने लगा कि बाहरी आवरण के भीतर संसार की प्रत्येक वस्तु में कैसे कैसे अरुचिकर गुण भी भरे रहते हैं। ऐसी दशा में लोगों की प्रवृत्ति हास्य तथा व्यंग की ओर हुई। फलतः, क्या राजनैतिक और सामाजिक सभी प्रकार के दोषों की आलोचना कटाक्ष अथवा तानाबाज़ी द्वारा होने की रीति चल पड़ी।

एवं, उस समय के अधिकांश हिन्दी-लेखकों के लेख भी व्यंग-हास्य-पूर्ण होने लगे। भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' आदि प्रहसनों में उसी लौकिक रुचि को सन्तुष्ट किया। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं' तथा 'मरे का मारैं शाह मदार' आदि लेखों में, पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने 'माँगी रोटी मिला पत्थर', 'नाक निगोड़ी भी एक बुरी बला है' शीर्षक लेखों में, राधाचरण गोस्वामी ने 'नाईस्तोत्र' तथा 'बूढ़े मुँह मुहासे लोग देखें तमासे' आदि प्रहसनों में अपने जमाने की व्यंगप्रियता का परिचय दिया।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक ओर तो प्राचीन संस्कृत-नाटकों का अनुवाद करके तथा स्वयं भी कई समयोपयुक्त मौलिक नाट्य-रचनायें करके उन्हें रंगमंच पर खेला और उनके द्वारा दर्शकों में हिन्दी-प्रेम तथा देश-प्रेम उत्पन्न किये। दूसरी ओर हिन्दी-गद्य को भी उन्होंने गौण रूप में प्रोत्साहन दिया। रससिद्ध कवि तो वे जन्म से ही थे और कविता ही उनकी स्वाभाविक भाषा थी। किन्तु, अपने अनुवादित तथा मौलिक नाटकों के पात्रों की बोलचाल की भाषा को एक खास स्वरूप देकर

उन्होंने गद्य-विकास में योग दिया है।

उनका लिखा हुआ गद्य दो-चार छोटी सी पुस्तकों के बाहर केवल नाटकों में तथा उनकी भूमिकाओं में मिलता है। भारतेन्दु ने जिस ढंग से संस्कृत-नाटकों के अनुवाद किये हैं तथा 'भारत-दुर्दशा' आदि प्रहसनों में जैसी भाषा लिखी है, उससे उनके गद्य का बहुत कुछ परिचय हो सकता है।

समष्टिरूप में कह सकते हैं कि हरिश्चन्द्र का गद्य द्विपार्श्विक है, अर्थात् एक ओर उसका सम्बन्ध लल्लूलाल तथा राजा लक्ष्मणसिंह से कुछ बातों में है, तथा दूसरी ओर आज-कल के खड़ी-बोली में लिखे हुए मिश्रित गद्य से है।

लल्लूलाल और राजा लक्ष्मणसिंह से उनके गद्य का सम्बन्ध यों है कि जिस प्रकार उनकी भाषा में व्रजभाषा की कोमलता है, उसी प्रकार भारतेन्दु की भाषा में भी है। भारतेन्दु के गद्य का व्रजभाषा-साम्य कुछ शब्दों के प्रयोग से प्रकट होता है। वे आश्चर्य, चतुरता, कल्याण, साथ, वीणा के स्थान में अचरज, चातुरी, कल्यान, संग, बीना लिखते हैं जैसे कि राजा लक्ष्मणसिंह करते थे। वैसे तो उनका गद्य वाक्य-विन्यास तथा मुहावरों के हिसाब से बिलकुल आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के समान है। व्रजभाषा का रंग तो उनकी भाषा में इसीलिए है कि वे एक असाधारण कवि थे और कविता का सा लय, सामंजस्य तथा मार्दव गद्य में भी ढूँढ़ना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक सा था। तभी तो 'ण' की परुष झंकार से बचने के लिए वे 'न' की अल्पप्राण ध्वनि का आश्रय लेते थे।

हिन्दी-गद्य को आधुनिक स्वरूप देने तथा उसकी रोचकता और वैचित्र्य की वृद्धि करने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्थूल-रूप में तीन प्रकार से सहायता दी।

हिन्दी-लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही पहले पहल गद्य की भाषा में हास्य और व्यंग का पुट दिया। इसके सिवाय इन दोनों गुणों के प्रभाव को बढ़ाने की नियत से उन्होंने लोकोक्तियों तथा बोल-चाल के मुहावरों का भी प्रयोग किया है। 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु की भाषा के सर्वोत्तम उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे सत्यानाश फ़ौजदारों की यह बातचीत:–"फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा······इन एक दर्जन दूतों को शत्रुओं की फ़ौज में हिला मिला कर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गये। फिर अन्त में भिन्नता गई। इसने सबको काई को तरह फाड़ा"।

सबसे बड़ा उपकार भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य के साथ यह किया कि उन्होंने अपने विभिन्न प्रकार के नाटकों तथा प्रहसनों में उसका प्रयोग करके पुष्ट तथा व्यंजक बनाने का प्रयत्न किया। उनके पूर्ववर्ती लेखकों में किसी ने भी इस ओर ध्यान न दिया था। लल्लूलाल तथा राजा शिवप्रसाद ने केवल गद्य की वर्णनात्मक शक्ति यथासम्भव सँभाली थी; राजा लक्ष्मणसिंह का सारा समय हिन्दी और उर्दू की विवेचना करने में लग गया। 'शकुन्तलानाटक' तथा 'रघुवंश' के अनुवाद करने के उपरांत भी वे अपनी निज की गद्य-शैली पर अधिकार न प्राप्त कर सके।

भारतेन्दु के गद्य में एक विशेष बात यह है कि उसमें नागरिक

चिक्कणता है यद्यपि व्यंजक-शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से वे विषयोपयुक्त प्रसिद्ध पंक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग करते थे, तथापि भूलकर भी कभी वे पण्डित प्रतापनारायण की तरह खरे ग्रामीण शब्दों को अपनी भाषा में स्थान न देते थे। एवं, उनकी शब्दावली नागरिक सजधज से ही युक्त होती थी। उनके हास्य तथा व्यंग भी सदैव शिष्ट होते थे।

हिन्दी गद्य के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यही महत्व है कि उन्होंने उसे अनिश्चितता के कर्दम से निकाला और एक निश्चित परम्परा चलाई। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह उर्दू और हिन्दी के झगड़े में ही फँसे रहे थे। हरिश्चन्द्र ने यह सदा के लिए तै कर दिया कि यदि हिन्दी-गद्य को भविष्य में स्वतंत्र रीति से साहित्यिक प्रयोग के लिए प्रौढ़ और सुडौल बनाना है केवल उसे व्रजभाषा तथा संस्कृत के प्रपंच से छुड़ाना होगा और मिश्रित भाषा की ओर प्रेरित करना होगा।

भारतेन्दु के बाद शीघ्र ही गद्य की उन्नति के दो मार्ग खुल चुके थे। अर्थात् उपन्यास-लेखकों तथा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी थी। १८६८ ई० में हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचन-सुधा' निकालना शुरू किया। शीघ्र ही 'अलमोड़ा-अखबार', 'बिहार-बन्धु', 'सदादर्श', 'सार-सुधानिधि', 'उचित वक्ता', 'भारतमित्र', 'बङ्गवासी' आदि अनेक हिन्दी-पत्र प्रकाशित होने लगे। इन पत्रों के द्वारा उत्तरी भारत के कोने कोने में हिन्दी की खासी चर्चा होने लगी और धीरे धीरे काफ़ी बड़ी संख्या में हिन्दी-लेखक देख पड़ने लगे। इससे पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के अभाव में कितने ही उत्साही हिन्दी-लेखकों के हौसले मन के मन ही में रह जाया करते थे। अब प्रकाशन के साधनों के बाहुल्य के कारण उन

सब को यथेच्छा अपने विचार प्रकट करने तथा जनता तक उनको पहुँचाने की सुविधा हुई। परन्तु उस समय की पबलिक अधिकतर अधकचरे पढ़े-लिखे लोगों की थी। उसे हिन्दी-कविता में तो रुचि थी, किन्तु गद्य-लेखों को पत्र-पत्रिकाओं में छपे रूप में पढ़ने का शौक़ न था और न विदग्ध साहित्य का अवलोकन करने की ही उसे परवाह थी। एवं उस कविता-प्रेमी वाचक-समुदाय को गद्य की ओर प्रेरित करने के लिए उन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को हलके सुबोध विषयों पर सुगम तथा चलती भाषा में लेख लिखना अनिवार्य हो गया। अस्तु, किसी न किसी तरह हिन्दी पत्रों की खपत होने लगी और उनमें लेख लिखने वालों की तथा उनके पढ़ने वालों की संख्या दिन दिन बढ़ने लगी। एक परिणाम और हुआ कि इन पत्र-पत्रिकाओं की प्रचार-वृद्धि के साथ साथ हिन्दी-गद्य-विकास पर वाचकवृन्द की रुचि का प्रभाव भी क्रमशः पड़ने लगा। भारतेन्दु के समय तक गद्य-साहित्य का निर्माण कुछ इने-गिने लेखकों तक ही सीमित था। परन्तु अब धीरे धीरे श्रोताओं अथवा वाचकों की रुचि-वैचित्र्य का पूरा विचार रखकर वे गद्य लिखने बैठते थे। यही कारण है कि तब के सभी गद्य-लेखक प्रायः समय-साधक थे। केवल पंडित बालकृष्ण भट्ट को छोड़ कर अधिकांश अन्य सभी लेखकों ने केवल जनता की मनस्तुष्टि करने का प्रयत्न किया और यह जान कर कि इस समय नैतिक उपदेश तथा मनोरंजन ही की हवा चल रही है, सभी ने शिक्षापूर्ण तथा हास्यमय लेख लिखे।

अस्तु पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी-गद्य का सम्बन्ध लौकिक रुचि से घनिष्ट रूप में सदा के लिए स्थापित हो गया और इसी से

उसमें एक प्रकार की सजीवता अथवा परिवर्तन-शीलता का संचार हुआ जिसका प्राचीन गद्य में सर्वथा अभाव था।

इसी प्रकार १९ वीं शताब्दी के अन्त में या २० वीं के शुरू में उपन्यासों की जो भरमार हुई उससे भी गद्य-शैली की समीचीनता बढ़ने लगी। तत्कालीन उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री, कार्तिकप्रसाद, गंगाप्रसाद गुप्त, गोपालराम गहमरी के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। इन लोगों ने एक खास तरह के सनसनी से भरे हुए, विचित्र-घटनाओं से युक्त उपन्यास लिखे थे उनकी भाषा प्रायः बड़ी फड़कीली और चमत्कारपूर्ण होती है। यद्यपि उनके कथानक ऐसी क्षणिक रोचकता की घटनाओं के आधार पर निर्मित हैं जिनसे उनका स्थायी साहित्यिक महत्व नहीं रहता, तथापि उनके वर्णन तथा चरित्र-चित्रण ऐसी गठीली भाषा में हैं जो स्मरणीय रहेगी। वास्तव में इस उपन्यास-पुंज ने दो बड़े उपयोगी कार्य किये। एक तो उसके द्वारा गद्य को अच्छा व्यायाम मिला। और जिस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों के काव्यमय साँचे में पड़ कर गद्य बड़ा परिष्कृत होकर निकला, वैसे ही उन उपन्यासकारों के हाथ में वह अत्यन्त लचीला तथा मँजा हुआ बन गया। उपन्यासों से हिन्दी पढ़ने वालों का समूह और भी बढ़ा। लाला देवकीनन्दन की 'चंद्रकान्ता सन्तति' ने तो न जाने कितने उर्दूदाँ तथा अंग्रेजी-पढ़े लोगों को हिन्दी सीखने को बाध्य किया। इसके अतिरिक्त उन ऐयारी उपन्यासों की रसीली, चुहचुहाती हुई वर्णन-शैली पर मुग्ध होकर लोगों की प्रवृत्ति निरी कविता की ओर से उचटी और गद्य की ओर

आकृष्ट हुई। जो लोग अभी तक यह समझते रहे थे कि व्रजभाषा की मधुर कविता के बाहर साहित्य हो ही नहीं सकता उनकी अब आँखें खुलीं और उन्हें ज्ञात हो गया कि गद्य में भी सुपाठ्य रचनायें हो सकती हैं।

इसी बीच में हिन्दी-गद्य के विकास में कई सामयिक सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष से भारत की प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर आघात पहुँचा। सनातन-धर्म, जिसके वास्तविक सिद्धान्त बाह्य आडम्बरों से दब गये थे, पश्चिम से आई हुई तर्क की हवा के झोंके से समूल डगमगाने लगा। इसी अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना की, और देश भर में चिरप्रचलित मूर्ति-पूजा आदि अन्य धार्मिक रस्मों के विरोध में अपने मत का प्रचार किया। आर्यसमाज के सिद्धान्तों का निचोड़ यही था कि धर्म के नाम से जितने पाखंड और ढकोसले केवल इसीलिए जनता ने अनुसरण रखे हैं कि वे पूर्वजों के चलाये हैं, वे सब बिना किसी हिचकिचाहट के त्याग देने चाहिए, यदि उनसे देश के हित में बाधा पहुँचती हो। कोरी अन्ध-भक्ति, अन्ध-विश्वास के प्रतिकूल आर्यसमाज ने स्तुत्य कार्य किया। १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों में वैष्णव सन्तों ने जो भक्ति की नदी बहाई थी उससे जातीय जीवन में जो निस्पृहणीय मानसिक शैथिल्य उत्पन्न हो गया था उसको हटाना ही स्वामी दयानन्द का मुख्य उद्देश्य था।

एवं, एक प्रकार से भक्ति तथा आवेशपूर्णता के विरुद्ध आर्यसमाज ने जो युद्ध छेड़ा था उसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर अच्छा पड़ा।

बात यह है कि ब्राह्म समाज और आर्यसमाज के आने के पूर्व तक सभी प्रान्तों के साहित्य में कविता का प्राचुर्य रहा था, गद्य-ग्रन्थ नाममात्र को ही थे। भक्त-कवियों की सिखाई हुई भावुकता की गरमी में बड़े से बड़े लेखक गद्य लिखने में असमर्थ थे। आर्यसमाज ने इस हार्दिक उन्माद को बड़े अपूर्व ढंग से दूर किया। स्वयं स्वामी जी ने अपना मुख ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' ऐसी सीधी, तीव्र और लकड़तोड़ भाषा में लिखा कि जिससे कविता की छाया योजनों दूर रह जाती है। स्वामी जी के जिन दो तीन पत्रों की नक़ल प्रस्तुत संग्रह में दी गई है वे भी इस बात के परिपोषक हैं। इसके सिवाय आर्यसमाज की ओर से जो भजन उत्सवों पर गाये जाते हैं, उनमें कितनी गायन-शक्ति अथवा कविता की छटा रहती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं! आर्यसामाजिक लेखों तथा कविताओं में भी आदि से अन्त तक इसी प्रकार की गद्यमयता और व्यंग की मात्रा खूब रहती है। श्री नाथूराम जी 'शंकर' के 'रंक-रोदन' की ये पंक्तियाँ देखिए:—

"लड़के लकड़ी बीन बीन कर ला देते हैं।<br>
ईंधन भर का काम अवश्य चला देते हैं॥<br>
वृद्ध चचा दो तीन बार जल भर देते हैं।<br>
माँग माँग कर छाछ महेरी कर देते हैं॥<br>
छप्पर में बिन बाँस धुने ऐरंड पड़े हैं।<br>
बरतन का क्या काम घने घटखंड पड़े हैं॥<br>
खाट कहाँ, छैः सात फटे से टाट पड़े हैं।<br>
चक्की पीसे कौन बिना मिड़ पाट पड़े हैं॥

कर कर केहरि-नाद बलाहक बरस रहे हैं।
अस्थिर विद्युद्‌दृश्य दसों दिस दरस रहे हैं॥
गँदला पानी छेद छत्त के छोड़ रहे हैं।
इन्द्रदेव जी टाँग त्राण की तोड़ रहे हैं"॥

इस प्रसंग में कह सकते हैं कि हिन्दी में व्यंग-साहित्य को उद्दीप्त करने का श्रेय आर्यसमाज को ही है। आर्यसमाज के प्रचारकों को सनातनधर्मियों तथा अन्य मतावलम्बियों से वाद-विवाद करते समय बड़ी जोरदार, मखौलपने से भरपूर तथा व्यंगयुक्त भाषा का प्रयोग करना पड़ता था। तभी वे विपक्षियों के सामने ठहर भी पाते थे। ऐसा करते करते उन्हें लिखने में भी ऐसी ही भाषा का अभ्यास हो गया। एवं उस समय के जितने आर्यसमाजी गद्य-लेखक हो गये हैं उन सब के लेखों में वैसे ही व्यंग तथा हास्य पाये जाते हैं। प्रसिद्ध लेखक पण्डित रुद्रदत्त जी शर्मा का लिखा हुआ 'स्वर्ग में सबजेक्ट्स कमेटी' नामक लेख इस बात का प्रमाण है।

इस प्रकार के तत्कालीन लेखों से जान पड़ता है कि आर्यसमाजियों की हास्य-व्यंग-प्रियता ने समस्त हिन्दी-गद्य को उन्हीं गुणों से सम्पन्न किया। अस्तु, आर्यसमाज ने हिन्दी-गद्य को हास्य, व्यंग इन दो उपादानों के संमिश्रण से रोचक बनाया और उसके उपयुक्त एक परिस्थिति तैयार की।

आर्यसमाज ने गद्य पर एक और प्रभाव डाला। हिन्दी-गद्य की भाषा पर आर्यसमाज ने उर्दू का बड़ा प्रभाव डाला। बात यह थी कि कुछ कारणों से पंजाब में ही स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों की सब से

अधिक विजय हुई। और पंजाब था उर्दू बोलने वालों तथा लिखने वालों का एक बड़ा केन्द्र। अतएव नवीन वैदिक धर्म के संदेश को सब तक पहुँचाने के लिए यह परम आवश्यक था कि उसके परिपोषक जितने ग्रन्थ, पर्चे तथा पत्र प्रकाशित हों वे हिन्दी और उर्दू दोनों ही में हों, ताकि दोनों के जानने वाले बिना किसी कष्ट के उन्हें समझ सकें। इसी आवश्यकता को दृष्टिगत करके क्या 'सत्यार्थप्रकाश', क्या वेद सभी उर्दू में छप गये और पत्र, पत्रिकायें, लेख आदि आमने-सामने हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखे जाने लगे।

इस द्विभाषिकता का फल शायद यह हुआ कि हिन्दी बहुत कुछ उर्दू से मिली। क्योंकि बहुत से उभयनिष्ठ शब्दों तथा मुहावरों का प्रवेश स्वभावतः हिन्दी और उर्दू दोनों में आपस में हुआ जिससे हिन्दी को शुद्ध रखने का प्रयत्न जो राजा लक्ष्मणसिंह आदि ने किया था वह निष्फल हुआ। उर्दू का आक्रमण एक दूसरी रीति से भी हिन्दी-गद्य पर हुआ। आर्यसमाज ने प्राचीन धार्मिक प्रथाओं की काट-छाँट करने के अतिरिक्त राष्ट्रीयता के भाव भी देश में उत्पन्न करने की भरसक कोशिश की और इसी सम्बन्ध में सर्वसाधारण में हिन्दी के प्रचार करने के उद्देश्य को भी अपने सामने रखा। इस कार्य में उसे इतनी सफलता हुई कि बहुत से फ़ारसी और उर्दू के जानने वालों ने हिन्दी सीखी और उसे अपनाया। पं० ज्वालादत्त शर्मा, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० दीन-दयालु शर्मा आदि ने हिन्दी में लिखना और बोलना तक आरम्भ किया। सम्भवतः इन लोगों ने अदृश्य रूप से अपने उर्दू के ज्ञान के बदौलत एक गङ्गा-जमुनी भाषा लिखने की पद्धति चलाई।

उन दिनों आर्यसमाज तथा सनातनधर्म के अनुयायियों में जो शास्त्रार्थ नित्य होते रहते थे तथा उन दोनों धार्मिक दलों की ओर से जो वृत्ति-स्वीकृत उपदेशकों के यूथ तैयार हो गये थे उनकी वक्तृताओं का भी हिन्दी-गद्य पर कई प्रकार का प्रभाव पड़ा था। शास्त्रार्थ करते समय प्रत्येक पक्ष वाले को अपने आशय को बड़ी विशद रीति से अपने प्रतिद्वन्द्वी के सामने रखना होता था, तथा उसे नीचा दिखाने के उद्देश्य से हँसी, मज़ाक़, व्यंग, वक्रोक्ति तथा वावदूकता इन सब का आश्रय लेना होता था। एवं, अस्पष्टता अथवा असम्बद्धता से बचने में तथा अपनी भाषा को चित्ताकर्षक बनाने में शास्त्रार्थ करने वाले लोग बड़ा रोचक तथा समीचीन गद्य बोलते थे, और लिखते थे।

इसी प्रकार धार्मिक उपदेशकों की वक्तृताओं में भी हिन्दी का एक अच्छा स्वरूप देख पड़ता था। वक्तागण पढ़े, अनपढ़े सभी भाँति के श्रोताओं का ध्यान रख कर उपदेश ऐसी भाषा में देते थे जो सुबोध होती थी और जो उपयुक्त लोकोक्तियों तथा मुहावरों के कारण बड़ी रोचक होती थी। अस्तु, इन उपदेशकों की वाक्कुशलता से गद्य पर दो प्रभाव पड़े। एक तो जिस प्रकार अभ्यस्त वक्ताओं के व्याख्यानों को सुनते सुनते लोगों की बोलचाल की भाषा अत्यधिक मिश्रित तथा व्यंजक होगई, उसी प्रकार गद्य-लेखों की शैली भी चारुतर होगई। एवं राजा लक्ष्मणसिंह की अनिश्चितता तथा लल्लूलाल की अनगढ़ता हिन्दी-गद्य से दूर होने लगी।

जिस जोश में आकर उपदेशक लोग व्याख्यान देते समय हाथ पटकते थे और अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिन अनेक इंगितों

का प्रयोग करते थे तथा जो ओजपूर्ण भाषा बोलते थे, उन सब का प्रभाव गद्य-शैली पर भी पड़ा। यही कारण है कि उस समय के बहुत से लेखकों के गद्य में वक्तृताओं का सा तीव्र प्रवाह है और ओज है। पं० अम्बिकादत्त व्यास के मूर्त्ति-पूजा नामक लेख की भाषा इसका अच्छा उदाहरण है। नीचे इसी ओजपूर्ण भाषा का एक अवतरण 'सब भाषाओं में कौन उत्तम और प्राचीन है' शीर्षक लेख से दिया जाता है:—

"कुछ लोग कहते हैं कि पहिले तो देवनागरी का ख़त अच्छा नहीं, दूसरे जल्द नहीं लिखी जा सकती, तीसरे उसकी बोलचाल में शीरीपन नहीं आता और न शायरी में फ़साहत पाई जाती है इत्यादि बहुत कुछ रागमाला फेरते हैं। सच तो यह है कि वे लोग इसके मर्मभेद को नहीं जानते। इसी से नागरी को धाकरी समझते हैं। भला चटनी का स्वाद बन्दर क्या जाने? देखो, ख़त और जल्दी का दोष देते हैं। क्या कोई दिव्यचक्षु इन अक्षरों की गुनाई, पंक्ति की सुधाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कह सकेगा? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर तो दूसरा पाताल पर छाजता है? क्या यही जल्दपना है जो लिखा आलूबुख़ारा आया उल्लूबिचारा, लिखा गया छुन्नू पढ़ने में आया झब्बू"। (भारत-सुदशाप्रवर्तक, १८८१)

इस उद्धरण की भाषा में लगभग वे सब गुण हैं जिनका उल्लेख ऊपर विस्तृत रीति से किया गया है और जो आर्यसमाज के द्वारा हिन्दी गद्य में आये।

ऐसे समय जब कि धार्मिक उथल-पुथल के कारण हिन्दी का कलेवर बदल रहा था, पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट

'ब्राह्मण' और 'हिन्दी-प्रदीप' के लेखों से गद्य-साहित्य की सुदृढ़ नींव रख रहे थे। परन्तु मिश्रजी और भट्टजी अलग अलग अपने अपने ढंग से यह काम कर रहे थे।

पंडित प्रतापनारायण अपने समय के बिल्कुल साथ थे। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, १९वीं शताब्दी का अधिकतर भाग हिन्दी का प्रचार-काल था। नई नई पत्र-पत्रिकाओं तथा उपन्यासों के उद्योग से एक सुगम साहित्य का निर्माण हो रहा था, जिसके द्वारा उर्दू या अँगरेजी के जाल में फँसे हुए न जाने कितने शिक्षित लोग हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए। सारांश यह है कि उस समय के लेखक हिन्दी-जनता की वृद्धि करने में लगे थे। प्रतापनारायण मिश्र में नैसर्गिक साहित्यिक प्रतिभा थी और उनकी लेखनी शक्तिपूर्ण थी। यदि उनके हृदय से तत्कालीन राष्ट्रीयता तथा सामाजिक हित प्रेरणा के भाव इतने प्रबल रूप में न होते तो वे निस्सन्देह उच्चकोटि के लेखक हुए होते, परन्तु सामाजिक सुधारों की पुकार करते करते और अपने समय के अल्पशिक्षित समुदाय को गम्भीर और विदग्ध साहित्य की ओर प्रोत्साहित करने के अभिप्राय से, वे उसकी अपरिपक्व रुचि को सन्तुष्ट करने के योग्य हलके लेख लिखते रहने में यावज्जीवन फँसे रहे। इस प्रकार उनकी प्रतिभा केवल सुगम साहित्य की रचना में ही आबद्ध रही, और उन्हें अपने समय के साहित्यिक धरातल से ऊँचे उठने का कम अवकाश मिला। इस बात से यह ध्वनि कदापि नहीं निकलती कि प्रतापनारायण का स्थान हिन्दी-साहित्य में किसी प्रकार से हीन है। उनकी गणना तो उत्कृष्ट श्रेणी के लेखकों में सदैव रहेगी।

राजा शिवप्रसाद ने गद्य को बहुत कुछ स्थिर स्वरूप प्रदान किया था, पर उन्होंने आवश्यकता से अधिक उसे उर्दू से भर दिया था, यहाँ तक कि उनकी लिखी हुई हिन्दी कहीं कहीं तो अपना अस्तित्व खो बैठी है। राजा साहब संस्कृत-शब्दों तथा ग्रामीण भाषा से बेतरह चौंकते थे जैसा कि ऊपर उद्धृत की हुई उन्हीं की उक्ति से ज्ञात होता है। खास कर ग्रामीण कहावतों तथा मुहावरों को निकाल कर उन्होंने हिन्दी-गद्य के विकास को बड़ा धक्का पहुँचाया। क्योंकि यह सर्वमान्य मत है कि किसी भी भाषा के गद्य में सजीवता तभी आती है जब उसमें चिरप्रचलित मुहावरों को समयानुसार बेरोक-टोक स्थान दिया जाता है, चाहे वे ग्रामीणों अथवा नागरिकों की बोलचाल से क्यों न लिये गये हों। गद्य की ही नहीं किन्तु साहित्य-मात्र की सब से बड़ी समस्या यही है कि जो कुछ कहा जाय वह पढ़ने वाले या सुनने वाले के चित्त पर तत्काल असर करे। एक ही भाव को प्रकट करने में कई शब्द समर्थ होते हैं, परन्तु कोई अधिक चमत्कारपूर्ण होता है और कोई उससे कम। अस्तु, राजा शिवप्रसाद नागरिक सभ्यता अथवा समीचीनता के अधिक वशीभूत थे, तभी देहातियों के सुन्दर से सुन्दर प्रयोग गद्य में प्रयुक्त होने के लिए उन्हें अशिष्ट जान पड़े।

प्रतापनारायण मिश्र ने जान में या अनजान में ही राजा साहब तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा की घोर नागरिकता के विरोध में ग्रामीणता का प्रचार किया। शहर के निवासी होने पर भी उन्होंने शहर वालों की कृत्रिमता का ज़रा सा भी अनुसरण न किया। लेख भी उनके 'भौं', 'दाँत', 'मरे का मारैं शाहमदार' ऐसे साधारण नित्यप्रति के विषयों

पर हैं। लिखते समय उनका यही एकमात्र ध्येय रहता था कि जो कुछ कहा जाय वह सीधे-सादे किन्तु रोचक ढंग से हो। तभी तो उनकी भाषा ठेठ देहात की कहावतों तथा अन्य प्रकार की हास्यपूर्ण बातों से भरी है। प्रायः बहुत से लेखकों के लेखों मे जो गम्भीरता तथा विद्वत्ता-प्रदर्शन के ऐब रहते हैं, वे प्रतापनारायण के गद्य में देख नहीं पड़ते। सचमुच उनके लेख क्या हैं, मानो गप-शप के समूह हैं। इसी से उनके द्वारा हिन्दी-गद्य की एक ऐसी शैली का आविष्कार हुआ है जिसका प्रवाह नैसर्गिकतापूर्ण है। प्राचीन गद्य-लेखकों के लेखों की भाषा से ज्ञात होता है कि उसका एक एक पद ढूँढ़ने में उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। १७ वीं सदी के एक लेखक किशोरदास का यह वाक्य लीजिये:— "जु एक समय कस्यपु संध्या समय विषे संध्या कै ईश्वर को सुमिरन करत बैठे हते" उससे साफ़ जान पड़ता है कि वह बहुत यत्न-पूर्वक लिखा गया है। उसमें स्वाभाविकता नहीं है।

"जहाँ तक सहृदयता से विचारिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़! धर्म बे-सिर-पैर के काम! स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहन है"......पं० प्रतापनारायण के लिखे हुए इस वाक्य में कैसी सरलता है और उसके भाव कैसे विशद हैं!

कभी कभी तो गँवारू भाषा में हास्य-व्यंग करने की सनक में तथा अपनी शैली की सुबोधता स्थिर रखने की उमंग में प्रतापनारायण अश्लील भी हो जाते थे। परन्तु, कुछ भी हो उन्होंने गद्य पर जो अपनी छाप लगाई है वह अश्लीलता अथवा असभ्यता की नहीं वरन् प्रकृतता

तथा रोचकता की है। उन्होंने किसी सुस्त तथा पुरानी लीक पीटने वाले लेखक की भाँति केवल अत्यधिक सभ्य समाज में सनातनकाल से प्रचलित भावहीन शब्दों को जोड़-बटोर कर लिखना अंगीकार नहीं किया। प्रत्युत, यह अच्छी तरह समझ कर कि नगर-निवासियों की खड़ी बोली की शब्दावली का अधिकतर भाग, जिसे राजा शिवप्रसाद आदि लेखकों ने टकसाली समझ रखा था, प्रायः वर्षों के विचारशून्य तथा कृत्रिमताप्रिय भाषियों के द्वारा व्यवहृत होते होते निर्जीव हो गया था, उन्होंने हिन्दी को फिर से सजीव बनाने के लिए ग्रामीण बोली के बहुत से भावपूर्ण मुहावरे गम्भीर से गम्भीर लेखों में प्रयोग किये। फलतः उनके इस सत्प्रयत्न से हिन्दी-गद्य सदा के लिए जीवित हो उठा।

यहाँ पर यह बात निस्सन्देह स्मरणीय है कि यद्यपि पं० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी-गद्य को नागरिकता अथवा निर्जीवता के फंदे से छुड़ाया और उसको रोचक बनाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी, तथापि उन्होंने उससे सम्बन्ध रखने वाली कई आवश्यक समस्याओं पर बिल्कुल विचार नहीं किया। हिन्दी का वास्तविक गद्य उस समय ५० या ६० वर्ष से अधिक पुराना नहीं था। लल्लूलाल से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक उसकी व्यंजना-शक्ति की काफ़ी अभिवृद्धि हो चुकी थी और यह क़रीब क़रीब तै सा हो चुका था कि उसको मिश्रित स्वरूप देना अनिवार्य रहेगा। पर व्याकरण की रीति से गद्य का संस्कार अभी तक न हो पाया था अर्थात् उसकी स्पेलिंग तथा विराम-चिन्हों के प्रयोग पर किसी ने

विचार न किया था। राजा शिवप्रसाद से 'अवतारी' लोगों ने भी वाक्य-विन्यास का विचार छोड़ कर गुंफित भाषा लिखी थी। इस विषय में प्रतापनारायण मिश्र भी गतानुगतिक ही रहे और 'रिषि', 'रिचा', 'जात्याभिमान' से व्याकरण-भ्रष्ट प्रयोग किये। उनकी इन भूलों का सुधार आगे चल कर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने किया।

पं० बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण के समकालीन तथा समकक्ष थे, किन्तु वे गद्य की धारा दूसरी ओर घुमा रहे थे। उनका मत था कि "प्रोज" (गद्य) हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक 'प्रेमसागर' सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ और है ही नहीं जिसे हम इसके साहित्य के भंडार में शामिल करें। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं"। अर्थात् जिस समय उन्होंने लिखना आरम्भ किया उस समय तक जितना गद्य लिखा जा चुका था वह उन्हें नापसन्द था। दूसरी बात यह थी कि राजा शिवप्रसाद आदि ने जिस उर्दू मिली हुई हिन्दी का प्रचार किया था वह भी भट्ट जी को भद्दी जान पड़ती थी। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने अपने मन में एक उत्कृष्ट कोटि की गद्य-शैली का प्रचार करने का संकल्प किया था। तदनुसार भट्ट जी ने १८७६ में 'हिन्दी-प्रदीप' नामक निज का पत्र निकालना शुरू किया। उसके अधिकतर लेख वास्तव में ऊँचे साहित्यिक ढंग के होते थे। यह मानना पड़ेगा कि वे अपने समय से बहुत आगे थे।

अस्तु, इस निश्चित उद्देश्य तथा विद्वत्ता के मेल से पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी-गद्य को अत्यधिक शुद्ध तथा परिमार्जित करके उसे विदग्ध साहित्य के उपयुक्त बनाने में सफल हुए।

वे कहा करते थे कि, 'हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सब से अधिक भली मालूम होती है'। परन्तु उन्होंने अपने लेखों में उसका प्रयोग कहीं भी नहीं किया और वे सदैव हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा, जिसे खड़ी बोली कहते हैं, लिखते रहे। प्रतापनारायण के हाथों गद्य में जो कुछ शैथिल्य तथा अशिष्टता आ गई थी उसका प्रतिकार भट्ट जी ने किया। जो व्यंग और हास्य मिश्र जी की भाषा में निरा ग्राम्य हो जाया करता था उसका समीचीन, साहित्यिक रूप भट्ट जी की भाषा में मिलता है।

इसके सिवाय गद्य के शब्द-भाण्डार को समृद्ध बनाने में भी भट्ट जी ने बहुत कुछ किया। बड़े संस्कृतज्ञ होने पर भी तथा शुद्ध भाषा के घोर पक्षपाती होने पर भी उन्होंने वे भूलें नहीं कीं जो ऐसे लोगों के हाथों हो जाती हैं। उन्होंने न तो परम्परागत प्रचलित शब्दों को प्रयोग करने की ही ठानी और न कोरे संस्कृतज्ञों की तरह भाषा को दुरूह बनाने में उन्होंने अपनी शक्ति नष्ट की। इसके प्रतिकूल उन्होंने बहुत से नये मुहावरे गढ़े और जहाँ कहीं उन्हें हिन्दी में किसी भाव को व्यक्त करने के लिए ठीक ठीक शब्द न मिले वहीं उन्होंने अँग्रेज़ी के शब्दों का ही व्यवहार किया। यहाँ तक कि कभी कभी तो उनके निबन्धों के शीर्षक भी अँग्रेज़ी में होते थे। इसलिए कह सकते हैं कि प्रतापनारायण मिश्र के मुक़ाबले में भट्ट जी का कार्य अधिक महत्व का था, क्योंकि प्रताप-

नारायण की गद्य-भाषा में जो लालित्य है उसका श्रेय ज़्यादातर उनकी मस्ती तथा उनके उस ग्रामीण भाषा के ज्ञान को है जो लोकोक्तियों अथवा मुहावरों के रूप में उसमें भरा पड़ा है। परन्तु पं० बालकृष्ण भट्ट के लेखों में जो रोचकता है उसका मूल कारण उनकी स्वाभाविक साहित्यिक दक्षता तथा शाब्दिक सौष्ठव है।

यदि पं० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी-गद्य का उपवन लगाया तो पंडित बालकृष्ण भट्ट ने चतुर माली की भाँति उसके विटपों की अनावश्यक सघनता की काट-छाँट की, और उसमें एक प्रकार के साहित्यिक सौरभ का संचार किया।

इसके बाद के हिन्दी-गद्य-निर्मायकों में पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का नाम सब से पहले आता है। द्विवेदी जी ने 'बेकनविचार-रत्नावली', 'सम्पत्तिशास्त्र', 'शिक्षा', किरातार्जुनीय' आदि अनेक अनूदित पुस्तकों के द्वारा भाषा पर अपना अधिकार जमाया। इसके सिवाय २० वर्ष तक सरस्वती का सम्पादन करते हुए भिन्न भिन्न प्रकार के विषयों पर लेख लिख कर कई शैलियों में लिखने का अभ्यास प्राप्त किया। अन्त में कई विशद सिद्धान्तों को दृष्टिगत करके हिन्दी-गद्य की विकास-धारा को उन्होंने एक निर्दिष्ट दिशा की ओर प्रेरित किया। द्विवेदी जी ने राजा शिवप्रसाद तथा पंडित प्रतापनारायण दोनों से इस विषय में बहुत कुछ सीखा होगा। राजा साहब से उन्हें मिश्रित भाषा लिखने की प्रेरणा मिली। द्विवेदी जी ने वास्तव में उसे परिपक्व बनाया। इस सम्बन्ध में 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' शीर्षक पुस्तिका में वे कहते हैं कि :—

"हिन्दी में एक बड़ा भारी दोष इस समय यह घुस रहा है कि

उसमें अनावश्यक संस्कृत-शब्दों की भरमार की जाती है। इससे हिन्दी और उर्दू का अन्तर बढ़ता जाता है। जिन अखबारों और पुस्तकों की भाषा सरल होती है उनका प्रचार भी जोरों से होता है। इसका अफ़सोस है। संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है जो 'ग्रह' लिखा जाय? 'क़लम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखा जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? ''......तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी जान-बूझ कर कभी भी खरे संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से बोलचाल की भाषा और लिखित भाषा के बीच में दीवार उठाकर 'हिन्दी-ए-मुअल्ला' अथवा उत्कृष्ट हिन्दी की रचना करने का प्रयत्न नहीं करते थे। वे समझते थे कि गद्य की महिमा तभी है जब उसके द्वारा साधारण से साधारण सब प्रकार के विषयों का प्रतिपादन सुचारुरूप से हो सके। यदि उसकी भाषा से यत्नतः शुद्ध संस्कृत के तथा अन्य किसी भाषा के शब्द निकाल दिये जायँ, तो ऐसे गद्य से केवल पांडित्य-उन्माद निकाला जा सकता है। और कोई भी अर्थ उससे सम्पादित नहीं हो सकता।

इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए द्विवेदी जी अपनी मिश्रित शैली को आवश्यकतानुसार ग्राम्य मुहावरों से भी सुसज्जित करते थे। इस बात में वे पं० प्रतापनारायण मिश्र से मिलते-जुलते हैं। उनके से हास्य और व्यंग भी द्विवेदी जी के गद्य में हैं। पर उन्होंने जहाँ मिश्र जी से ये गुण सीखे हैं वहाँ उन्होंने, अज्ञात रूप में ही सही, उनकी भाषा के कई अवगुणों का सुधार भी किया है। पं० प्रतापनारायण का हास्य कभी कभी अश्लील होता था तथा उनकी भाषा प्रायः असावधानतापूर्ण होती थी। द्विवेदी जी के सर्वोत्तम गद्य में उन्हीं की छाया है, किन्तु वह दो

बातों में उनसे बिल्कुल भिन्न है। एक तो द्विवेदी जी के लेख सर्वांश में शिष्टता-सम्पन्न हैं और दूसरे उनकी भाषा की रचना सुसम्बद्ध तथा अनवद्य है। बात यह है कि ये बड़े सावधान तथा मननशील गद्य-लेखक थे। अनुस्वार, चंद्रविन्दु, 'ए' और 'ये', 'श' और 'स' इन बातों पर पिछले लेखकों ने बिल्कुल ध्यान न दिया था और भाषा को बहुत सी ऐसी ही वैयाकरणिक समस्याओं की उलझन में ही छोड़ कर वे चले गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी-गद्य की भाषा अनिश्चित दशा में पड़ी रही। द्विवेदी जी ने स्पेलिंग और विरामादि की एक प्रणाली चलाई। हिंदी में इस प्रकार विरामादि के चिन्हों का प्रचार करके उन्होंने वाक्य-विभाजन अथवा पैराग्राफ़िंग की रीति निकाली। इस विचार से पं० प्रतापनारायण और पं० बालकृष्ण भट्ट के बाद उन्होंने गद्य को आधुनिक स्वरूप दिया।

द्विवेदी जी एक बात में स्मरणीय रहेंगे कि उन्होंने अपने हाथ से कई गद्य-शैलियों का आविष्कार किया है। कम से कम उनके गद्य के तीन तरह के नमूने मिलते हैं। साधारणतः वे मुहावरेदार, मिश्रित भाषा में लिखते हैं जिसका उदाहरण प्रस्तुत संग्रह में संकलित 'कवि और कविता' शीर्षक लेख है। दूसरे प्रकार के गद्य-लेखों में हास्य और व्यंग का पूरा समावेश रहता है और उनकी भाषा बड़ी चुटीली होती है। तीसरे प्रकार का गद्य अधिक गम्भीर विषयों पर होता है और उसकी शब्दावली भी काफ़ी संस्कृत और प्राञ्जल होती है।

इन विभिन्न शैलियों का उल्लेख करने से अभिप्राय यह है कि द्विवेदी जी ने हिंदी-गद्य के लचीलेपन की खूब वृद्धि की है। पं० प्रतापनारायण

और पं० बालकृष्ण भट्ट के समस्त लेख लगभग एक ही ढंग से लिखे हुए हैं; परन्तु द्विवेदी जी समयानुसार अपनी शैली को परिवर्तित भी कर देते थे। यह गद्य-लेखकों के लिए एक बड़ी बात है। संक्षेपतया कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने हिन्दी-गद्य का रुझान बोल-चाल की सजीव तथा वर्द्धमान भाषा की ओर करके उसके उत्तरोत्तर विकास का द्वार खोला, उसकी व्याकरण ठीक की, तथा उसकी विशदता बढ़ाई। उनके वाक्य कभी भीमकाय नहीं होते। एक ही बात को स्पष्ट तथा सजीव रूप में व्यक्त करने के लिए वे कई वाक्यों का निर्माण करने से भी नहीं हिचकते। विशदता को लाने के लिए वे वाग्विस्तार का आश्रय लेना बुरा नहीं समझते। इसके अतिरिक्त दो दशकों तक 'सरस्वती' से सम्बन्ध रख कर द्विवेदी जी ने अपने गद्य-विषयक सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया और उनके द्वारा भाषा की स्थिरता में पूरा योग दिया।

हिन्दी-गद्य के इतिहास में उस समय के पत्रों का नाम भी महत्वपूर्ण रहेगा। विशेषकर 'भारतमित्र' अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि वह एक तो सबसे पुराना पत्र है जो गद्य-विकास के दो स्पष्ट युगों के बीच की सन्धि बनाता है। दूसरे उसके सम्पादकीय विभाग में युक्तप्रान्तीय, पञ्जाबी, महाराष्ट्र, तथा बङ्गाली सभी तरह के लेखक रहे हैं, जिन्होंने अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव गद्य पर डाला है। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती आदि भिन्न भिन्न समयों पर उसके सम्पादक रहे। इनमें से सभी लोग गहरे साहित्य-प्रेमी थे। उनके कारण कलकत्ते में जो बँगला का दुर्भेद्य अड्डा था, वहाँ भी हिन्दी की चर्चा फैली। अमृतलाल चक्रवर्ती तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त

दोनों ने अपनी अपनी स्वीकृत भाषायें छोड़कर हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के साहित्य-सेवियों की जो मण्डली 'भारतमित्र' तथा 'बङ्गवासी' दोनों के आसपास बन गई उनके कारण हिन्दी पर उर्दू, मराठी तथा बँगला सभी की छाया पड़ने लगी। अस्तु, इस समय के अधिकांश हिन्दी-लेखक बहु-भाषा-ज्ञाता होते थे। कम से कम बँगला और मराठी तो अवश्य ही जानते थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गोविन्दनारायण मिश्र सभी कई भाषायें जानते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और भी कई भाषाओं के ज्ञाता थे।

इस बात का ठीक ठीक पता लगाना तो कठिन है कि बँगला और मराठी के कौन कौन प्रभाव हिन्दी पर पड़े। परन्तु यह तो अवश्य अनुमानतः कहा जा सकता है कि मराठी, जिसमें उस समय तक विष्णु-शास्त्री चिपलूणकर से समालोचक तथा हरनारायण आपटे से निबन्ध-लेखक, तथा बँगला, जिसमें बंकिमचन्द्र ने उपन्यास तथा प्रहसन के लेखक हो चुके थे, उनसे हिन्दी-लेखकों ने क्या क्या कहाँ तक न सीखा होगा। हिन्दी-गद्य जिस ऊर्जित अवस्था को अचानक पहुँचा उसका बहुत कुछ श्रेय उन उन्नत भाषाओं के साहित्यों को अवश्य होगा। बँगला ने कम से कम हिन्दी वालों को संस्कृतमयी भाषा लिखना सिखाया। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र और पं० गोविन्दनारायण मिश्र के गद्य की संस्कृतता इसी बात का प्रमाण है। स्वयं अमृतलालजी चक्रवर्ती उसी प्रकार की हिन्दी लिखते थे। इसके सिवाय 'भारतमित्र' में जिस ढंग के व्यंग-पूर्ण लेख बहुधा निकलते थे उन पर भी बँगला का असर पड़ा होगा।

अस्तु, यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि 'भारतमित्र' ने अपने चटकीले

भाषा में लिखे हुए लेखों के द्वारा वही काम किया जो 'ब्राह्मण' ने किया था, अर्थात् बहुत से अन्य-भाषा-भाषियों तक की रुचि हिन्दी की ओर खींची। इस प्रसङ्ग में यह भी कह देना उचित होगा कि यद्यपि 'भारत-मित्र' आदि अन्य बहुत से पत्रों से हिन्दी का प्रचार तो हुआ, किन्तु उनसे शैली के परिमार्जन में विशेष सहायता न मिली हो। कारण यह है कि 'भारतमित्र' आदि पत्र दैनिक अथवा साप्ताहिक थे। अतएव उनके सम्पादकों को दैनिक घटनाओं पर या और क्षणिक विषयों पर बहुत थोड़े समय में लेख लिखकर वाचकों के मनोविनोद की सामग्री इकट्ठा करनी पड़ती थी। परन्तु किसी लेख-शैली अथवा स्टाइल (style) को इतनी फुर्ती में सुचारु बना लेना असम्भव है। उनकी सुघरता अवकाश मिलने पर तथा काट-छाँट करने पर ही अवलम्बित होती है। बिना मासिक पत्रिकाओं के किसी भाषा की लेखन-शैली परिमार्जित नहीं हो सकती। अस्तु, 'भारतमित्र' आदि के द्वारा हिन्दी-गद्य का प्रचार-मात्र ही हुआ। गद्य-भाषा की समीचीनता 'सरस्वती' के द्वारा अलबत्ता ख़ूब बढ़ी। इसी हिसाब से २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से कई वर्षों तक जो कुछ उन्नति गद्य-शैली की हुई है उसका श्रेय सर्वांश में 'सरस्वती' को है।

१६ वीं शताब्दी में ही राजा शिवप्रसाद तथा पं० प्रतापनारायण की प्रचलित की हुई मिश्रित भाषा के विरोधी संस्कृतता-पूर्ण लेखन-प्रणाली के कई अनुयायी देख पड़े। पंडित भीमसेन शर्मा, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र, पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय इस प्रकार के मुख्य लेखकों में से हैं। डाक्टर ग्रियर्सन का तो कहना है कि हिन्दी को कठिन बनाने में काशी वाले पंडितों का ख़ास हिस्सा है। कुछ हद तक यह ठीक भी है, क्योंकि

आर्यसमाज तथा अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रयत्न से जब हिन्दी को देशव्यापी भाषा बनाने की कोशिश की गई, तब कुछ स्थविर संस्कृतज्ञों ने भी उसको अपनाना स्वीकार किया। परन्तु लिखते समय उन्होंने संस्कृत-शब्दावली का तथा संस्कृत-व्याकरण के नियमों का अनुसरण करना न छोड़ा। पं० भीमसेन शर्मा तथा कई लेखकों ने हिन्दी में प्रचलित उर्दू-शब्दों तक को संस्कृत के ढाँचे में ढालना शुरू किया। हिन्दी में संस्कृतमयता की धूम पिछले १० वर्षों से यहाँ तक मच गई थी कि, पंडित मदनमोहन जी मालवीय ऐसे वक्ताओं के व्याख्यानों की जो सब से बड़ी प्रशंसा की जाती थी वह यह थी कि 'उनकी भाषा में एक भी उर्दू का शब्द नहीं आने पाता था'। उस समय जनसाधारण की प्रवृत्ति उसी प्रकार की शुद्ध भाषा के पक्ष में थी।

आजकल भी उस शुद्ध भाषा के परिपोषकों का आधिक्य है। बात यह है कि अँगरेजी शिक्षा पाये हुए नई रोशनी के लोग ग्राम्य जीवन की सभी बातों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे हैं, और नागरिकता की ओर बहे जा रहे हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास हो रहा है कि देहात की वेश-भूषा, बोली, वाणी सभी गर्ह्य हैं। तभी वे बोलने तथा लिखने दोनों में दुराग्रहवशात् सजीव से सजीव ग्रामीण मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग करने में लज्जित होते हैं और ऐसे मौक़े पर जबकि उन्हें उपयुक्त शब्द शहर की बोली में नहीं मिलते तब वे संस्कृत का सहारा लेते हैं। पं० प्रतापनारायण के ठेठ भाषा में लिखे हुए लेखों से इस प्रकार के नागरिक पुरुषों को आनन्द प्राप्त नहीं होता, केवल उनके गँवारी प्रयोगों पर हँसने का अवसर उन्हें अवश्य मिल जाता है।

हिन्दी जानने वालों की इस नागरिक प्रवृत्ति से भाषा की दुरूहता की वृद्धि हो सकती है और उनके शब्द-कोष को तो हानि पहुँचती ही है।

## उपसंहार

हिन्दी-गद्य की जिस मिश्रित भाषा की नींव राजा शिवप्रसाद ने डाली थी और जिसकी परिपक्वता पं० प्रतापनारायण, बाबू बालमुकुन्द गुप्त तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेखों में हुई उसकी विकास-शृंखला कुछ समय तक टूटी रही, क्योंकि उसके ऊपर संस्कृत का आक्रमण हुआ। परन्तु पं० ज्वालादत्त शर्मा तथा श्री प्रेमचन्द आदि कई उर्दू-ज्ञाता लेखकों की आख्यायिकाओं, कहानियों तथा उपन्यासों के द्वारा फिर से उसी मिश्रित गद्य-शैली का व्यापक प्रचार हुआ। विशेष कर प्रेमचन्द के उपन्यासों की लोकप्रियता तथा उनके गल्पों की सफलता ने हिन्दी-जनता को भी उसी प्रकार की मुहावरेदार हिन्दी-उर्दू-संयुक्त भाषा का पक्ष लेने को बाधित किया।

ठीक इसी समय श्रीरवीन्द्रनाथ टागोर की ख्याति बढ़ी। हिन्दी-साहित्य पर उनकी कविता का बड़ा प्रभाव पड़ा। हिन्दी की कविता में प्रतिदिन रहस्यवाद की अभिवृद्धि होने लगी और हिन्दी-गद्य पर उनकी पद्यमय भाषा की छाप लगी। टागोर जिस प्रकार का पद्यमय गद्य लिखते थे बिल्कुल उसी के तद्रूप हिन्दी में एक गद्य-शैली का प्रचार हुआ। इस पद्य-मय गद्य के उदाहरण वियोगी हरि की 'तरंगिणी' नामक लेख-संग्रह में तथा श्रीचतुरसेन वैद्यशास्त्री के फुटकर छोटे-छोटे लेखों में मिलते हैं। इस साहित्यिक वर्णसंकरता का नियमन करना कविता और गद्य दोनों ही के वास्तविक स्वरूपों की रक्षा के हित में परम

आवश्यक है। गद्य का मुख्य कार्य मनुष्य को सांसारिक निर्वाह करने में सुविधा देना है और उसको भी कविता के स्वर्गीय वस्त्र पहना कर "अनन्त की ओर" ले जाने की कुचेष्टा करना अवांछनीय है।

सन् १९१९ में असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ होते ही एक नये प्रकार की गद्यशैली का प्रचार हुआ। राजनैतिक असंतोष तथा राष्ट्रीय जागृति के जोश में देश के कोने कोने में असंख्य नेताओं के अवतार हुए। जनता पर अपना प्रभाव जमाने के लिए तथा देश-भक्त कहलाने की उमंग में छोटे-मोटे नेतागण जब कभी व्याख्यान झाड़ते थे, तब भाव-दारिद्र्य को ढकने की नियत से वे सदैव कुछ बहुप्रयुक्त परन्तु जोशीले शब्दों का प्रयोग करते थे, जैसे 'हृत्तन्त्री', 'राष्ट्रीय संग्राम', 'राष्ट्र की बेदी पर बलिदान'। अतएव, उन लोगों की भाषा में भड़कीलेपन की गरमी तो होती ही थी परन्तु उनके शब्द-चयन में कोई नवीनता न होती थी। उनकी लेखों की भाषा भी उसी प्रकार साहित्यिक गुणों से रहित होती थी और केवल जोशीले शब्दों की भरमार उनमें होती थी। नेताओं की शैली का असर बड़े बड़े लेखकों पर भी पड़ा है। बहुत से अभ्यस्त लेखकों के राजनैतिक लेख ही नहीं किन्तु साधारण लेख भी वस्तुतः उसी ढर्रे के होने लगे। उस प्रकार भाषा का नमूना देखिए:—

"परतन्त्रता की शृंखला में आबद्ध जाति अपनी परतंत्रताजन्य वेदना का अनुभव तो करती ही रहती है पर उस वेदना को कार्य-कारिणी वृत्ति में परिणत कर देने का कार्य शासक-मण्डल ही करता है।......अदूर-दर्शिता, शुष्क व्यवहार, और प्रतिक्रियात्मक नीति शासकों के लिए काल-सदृश हैं। यही कारण है कि इतिहास के पन्ने खून से रँगे गये!"

( 'प्रभा' )

तथा—"अभी असहयोग की आग बुझी नहीं। अग्निकुण्ड सुलग रहा है। हम यदि एक वर्ष तक सुसंगठन और तपस्या की समिधायें इस यज्ञ-कुण्ड में छोड़ते रहे तो ऐसी ज्वाला उठेगी कि कई अविश्वासियों के मुखमंडल आश्चर्य और आशा से अलंकृत हो उठेंगे"।

एवं, राजनैतिक आन्दोलन से हिन्दी-गद्य-शैली में एक प्रकार का शैथिल्य-सा आ गया। पर उससे कुछ कुछ उसके शब्द-कोश की वृद्धि भी हुई। 'असहयोग', 'सत्याग्रह', 'निष्क्रिय-प्रतिरोध', 'नौकरशाही', 'अनशन-व्रत', 'धरना', 'हड़ताल' आदि बहुत से नये शब्दों का भाषा में समावेश हुआ। अथवा वे फिर से जीवित हो उठे।

हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रचार तथा विकास-क्रम पर इसी बीच में कई प्रकार के अन्य प्रभाव भी पड़े जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। इन प्रभावों का सम्बन्ध उस हिन्दू-मुसलिम-समस्या से तथा माँटेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार-योजना के अधीन प्राप्त किये हुए उन राजनैतिक अधिकारों से है जो ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी के नेतृत्व में सन् १९१९, '२० से बनी हुई राष्ट्रीय भावना को भंग करने के हेतु चारे के रूप में डाल दिये थे। उस योजना के अन्तर्गत पृथक्-निर्वाचन का एक ऐसा माया-जाल बिछा दिया गया था और पद-लोलुपता की दुर्भावना को प्रदीप्त करके हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने का तथा पंजाब-हत्याकाण्ड के समय से केन्द्रित हुई राष्ट्रीय शक्ति को विकीर्ण एवं विध्वंस करने का प्रयत्न सरकार की ओर से किया गया था। इसका फल तत्काल ही देश के विभिन्न भागों में हिन्दू-मुसलिम दंगों के रूप में बरसों तक समय समय पर प्रकट होता रहा।

इन दङ्गों से हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य दिन-दिन बढ़ता रहा। ऐसा जान पड़ने लगा कि मानों यह सांप्रदायिकता लगातार भीषण रूप धारण करती रहेगी और स्वाधीनता स्वप्नमात्र रह जायगी। आगे चल कर दूसरी गोलमेज़-सभा के समय से सरकार ने जिन्ना साहब को अपनाकर मुसलिम लीग की जड़ें मज़बूत करके उसे सींच सींच कर पल्लवित होने में छिपे छिपे पूरा योग दिया। वही ब्रिटिश-सरकार की दुर्नीति अन्त में पाकिस्तान के रूप में साकार प्रकट हुई। लगभग सन् २४ की हिंदू-मुसलिम-समस्या का जो भीषण स्वरूप होता ही चला गया उसके साथ साथ हिंदी-उर्दू का प्रश्न भी एक नये रूप में प्रकट होने लगा। सांप्रदायिकता की भभक इस हद तक बढ़ी कि मुसलमान नेता चिल्ला चिल्ला कर और ढोल पीट कर कहने लगे कि धर्म, संस्कृति, भाषा, वेष तथा आचार-विचार सभी के हिसाब से मुसलमान हिंदुओं से पृथक् हैं और उनका संगम नहीं हो सकता। यही नहीं वे हिंदुओं से लड़ने-झगड़ने के हीले-हवाले ढूँढ़ने लगे। फल यह हुआ कि हिंदुओं ने भी गांधी जी की सिखाई हुई राष्ट्रीयता की आड़ में 'हिंदू-संगठन' का कार्य मुसलमानों से मोर्चा लेने के उद्देश्य से प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि यह साम्प्रदायिक द्वेष साहित्यिक क्षेत्र में भी सन्निविष्ट होने लगा। हिंदुत्व की भावना से प्रेरित होकर हिंदी बोलने वालों तथा लिखने वालों ने हिन्दी को अधिकाधिक संस्कृत की ओर खींचना शुरू किया। उर्दू के प्रति अरुचि तथा विरोध भी प्रदर्शित किया जाने लगा। सांप्रदायिकता का विष समाज में इतना व्याप्त होने लगा कि सुशिक्षित हिन्दुओं तथा मुसलिमों के दिमाग़ कई ऐसे

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को भूल सा गये कि जिन्हें वे अभी तक मान्य समझते आये थे। भारत का इतिहास पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहाँ सहस्रों वर्षों से बाहर से न जाने कहाँ कहाँ से कितनी जातियाँ समय समय पर आईं और उनकी भिन्न भिन्न संस्कृतियों तथा विचार-धाराओं की तहें हमारी आर्य-सभ्यता पर जमीं। बहुत कुछ उथल-पुथल हुए और आघात-प्रतिघात मचे। पर कालान्तर में भारतीय संस्कृति ने उन सब बाह्य आवेगों को दृढ़तापूर्वक सहन किया और अन्त में उनके साथ वह कर आई हुई मानसिक प्रवृत्तियों, संस्कारों धार्मिक परम्पराओं तथा भाषा-सम्बन्धी सभी विचित्र गुणों को आत्मसात कर लिया।

मुगलकालीन भारत में खान-पान, वेष-भूषा, साहित्य-कला तथा भाषा में जिस प्रकार हिन्दू और मुसलिम सभ्यता का गंगा-जमुनी संगम हुआ वह इस बात का द्योतक है कि पहले चाहे जितना संघर्ष क्यों न हो, आगे चल कर दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का समन्वय कभी न कभी इस देश में अवश्य होता है। हिन्दी और उर्दू इन दोनों का उद्गम स्थान भी एक ही स्रोत से हुआ था। यह एक ऐसी बात है जिसे भाषा-शास्त्रियों के अलावा अन्य लोग भी अभी तक स्वीकार करते आये हैं। हिन्दी के विद्वान् तो अभी कुछ समय पहले तक उर्दू को चाव से पढ़ते आये हैं और अपनी उर्दू-भाषा की जानकारी तथा अभ्यास के द्वारा हिन्दी को भाषा-शैली किंवा साहित्य की दृष्टि से निरन्तर सम्पन्न भी करते रहे हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, पद्मसिंहजी शर्मा, मुन्शी प्रेमचन्द ऐसे साहित्य-महारथियों तक का यह अटल

विश्वास था कि हिन्दी और उर्दू इन दोनों भाषाओं के पारस्परिक संपर्क से दोनों का हित ही हो सकता है। उनकी चलाई हुई मिश्रित, मुहावरेदार भाषा की परंपरा से निस्सन्देह हिंदी-भाषा काफ़ी साफ़-सुथरी, व्यञ्जक, सुसज्जित, प्रौढ़ तथा प्राञ्जल बन गई।

पर, जैसा कि अभी हम कह आये हैं मुसलिम लीगियों के कुचक्र से सन् १९३० के आसपास जब से देश पर साम्प्रदायिक द्वेष का भूत सवार हुआ तब से हिन्दी और उर्दू का मल्लयुद्ध भी चल पड़ा*। एक ओर उर्दू वाले मुसलमान लेखक जो हिन्दी सीखने की कभी कोशिश न करते थे, अपनी भाषा को जान-बूझ कर क्लिष्ट कर रहे थे और दूसरी ओर काशी के हिन्दी वाले हिन्दी का कुलाबा संस्कृत से मिलाने में तत्पर हो गये।

कुछ समय तक व्यापक रूप में संस्कृत-गर्भित हिन्दी लिखने की परिपाटी नहीं चली। किन्तु जैसे जैसे पाकिस्तान का आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया और मुसलमान-नेता हिंसात्मक और अभद्र रूप में देश के साम्प्रदायिक बटवारे पर तुलने लगे, त्यों त्यों हिन्दी-संसार में तथा हिन्दू-समाज में भी तद्रूप प्रतिक्रिया द्रुतगति से होने लगी। अगस्त सन् १९४७ में देश का विभाजन होने पर पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बंगाल के हत्याकांडों के साथ साथ हिन्दू-जनता के दिलों में अकस्मात्

---

* "उर्दू का पाकिस्तानी योजना से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, इस पर लोगों का ध्यान बहुत कम गया है। 'उर्दू' की सृष्टि ही इसी मनोवृत्ति से हुई है"। डा० रामबिलास शर्मा ('हिन्दी'—दिसम्बर १९४०)

मुसलिम सभ्यता, संस्कृति तथा भाषा आदि सभी मुसलिम प्रतीकों की ओर से एक प्रबल ग्लानि उत्पन्न हुई।

इधर, पिछले दस-पंद्रह वर्षों से हिन्दू-मुसलिम मन-मोटाव को अधिकाधिक बढ़ते देख कर महात्मा गांधी बड़े चिन्तित थे। स्वराज-प्राप्ति के मार्ग में इस एक बहुत बड़े संकट को हटाने के लिए वे हिंदुओं और मुसलमानों को बहुत समझाते-बुझाते थे, फुसलाते थे और उनको सब धर्मों की मौलिक समानता का उपदेश देते थे। साथ ही साथ उन्होंने सम्भवतः हिन्दू-मुसलिम एकता के ध्येय से ही हिन्दुस्तानी नामक एक कृत्रिम भाषा के प्रचार करने का काम सुसंगठित रूप में आरम्भ कर दिया था। मई सन् ४२ में उन्होंने 'हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा' बनाई और 'हिन्दुस्तानी-तालीमी-संघ' स्थापित किया। उसकी ओर से एक पत्र भी निकलने लगा।

फ़र्वरी सन् ४५ में जेल से छूटने के बाद उन्होंने एक अखिल-भारतीय सम्मेलन किया जिसमें देश के विभिन्न भागों से लगभग १०० विद्वान् आमंत्रित किये गये। इस सम्मेलन में महात्माजी ने राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में 'हिन्दुस्तानी' की उपयुक्तता पर अपने विचार प्रकट किये। डाक्टर सप्रू, पं० सुन्दरलाल, डा० ताराचन्द तथा अनेक प्रमुख विद्वानों ने हिन्दुस्तानी का समर्थन किया।

प्रयाग में 'हिन्दुस्तानी कल्चर सोसायटी' बनी। उसके तत्वाधान में 'नया हिंद' नामक एक मासिक-पत्रिका निकलने लगी।

गांधी जी ने स्वयं 'हरिजन' में हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में समय समय पर खूब चर्चा की। यही नहीं उन्होंने एक हिन्दुस्तानी कोश भी

तय्यार करना आरम्भ किया जिसका थोड़ा थोड़ा भाग प्रति सप्ताह 'हरिजन' में निकलता था। इस विवादास्पद किन्तु महत्वपूर्ण 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् अन्तर्प्रान्तीय बोलचाल की मिली-जुली भाषा के प्रश्न पर काका कालेलकर का 'हिन्दुस्तानी' शीर्षक एक लेख ६ अगस्त सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ था। उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है। उससे आधा तीतर आधा बटेर के रूप में महात्मा जी की प्रेरणा से आविष्कृत भाषा के मौलिक उद्देश्यों का अच्छी तरह पता लग सकेगा। काका साहब लिखते हैं:—

"......राष्ट्रभाषा तो ऐसी हो कि जिसमें देशी शब्द ज़्यादा हों, और प्रान्तीय भाषाओं के लिए वह बहुत-कुछ नज़दीक हों। जिन लफ़्ज़ों को अधिक-से-अधिक लोग जानते हैं, वे कहीं से भी आये हों, राष्ट्रभाषा के ही समझे जाने चाहिए"।

और भी देखिए:—

"......राष्ट्रभाषा का सवाल केवल वैज्ञानिक (अथवा साहित्यिक) नहीं है। वह मुख्यतः सामाजिक है। उसमें राजनैतिक और ऐतिहासिक बातें भी आ सकती हैं। लेकिन मुख्यतया राष्ट्रभाषा का सवाल सामाजिक और राष्ट्र-संगठन का है। एक राष्ट्रीयता को दृढ़ करने की दृष्टि से ही राष्ट्रभाषा का महत्व है"।

इस उद्धरण से हमारी उस धारणा की परिपुष्टि होती है कि बापू ने नागरी तथा उर्दू दोनों लिपियों के सीखने का जो प्रत्येक भारतवासी से अनुरोध किया था और जिस प्रकार की हिन्दुस्तानी का प्रचार करने का प्रयत्न किया था उसका उद्देश्य केवल हिन्दू-मुसलिम-समस्या को स्थायी

रूप से नहीं तो कुछ समय के लिए हल करने का था। किन्तु हिन्दुओं और मुसलमानों के दिलों में साम्प्रदायिक द्वेष और ग्लानि की मात्रा इतनी अधिक व्याप्त हो चुकी थी और वे एक दूसरे से इतने दूर हो गये थे कि उन्हें एक सूत्र में किसी भी युक्ति से बाँधना सर्वथा असम्भव हो गया था। एवं, बापू का 'हिन्दुस्तानी' की खिचड़ी भाषा का प्रचार, सद्भावना तथा राष्ट्र- प्रेम से प्रेरित होने पर भी, ठीक वैसा ही निरर्थक एवं निष्फल सिद्ध हुआ जैसा कि बालू से तेल निकालना।

फ़र्वरी १० सन् १९४६ के अँगरेज़ी 'हरिजन' में स्वयं महात्मा जी ने अपने 'हिन्दुस्तानी-प्रचार' के मार्ग में बाधाओं का अनुभव करते हुए स्वीकार कर लिया था कि:—

......'No language can spread through mere propaganda... Only that language which the people of a country will themselves adopt can become national'.

अस्तु, मूलतः साम्प्रदायिक वैमनस्य को मिटा कर हिन्दू और मुसलमानों में एकता के भाव जागृत करने की नियत से हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तानी के द्वारा सारे देश में पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए फैला कर जो प्रयत्न किया गया उसके असफल होते ही हिन्दी-भाषा-भाषियों में एक विचित्र प्रतिक्रिया आरम्भ हुई।

देश के स्वतन्त्र होते ही जो बर्बरता का अकाण्ड-ताण्डव विभिन्न प्रान्तों में हुआ उससे हिन्दुओं ने महात्मा जी का अहिंसा का पाठ ही भूलना नहीं शुरू किया किन्तु उनकी हिन्दुस्तानी-विषयक युक्तिसंगत तथा अयुक्तिसंगत सभी बातों का एक दम तिरस्कार कर दिया। यही

नहीं बड़े से बड़े समझदार हिन्दी के विद्वानों तथा लेखकों तक ने लिखते और बोलते समय उर्दू-शब्दों को इस प्रकार जान-बूझ कर बिन-बिन कर निकालना प्रारम्भ कर दिया जैसे कि घर की सफ़ाई करते समय कूड़ा-कर्कट फेंक दिया जाता है।

फलतः इस समय शुद्ध संस्कृत-गर्भित हिन्दी का प्रयोग बढ़ रहा है। कुछ प्रांतीय सरकारों ने भी अँगरेज़ी को शिक्षा तथा कार-बार से हटाते हुए एक ऐसी विकट विशुद्ध हिन्दी को काम में लाना शुरू कर दिया है जिसे समझने में ज़ोर पड़ता है। ऐसी दुरूह तथा क्लिष्ट शैली कहाँ तक साधारण पत्र-व्यवहार तथा सरकारी लिखा-पढ़ी में चल सकेगी यह एक विचारणीय विषय है। इसके सिवाय इतनी जटिल तथा अबोध-गम्य भाषा जनसाधारण की नित्य-प्रति की बोली से तथा वाग्धारा से कितनी दूर है इसका भी अनुमान हो सकता है।

इस प्रसंग में अँगरेज़ी सत्ता के देश से उठ जाने से हिन्दी के वर्त्तमान कलेवर पर क्या क्या और कैसे कैसे परिवर्तन होंगे इस बात पर भी कुछ सोचना है।

१६ वीं शताब्दी के प्रथम चरण से लेकर पिछले तीस वर्षों तक अँग्रेज़ी भाषा तथा अँग्रेज़ी साहित्य के हमारी विचार-धाराओं और भाषा-विकास पर बहुत गहरे प्रभाव पड़े हैं। हमारे निष्प्राण तथा निष्क्रिय जीवन तथा साहित्यिक उद्भावना को पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से एक नई स्फूर्ति अवश्य मिली है। किन्तु साथ ही साथ हमारे लेखकों तथा वक्ताओं ने अपने विचार एवं अपनी शब्दावली तक अंग्रेज़ी लेखकों से अविकल रूप में लेनी शुरू करदी थी। अंग्रेज़ी लेखकों की कही हुई

बातें हमें अधिक प्रामाणिक तथा पक्की जान पड़ने लगी थीं, क्योंकि अंग्रेज़ी में शिक्षा-दीक्षा मिलने के कारण हमारे संस्कार विदेशी रंग में ओत-प्रोत से होगये थे।

अब हम स्वाधीन हैं और अंग्रेज़ों की चलाई हुई शिक्षा-पद्धति तथा शासन-व्यवस्था सभी का उन्मूलन करने में लगे हुए हैं। अपनी भाषा को परिमार्जित करके उसका एक नया रूप बनाने की एक प्रबल उत्कण्ठा हमारे साहित्य-सेवियों और शिक्षा-शास्त्रियों के हृदयों में उत्पन्न हो रही है।

शीघ्र से शीघ्र हिन्दी-भाषा को उच्च से उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का यत्न हो रहा है। इस उद्देश्य से विभिन्न विषयों में उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें, गवेषणात्मक ग्रंथ तथा कोष प्रस्तुत करने के हेतु परिभाषिक शब्द बनाये जा रहे हैं, जिससे अंग्रेज़ी का सहारा लिये बिना ही यथासम्भव शिक्षा-क्रम सुचारुरूप से चल सके।

अभी इन सब बातों के परिणाम हमारे सामने आने में देर है। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी बहुत समय के बाद अपने वास्तविक प्रौढ़ तथा तेजस्वी रूप में अब प्रकट होगी।

# हिन्दी और हिन्दुस्तानी की समस्या

## (क) ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

हिन्दी-गद्य के विकास का अध्ययन करते समय इस बात का पता चलता है कि सन् १८०० से आज तक एक न एक रूप में इस बात पर लेखकों में वाद-विवाद लगातार चलता रहा है कि साहित्यिक रचनाओं

में किस प्रकार की भाषा का व्यवहार होना चाहिए। ग़दर के पूर्ववर्ती लेखक व्रजभाषा तथा खड़ी-बोली इन दो नामों से तत्कालीन प्रचलित दो परस्पर विभिन्न भाषाओं की उपयोगिता के तारतम्य पर सोच-विचार करने में लगे थे। क्योंकि उस समय तक 'उर्दू' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में आरम्भ न हुआ था जिसमें आजकल होता है और जिसे सुनते ही साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध आने लगती है। रही, एक तीसरी प्रकार की भाषा जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं और जिसका प्रसार करने में महात्मा गान्धी से लेकर कर्मवीर सुन्दरलाल तक इधर कई वर्षों से कटिबद्ध रहे हैं। यह शब्द बहुत पहले से १७ वीं शताब्दी में पुर्तगाली लोगों ने तथा उनकी देखादेखी अन्य विदेशियों ने गढ़ा था। यह नाम उस समय की मिली-जुली पारस्परिक बोल-चाल की उत्तर-भारत के युक्तप्रान्त और दिल्ली, मेरठ तथा आगरे के आस-पास के रहने वाले मुसलमान अथवा उनकी संस्कृति से प्रभावित हिन्दू लोगों की भाषा का था। पहले इसी 'हिन्दुस्तानी' को 'भाषा' भी कहा करते थे। इस 'हिन्दुस्तानी' से तात्पर्य उस प्रकार की भाषा से था कि जिसमें विदेशी भाषाओं का अच्छा खासा *सम्मिश्रण रहा करता था।

'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यापक प्रचार सन् १८०३ से हुआ। इसी साल ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस देश में भेजे हुए उसके अफ़सरों तथा कर्मचारियों को यहाँ की प्रचलित भाषाओं का इतना ज्ञान कराने का

---

* देखिए, पं० पद्मसिंह शर्मा की 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' १९३२

प्रबन्ध किया जाय कि जिसके द्वारा वे राज-काज में देश के पढ़े-लिखे लोगों से मिल-जुल सकें और उनसे विचार-विनिमय कर सकें।

इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने ऐसी पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराईं जो न तो अरबी-फ़ारसी से लदी हुई भाषा में ही हों और न सोलह-आने संस्कृत के तत्सम शब्दों से ही सराबोर हों। एवं, तत्कालीन 'खड़ी बोली' अथवा 'हिन्दुस्तानी' तथा 'व्रजभाषा', जो उस समय की लोक-साहित्य की प्रचलित भाषा थी, इन दोनों प्रकार की बोलियों के मेल-जोल की भाषा में लिखी हुई पुस्तकें प्रकाशित करवाई गईं। वास्तव में, ऐसी भाषा में लिखे हुए सुगम साहित्य के द्वारा ही जन-साधारण तथा सरकारी अधिकारियों के बीच में सम्पर्क स्थापित हो सकता था क्योंकि अधिकांश भारतीय जनता की परम्परागत सांस्कृतिक भावनायें तथा देशानुराग ऐसी ही भाषा से अनुषिक्त थे।

ठीक इसी समय अर्थात् सन् १८०६ के आस-पास ईसाई मिशनरियों ने अपना प्रचार-कार्य इस देश में संगठित रूप से आरम्भ किया। तदर्थ, इंजील का अनुवाद 'नये धर्म नियम' के नाम से प्रकाशित किया गया। धार्मिक प्रवृत्ति वाली हिन्दू-जनता लल्लूलाल के भागवत के आधार पर लिखी हुई 'प्रेमसागर' पर तथा मुन्शी सदासुख के 'सुख-सागर' पर पहले से ही रीझ चुकी थी, क्योंकि उन दोनों ने लोक-प्रिय धार्मिक साहित्य सर्व-प्रिय तथा प्रचलित भाषा में उनके सामने रख दिया था। उस प्रकार की रचनाओं के सामने एक विदेशी ईसाई-मत के धार्मिक ग्रंथ हिन्दी में रूपान्तरित किये जाने पर भी उस भारतीय जनता को आकृष्ट नहीं कर सके। ईसाई लेखकों ने फिर भी उनकी रुचि

अपनी ओर खींचने के उद्देश्य से अपनी भाषा में ठेठ बोल-चाल के *शब्दों का पुट भी चढ़ाया। इसका एक अच्छा उदाहरण लीजिए:—

"बियारी से उठ कर (यीसू ने) अपने कपड़े उतार दिये और अँगोछा लेकर अपनी कमर बाँधी"।

पर पादरियों की भाषा भारतेन्दुकालीन गद्य की भाषा के तथा साधारण जनता की बोली के निकटतर होने पर भी साहित्यिक प्रयोग के अनुकूल सिद्ध न हो पाई। भाषा का स्वरूप भी उसके द्वारा निश्चित न हो पाया।

इसी बीच में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सन् १८३५ में कचहरी तथा सरकारी लिखा-पढ़ी के काम में 'उर्दू' का व्यवहार होने लगा, क्योंकि ग़दर का दमन करने के बाद बृटिश सरकार ने अपनी सत्ता स्थायी रूप से जमानी शुरू की और राज्य-संचालन-सम्बन्धी सभी व्यवस्था पक्की तौर से निर्धारित की। भाषा का सवाल इसी से उन्हें तै करना पड़ा। यह हिन्दी का एक संकट-काल था। कचहरी के मुसलमान, कायस्थ अहलकार तथा पढ़े-लिखे सरकारी नौकरी के लोलुप हिन्दू उर्दू-फ़ारसी की हिमायत करने में तत्पर हो गये। यों भी शिक्षित-वर्ग की आपस की शिष्ट बोल-चाल में उर्दू-प्रधान 'खड़ी बोली' का प्रचार था। सरकारी प्रश्रय भी इस 'खड़ी बोली' को मिला ही हुआ था।

परिमाणस्वरूप उस समय शिक्षा-सम्बन्धी जो योजना सरकार की

---

* देखिए स्व० पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' पृष्ट ६४७ (सं० १९९७)

ओर से बन रही थी उसमें भी उर्दू-फ़ारसी वेष में सजाई हुई भाषा को स्थान मिलने ही वाला था कि तत्कालीन हिन्दी-प्रेमियों ने अपनी आवाज़ उस बीहड़ भाषा के विरोध में उठाई।

राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य देश-प्रेमी लेखकों ने तथा प्रचारकों ने हिन्दी के अस्तित्व की रक्षा करने में यथासम्भव प्रयत्न किया। तत्कालीन पत्रों तथा पत्रिकाओं में अनेक ज़ोरदार हास्य-व्यंग-पूर्ण लेख भरे पड़े हैं जिनमें उर्दू की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं और हिन्दी का समर्थन किया गया है। पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र भी राजा शिवप्रसाद की तरह शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर थे। उन्होंने भी कई विषयों पर स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकें लिखी थीं। इन पुस्तकों में राजा साहब की खिचड़ी भाषा का एक अधिक सरल, सुबोध तथा परिमार्जित रूप मिलता है जिसे पढ़ने वाले तत्काल पहिचान सकते थे। किन्तु उनकी भाषा को 'हिन्दुस्तानी' ही कह सकते हैं। मिश्र जी के सम्पादन में निकलने वाली 'काशी-पत्रिका' में देवनागरी तथा फ़ारसी दोनों लिपियों में उस भाषा में लिखे हुए लेख निकला करते थे। गाँव के मिडिल स्कूलों में भी पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा इसी प्रकार की हिन्दी का प्रचार होता था।

इस शैली में फ़ारसी-अरबी के प्रचलित शब्द तथा मुहाविरे ही होते थे, पर उसमें एक बड़ी आपत्तिजनक बात यह थी कि संस्कृत के तत्सम शब्द जान-बूझ कर आने नहीं पाते थे। समय पा कर इस 'हिन्दुस्तानी' भाषा का विरोध किया गया और स्वयं मिश्रजी को भी लाचार होकर

अपनी शैली की संस्कृत शब्दावली से अधिकाधिक अलंकृत करना पड़ा।

ये सब भाषा सम्बन्धी क्रियायें तथा प्रतिक्रियायें उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से पहले महायुद्ध तक निरन्तर प्रकट एवं अप्रकट रूप से चलती ही रहीं। हिन्दी और उर्दू के झगड़े की नींव लगभग कई राजनैतिक, सामाजिक तथा साम्प्रदायिक कारणों से पिछले युग में ही पड़ चुकी थी। 'हिन्दुस्तानी' 'दाल-भात में मूसरचंद' की भाँति पीछे से कूदी जिसके विषय में आगे चल कर विचार किया जायगा।

ग़दर के उपरान्त हिन्दुओं में एक अभूतपूर्व राजनैतिक चेतना तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना प्रस्फुटित हुई। विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का जो सामूहिक प्रबल प्रयत्न भारतीय वीरों ने ग़दर के दिनों में किया था उसके विफल होने पर लोगों के दिलों में जातीयता तथा देश-प्रेम के भाव उमड़ उठे। इसी बीच में आर्यसमाज ने अतीत आर्य-संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का तथा पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त होने से उसकी रक्षा करने के हेतु शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, लेक्चरबाज़ी तथा प्रचार-साहित्य की धूम मचा कर तत्कालीन जनता को सजग कर दिया।

उन्हीं दिनों ईसाई प्रचारकों ने भी देश के विभिन्न भागों में अशिक्षित तथा दलित लोगों को ईसाई बनाने का काम शुरू कर दिया था। इस दिशा से भी हिन्दू-समाज पर आघात पहुँचते देख कर आर्यसमाज तथा उसकी प्रेरणा से पल्लवित हुए अन्य समाज-सुधारक अथवा रक्षक दलों ने 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का मंत्र उद्घोषित किया।

इसी प्रसंग में तत्कालीन मुसलिम *पुनरुत्थान के आन्दोलन पर भी दृष्टि डालनी है, क्योंकि उसकी प्रेरणा केवल सर सैयद अहमद प्रभृति मुसलिम-संस्कृति के उन्नायकों तथा महत्वाकांक्षी राजनैतिक नेताओं से नहीं मिली थी। उस आन्दोलन को खड़ा करने का इशारा बृटिश सरकार से मिला था, जो अपनी कूट-नीति का संचार करके मुग़लकाल से पली हुई गंगा-जमुनी हिन्दू-मुसलिम सांस्कृतिक एकता को तथा दोनों के विचार-धाराओं के समन्वय को विलग करने में तत्पर थी। इसी नियत से अलीगढ़ कालेज में मुसलिम-संस्कृति का अभेद्य दुर्ग बनाया गया।

साथ ही साथ भारतीय रानैतिक क्षेत्र में सरकार के कुचक्र में सांप्रदायिकता का बीज-वपन किया गया। सन् १८८५ में कांग्रेस का जन्म होते ही हिन्दुओं के देशानुराग तथा उनकी सरकार-विरोधिनी भावनायें जो ग़दर के बाद से अधिकाधिक प्रज्वलित होती आई थीं, सामूहिक रूप में कांग्रेस के द्वारा पुंजीभूत हो गईं। अब सरकार की आँखों में हिन्दू बग़ावत तथा क्रांति के मूर्तरूप बन गये। उन्हें कुचलने के लिए धीरे धीरे एक चक्रव्यूह रचा जाने लगा। बस, इसी वातावरण में आगे चल कर मचने वाले हिन्दू-मुसलिम दंगों तथा उन्हीं के साथ साथ उपजी हुई भाषासम्बन्धी हिन्दी-उर्दू की लड़ाई की जड़ें निकली थीं।

यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि सन् १९१९ से महात्मा गाँधी के नेतृत्व ने कांग्रेस का कार्यक्रम ज्यों ज्यों क्रियात्मक तथा उग्र

* देखिए 'लेडी मिंटो की डायरी'

होने लगा, त्यों त्यों हिन्दुओं में निर्भीकता, आत्म-विश्वास तथा देशाभिमान अधिकाधिक जागृत होने लगा । उनके मन में अपनी भाषा, अपनी संस्कृति तथा अपनी वेष-भूषा को अपनाने की और उसका व्यापकरूप में प्रचार करने की प्रबल धारणा भी उत्पन्न होने लगी ।

महात्मा जी ने जाति-पाँति तथा सांप्रदायिकता के कारण देश की बिखरी हुई संघ-शक्ति का एकीकरण करके विदेशी शासकों से लोहा लेने के हेतु खिलाफ़त और असहयोग-आन्दोलनों को मिलाने का अनुपम प्रयास किया । कुछ समय के लिए हिन्दू और मुसलमान अवश्य कंधे से कंधा मिला कर राष्ट्रीय संग्राम में चले । किन्तु हिन्दू-मुसलिम-एकता की यह लीपा-पोती की हुई इमारत मुसलमानों की सांप्रदायिकता के धक्के से शीघ्र ही धराशायी हो गई । एवं देश भर में दंगों की धूम मच गई । अन्त में हिन्दू नेताओं को तथा हिन्दू जनता का बड़े से बड़े मुसलिम नेताओं में विश्वास उठने लगा । वे 'अन्तर्शाक्ताः बहिर्शैवाः' वाली बात पूरी तरह से उन नेताओं पर चरितार्थ होने लगी ।

पर महात्मा जी ने हिन्दू-मुसलिम-एकता स्थापित करने के सम्बन्ध में कभी हार न मानी । एवं, उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति का एक दूसरा रास्ता निकाला । इस बार उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे की भाषायें सीखने का उपदेश देना आरम्भ किया । इसी हिसाब से वे 'हिन्दुस्तानी' नामक एक नई भाषा का प्रचार करने लगे । तात्पर्य यह है कि एक राजनैतिक स्वार्थ की संसिद्धि के लिए उन्होंने देश की राष्ट्रभाषा के प्रश्न को कांग्रेस के कार्य-क्रम में जोड़ दिया ।

"कांग्रेस को देश में राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा की समस्या सुलझानी

थी...इसी...उलझन में हिन्दुस्तानी की सृष्टि हुई। गान्धी जी ने सोचा था कि "हिन्दी या हिन्दुस्तानी" कहने से मामला हल हो जायगा......

—डाक्टर रामबिलास शर्मा ( 'हिन्दी'—दिसम्बर, १९४० )

इसे कार्यान्वित करने के लिए कांग्रेस के तत्वावधान में तथा स्वयं गांधी जी द्वारा व्यक्तिगत रूप में 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार करने के निमित्त सन् १९४२ से तथा उससे भी पहले से जो सभायें की गईं और जो प्रोपैगण्डा किया गया उसे सविस्तार वर्णन करने का स्थल यह नहीं। अन्यत्र यह सब लिखा जा चुका है और इसे कौन नहीं जानता? इस प्रकरण में तो केवल 'हिन्दुस्तानी'-आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराया गया है। 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' इस विषय पर विस्तार से अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

# हिन्दी और हिन्दुस्तानी

## (२) भाषा-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ

'हिन्दुस्तानी' नाम नया नहीं है। बहुत दिनों से 'हिन्दुस्तान' से सम्बन्धित पहनाव-ओढ़ाव, खान-पान, चाल-ढाल तथा भाषा आदि एतद्देशीय सभी बातों का विदेशी जीवन-प्रणालियों से पृथक्करण इसी शब्द से करते आये हैं।

जैसा कि पिछले लेख में कहा जा चुका है भाषा के प्रसंग में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग ३०० वर्ष पहले विदेशी यात्रियों ने किया था। उनके हिसाब से यह भाषा उत्तरी भारत के मुसलमान बोलते थे और समझते थे। यह हिन्दी का वह रूप समझना चाहिए जिसमें विदेशी

भाषाओं के शब्दों का बाहुल्य था और जिसे आजकल 'उर्दू' कहते हैं* । इस भाषा की सरकारी स्वीकृति और प्रचार सन् १८०३ में फ़ोर्ट विलियम कालेज में हुए थे । क्योंकि हिन्दू और मुसलमान लेखकों से अपनी अपनी भाषाओं में अलग अलग पुस्तकें लिखवाने की योजना उसी समय की गई थी । मलिक अम्मन ने 'ठेठ हिन्दुस्तानी गुफ़्तगू में जो उर्दू के लोग हिन्दू-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-बाले ख़ासोआम आपस में बोलते-चालते हैं' बाग़ो-बहार की रचना की । इसी प्रकार 'प्रेमसागर' लल्लूलाल ने तथा मुन्शी सदासुख ने 'सुखसागर' लिखे । उस समय तक मेरठ और आगरे के इर्द-गिर्द पढ़े-लिखे लोगों की साधारण बोल-चाल की फ़ारसी की झलक लिये हुई भाषा का प्रचलित नाम 'हिन्दुस्तानी' ही था । कहीं कहीं इस 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'खड़ी बोली' को 'बीच-बोली उर्दू' भी कहा गया है ।

अस्तु, उस समय ब्रजभाषा तथा 'हिन्दुस्तानी' (उर्दू) या 'खड़ी-बोली' यही दो प्रचलित भाषायें थीं जिनका व्यवहार घरों में तथा साहित्यिक कृतियों में होता था ।

गुलेरी जी के कथनानुसार 'हिन्दू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रान्तीय बोली, जिसकी परम्परागत मधुरता उन्हें प्रिय थी, में रँगे थे । विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' कर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया ।

---

* सैयद इंशा के क़थनानुसार 'जो लफ़्ज तालीम के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान उर्दू है' अर्थात् जिस भाषा का प्रचार केवल शिष्ट और सुशिक्षित समाज में ही हो ।

इस प्रकार उन्हीं के मत से 'उर्दू' कोई भाषा नहीं है, हिन्दी की विभाषा है।

बात भी वास्तव में ऐसी है, क्योंकि आरम्भ में जबसे खड़ी-बोली का एक परिष्कृत रूप साहित्यिक प्रयोग में आने लगा, तब से 'नागरी' अथवा 'हिन्दी' का आकार-प्रकार भी व्रजभाषा जी ओर से हटकर मुसलमान लेखकों के हाथों सुचिक्कण की हुई भाषा के अनुरूप होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उर्दू' में केवल-मात्र लिपि का ही अन्तर था। वाक्य-विन्यास, सुबोधता, रचना-शैली आदि सभी विचारों से उनमें बहुत-कुछ साम्य भी था।

किन्तु, जैसा कि 'हिन्दुस्तानी' की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का उल्लेख करते हुए कहा जा चुका है, १६ वीं शताब्दी में हिन्दू-मुसलिम सांप्रदायिकता का बीजारोपण राजनैतिक रूप में होते ही भाषा-सम्बन्धी झगड़े-बखेड़े भी खड़े होने लगे थे। भारतेन्दु तथा उनको मण्डली से सम्बन्धित बहुत से हिन्दी लेखकों ने 'हिन्दी'–आन्दोलन में ज़ोर-शोर से भाग लेना आरम्भ कर दिया था।

दूसरी ओर उर्दू-लेखकों ने और प्रधानतः मुसलमानों ने उर्दू में अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों का प्रयोग तथा उन विदेशी भाषाओं के व्याकरण एवं छन्दशास्त्र तक का पूरा अनुकरण करना दुराग्रहवश प्रचलित कर दिया था। उन्होंने अपनी कविता में जायसी, रहीम, रसखान आदि पुराने मुसलमान हिन्दी-कवियों की चलाई हुई भाषा-संबंधी उदात्त परम्परा को एकदम छोड़ कर बुलबुल, नरगिस, कैस, और फ़रहाद, यूसुफ़ और ज़ुलेखाँ से साहित्यिक रस खींचने की आदत डाल ली थी।

भारत में पीढ़ियों से रहने के उपरान्त तथा भारतीय सभ्यता के वातावरण में पलने पर भी वे अरब, मिस्र तथा ईरान की चिड़ियों, फूलों तथा नदी-नालों के स्वप्न देखते थे। गंगा, यमुना, हिमालय, कमल तथा कोयल, हंस से उनका कोई साहित्यिक सरोकार ही न था।

उर्दू वालों की इस कुत्सित प्रवृत्ति ने कालान्तर में न केवल साम्प्रदायिकता का प्रचार किया किन्तु भाषा-भेद भी बढ़ाया। एक समय ऐसा आया जबकि उर्दू हिन्दुस्तान के मुसलमानों की भाषा समझी जाने लगी और हिन्दी हिन्दुओं की।

एवं, जिस प्रकार उर्दू वालों में उर्दू को हिंदी से पृथक् करके कठिन और दुर्बोध विदेशी शब्दों की भरमार करनी शुरू की, उसी प्रकार धीरे धीरे हिन्दी लेखकों में भी तदनुरूप प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। हिन्दी वाले भी बीन-बीन कर फ़ारसी-अरबी के बहु-प्रचलित तथा बोल-चाल में घुले-मिले शब्दों तक को निकालने लगे और उनके स्थान में संस्कृत के विकट शब्द काम में लाने लगे।

मुसलमान लेखकों की इस कुचेष्टा, मूर्खता तथा दुरंगेपन के होते हुए भी हिन्दी के धुरन्धर साहित्य-सेवियों ने अपनी भाषा तथा साहित्य को समृद्ध बनाने के सदुद्देश्य से निरन्तर इस प्रकार की संकुचित प्रवृत्ति का विरोध किया। द्विवेदी जी तथा प्रेमचन्द आदि महारथियों ने खड़ी बोली के प्रचलित भावपूर्ण तथा व्यञ्जक मुहावरे बेधड़क अपनाये। उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रचार करके हिन्दी में एक अनूठी शैली का प्रौढ़ और प्राञ्जल रूप प्रस्तुत किया जिसके कारण उनके नाम सदैव अमर रहेंगे। प्रेमचन्द जी इस सम्बन्ध में स्पष्टतया अपनी राय यों दे गये हैं

कि "ऐसी जबान जिसके लिखने और समझने वाले थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग ही हों, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमरमर के बने हों, जिसमें कमल खिले हों, लेकिन उसका पानी बंद हो"। *एक ओर हिन्दी-लेखकों की भाषा-विषयक मनो-वृत्ति इतनी विशद तथा उदार रही और दूसरी ओर उर्दू वालों ने अपनी भाषा को भारत-व्यापी बनाने का प्रयत्न न करके उसे अरबी-फ़ारसी से लादना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार उर्दू से प्रेम रखने वाले हिन्दी-भाषियों तक के मन में धीरे-धीरे उस मुसलमानी भाषा के प्रति ग्लानि उत्पन्न होने लगी।

बस यहीं से हिन्दी में दुर्बोध, संस्कृतगर्भित शैली का उत्तरोत्तर प्रचार हुआ। इस पक्षपात-पूर्ण प्रवृत्ति का हिन्दी में भी प्रवेश होते ही भाषा की नैसर्गिक विकास-धारा के मार्ग में बड़ी बड़ी चट्टानें खड़ी होने लगीं जिनका असर इन दिनों भी है। इसी प्रसंग में हिन्दू-मुसलिम-एकता की विकट समस्या जो स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में देश के नेताओं के सम्मुख लगातार रही, स्मरण रखनी होगी। देश-वासी तथा नेता-गण बार बार सरकार से मोर्चा लेकर जेल जाते जाते अधीर हो रहे थे। उन्हें समय समय पर हिन्दू-मुसलिम झगड़े होते देख कर यही कटु अनुभव हो रहा था कि इसी एक साम्प्रदायिक वैमनस्य की गुत्थी सुलझाने से विदेशी शासकों को पराजित किया जा सकता है।

अन्त में महात्मा जी की प्रेरणा से राष्ट्रभाषा-रूप में 'हिन्दुस्तानी'

---

* 'कुछ विचार'—( निबन्ध-संग्रह भाग १ ) पृष्ट ११८—११९

का प्रचार करने की चेष्टा प्रारम्भ की गई जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब इस बात पर विचार करना है कि क्या 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार युक्तिसंगत है और क्या उस प्रकार की भाषा का व्यापक रूप में सर्वग्राह्य बनाना हिन्दी के लिए हितकर हो सकता है ?

इस विषय में कई परस्पर विरोधी मत हैं। एक सम्प्रदाय ऐसे विद्वानों का है जिनकी यह अटल धारणा है और पहले से रही है कि हिन्दी का कल्याण इसी में है कि उसे विदेशी शब्दों की छूत से यथा-सम्भव दूर रखा जाय और संस्कृत के शब्द अविकलरूप में अथवा तद्भव-रूप में अधिकाधिक मात्रा में लिये जावें। इसके अतिरिक्त वे लोग इस मत की भी पूर्णरूप से पुष्टि करते हैं कि आधुनिक काल के वैज्ञानिक राजनीतिक, अर्थ-शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक विचारों की निरन्तर बढ़ती हुई ज्ञान-राशि को हिन्दी में सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने के लिए ऐसे पारिभाषिक शब्द गढ़े जायँ जो सीधे संस्कृत से लिये गये हों। आरम्भ में सम्भवतः ऐसी शब्दावली दुरूह एवं भयंकर प्रतीत हो और भाषा-शैली भी रूखी और कर्ण-कटु जान पड़े। किन्तु शुद्ध-वादी भाषा-पण्डितों का यह कहना है कि समय पा कर जब हम ऐसी भाषा सुनने अथवा पढ़ने के अभ्यस्त हो जावेंगे तब आज जो चीज़ हमें अरुचिकर सी मालूम होती है वही सुकर और हृदयग्राही लगने लगेगी।

अब यह बात विचारणीय है कि साम्प्रदायिक द्वेष तथा कूप-मण्डूकता से प्रेरित संस्कृतमयी भाषा-शैली जो शायद देश की वर्त्तमान परिस्थिति के अनुकूल ही हो, अपनी भाषा तथा साहित्य के भावी विकास-क्रम की दृष्टि से कहाँ तक हितकर सिद्ध हो सकेगी। इस

सम्बन्ध में स्वर्गीय बाबू प्रेमचंद जी बड़े मार्के की बात कह गये हैं :—

"यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है। लेकिन हिन्दी लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है... विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े" * ।

वे कहते हैं कि विशुद्ध और लक्कड़तोड़ भाषा द्वारा हम 'भाषा-सुन्दरी को ( एक प्रकार से ) बन्द करके उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य दे कर" । सारांश यह है कि जो शब्द बाहर से आकर हिन्दी में दूध में शक्कर की भाँति घुल-मिल गये हैं, अथवा यों कहिए कि आरम्भ में कुछ समय तक घर में टिके हुए अभ्यागतों की तरह रहते रहते अन्त में अपने सद्व्यवहार के कारण परिवार का एक अंग बन गये हैं, उन्हें निकाल फेंकना न केवल एक भारी भूल होगी, बल्कि भाषा-सौष्टव की दृष्टि से कुठाराघात होगा। यह इसलिए कहना पड़ता है कि किसी भी देश के साहित्य की उन्नति बहुत कुछ दूसरी भाषाओं से आदान-प्रदान पर ही अवलम्बित होती है। प्रत्येक जीवित भाषा समय समय पर अपने को प्रगतिशील तथा सम्पन्न बनाये रखने के लिए अन्य भाषाओं से उपयुक्त और व्यञ्जक शब्द उधार लेने को तत्पर रहती है। यही नहीं उन्हें ग्रहण करके यथावसर उन्हें समुचित रीति से पचाने का

---

* देखिए प्रेमचंद जी का लेख 'राष्ट्र-भाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें' ।

भी प्रयत्न करती है। उदाहरणार्थ अँग्रेज़ी में न जाने कितनी विदेशी भाषाओं के शब्द ऐसे अपनाये गये हैं कि अब वे उसमें तल्लीन हो गये हैं। इसके सिवाय अँग्रेज़ी की भाषा-शैली पिछले ३० वर्षों में परिस्थितियों अनुसार इतनी सीधी-सादी, साधु तथा प्रसाद-गुण-युक्त हो गई है कि १६ वीं शताब्दी के ग्रंथों की भाषा अब बिल्कुल भद्दी, जङ्गली तथा अटपटी मालूम पड़ती है। पर, हम अपनी हिन्दी को अत्यधिक जटिल एवं गूढ़ बनाने में लगे हुए हैं और लिखने-पढ़ने तथा साधारण बोल-चाल की भाषा के बीच में एक पुल बनाने के बदले एक खाई खोदने की तैयारी कर रहे हैं।

इस संस्कृत-गर्भित शुद्ध भाषा-शैली की साम्प्रदायिक तथा राजनैतिक पृष्ठ-भूमि या आधार कुछ भी हो। हमें इस प्रश्न पर निष्पक्ष होकर एक साहित्यिक दृष्टिकोण से विचार करना है।

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा ने, जो हिन्दी और संस्कृत दोनों के मार्मिक विद्वान् हैं और जिनकी साहित्यिक सेवायें सभी पर प्रकट हैं, इस संस्कृतमय शैली के विषय में काफ़ी मनन किया है। वे एक जगह कहते हैं:—

"आवश्यकतानुसार हिन्दी-भाषा में संस्कृत-शब्दों का ग्रहण उपयोगी और लाभदायक है, किन्तु हिन्दी-भाषा को सर्वथा संस्कृत ही बना देना लाभदायक नहीं है......जहाँ तक हो, हिन्दी में हिन्दी के ही प्रचलित शब्द ही रहें। काम न चलने पर संस्कृत के प्रसिद्ध और सरल शब्द लिये जायँ जो कि हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हों। जटिल समास और विकट तद्धित हिन्दी में लेने की प्रवृत्ति उचित नहीं मालुम होती"।

यह प्रवृत्ति वे इसलिए अहितकर समझते हैं कि इससे 'हिन्दी का अपना भांडार लुप्त हो जायगा और भाषा साधारण भाषा से बहुत दूर चली जायगी' * ।

वास्तव में कुछ विदग्ध, मननापेक्ष्य, विशेष साहित्य को छोड़ कर समस्त साहित्यिक रचनाओं का उद्देश्य जनता के हृत्तल तक पहुँचने का ही होता है । प्रसार ही उसका जीवन है । किसी वर्गविशेष तक सीमित रह कर साहित्यिक कृतियाँ न तो लोक-रञ्जन कर सकती हैं और न उनके द्वारा समाज में साहित्यिक रुचि स्फुरित हो सकती है । अतएव, इन सब बातों को दृष्टिगत करते हुए किसी भाषा का क्षेत्र संकुचित करना कभी भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता ‡ ।

इस विषय पर अधिक कुछ कहने का अवसर नहीं है ।

अब 'हिन्दुस्तानी' की धूम मचाने वालों के भाषा-विषयक सिद्धांतों का निरीक्षण करना है ।

स्थूल रूप से इधर कुछ समय से तीन प्रकार की 'हिन्दुस्तानी' प्रचलित रही है । इन तीनों के नमूने जिन्हें 'टकसाली', 'कृत्रिम' तथा

---

* 'वर्त्तमान हिंदी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण' ( 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका'—वैसाख–कार्तिक, १९८६)

‡ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन :—

"व्यर्थ ही संस्कृत शब्दों का ठूँसना या तो सस्ती पंडिताई दिखलाना है या भारी अदूरदर्शिता और हठधर्मी का परिचय देना है" ।

('हिन्दुस्तान'—)

'अच्छी साहित्यिक हिन्दी' के नाम से संबोधित किया गया है, इस पुस्तक के अन्त में 'परिशिष्ट' के रूप में दिये गये हैं और उन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं।

सबसे पहिले उस हिन्दुस्तानी की रूप-रेखा की परीक्षा करनी है जिसे कर्मवीर सुन्दरलाल, डाक्टर ताराचन्द, मौलवी अबदुलहक़ आदि विद्वानों ने महात्मा जी तथा पण्डित नेहरू आदि देश के प्रमुख नेताओं की प्रेरणा से रच-पच कर तैयार किया है। इस प्रकार की कृत्रिम भाषा-शैली में हिन्दी में प्रचलित तत्सम शब्दों की तोड़-मरोड़ करके उन्हें हिन्दुस्तानी का जामा पहिनाया जाता है और फिर उनसे साहित्यिक सर्कस कराया जाता है। उदाहरण के लिए, 'वेष' को 'भेस', 'कारण' को 'कारन', 'नित्य' का 'नित', 'गुण' को 'गुन', 'अनन्त' को 'बे-अंत' बना दिया जाता है।

पर जहाँ एक ओर भाषा में सुबोधता लाने के लिए शुद्ध हिन्दी के प्रचलित शब्दों में उस प्रकार की काट-छाँट की जाती है और वाक्य-विन्यास में सादगी और स्पष्टता का ध्यान रखा जाता है, वहीं भयानक फ़ारसी-अरबी के शब्द भी ठूँस दिये जाते हैं। फलतः कहीं कहीं भाषा ऐसी ऊट-पटाँग और बेतुकी हो जाती है कि उसे पढ़ने को जी नहीं चाहता। ऐसी भीषण 'हिन्दुस्तानी' का एक नमूना यह है:—

"अंग्रेज़ी हुकूमत ने सिर्फ़ हिन्दुस्तान की जनता की आज़ादी को ही नहीं छीना है बल्कि उसने अपनी बुनियाद ही जनता के शोषण पर क़ायम की है... इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को

ब्रिटेन से अपना ताल्लुक खत्म कर पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आजादी हासिल करनी चाहिए"।

("स्वाधीनता दिवस की प्रतिज्ञा')

एक और उदाहरण देखिए :—

"अब शांति क़ायम करने और हमेशा शांति से रहने के लिये यही एक गुर है कि पुरानी बातों को भुलाने की कोशिश की जाय और एक दूसरे को इल्जाम न दिया जाय, पुराने घावों को कुरेदा और खुजाया न जाय, क्योंकि कुरेदने से घाव भरते नहीं, हरे होते हैं'।

('नया हिंद'—मई, १९४८)

यह एक सीधी-सादी, साफ़-सुथरी भाषा अवश्य है किन्तु निष्प्राण है। ऐसी भाषा में लिखे हुए लेखों से सहृदय वाचकों की साहित्यिक प्यास नहीं बुझ सकती। साथ ही साथ 'आधा तीतर, आधा बटेर' वाली मसल भी इस पर पूरी तौर से लागू होती है, क्योंकि न तो वह हिन्दी वालों को ही रुचेगी और न उर्दू वालों को।

पर हिन्दुस्तानी के परिपोषकों का एक अलग गुट्ट है जो उस प्रकार की शुष्क बालकोचित तथा निष्प्रभ शैली से तृप्त नहीं होते और जो उसमें सजीवता लाने के लिए बोल-चाल के संजीव मुहावरे तथा सुप्रचलित तद्भव शब्दों का प्रयोग बड़ी चतुरता से करते हैं। उनके वाक्यों में सुन्दर प्रवाह होता है और रचना-चमत्कार अथवा वाग्विलास भी अच्छा होता है। इन सब बातों से उनकी 'हिन्दुस्तानी' में ऐसी साहित्यिक चारुता होती है जो 'हिन्दुस्तानी' के कट्टर विरोधियों तक को शायद अच्छी लगे।

लगेंगे, तो बड़ी भूल करेंगे। ऐसा करके हम वस्तुतः भाषा का घोर साहित्यिक रूप देकर उसे वाग्धारा से कोसों दूर पटक देंगे। यही नहीं उसे हम 'जनता की शक्तिशालिनी' बोल-चाल की भाषा से अलग करके उसकी जीवन-प्रदायिनी शक्ति को नष्ट कर देंगे।

यहाँ मेरा यह मतलब नही है कि उस प्रकार की मुहावरेदार, चलती-फिरती भाषा सभी प्रकार के साहित्यिक प्रयोगों में समान रूप से उपयुक्त सिद्ध हो सकेगी। गम्भीर, आलोचनात्मक तथा विमर्श-साहित्य के काम में तो तत्सम शब्दों से युक्त शुद्ध संस्कृत-गर्भित शैली ही अनिवार्य होगी। क्योंकि, हमारी विचार-धारायें तथा जीवन-आदर्श तो उसी भारतीय संस्कृति में ढले हुए हैं जिनका समन्वय संस्कृत-साहित्य से हुआ है। हमारी हिन्दी भी भाषा-विकास-क्रम के हिसाब से संस्कृत से ही निकली है। हमारी उपमाओं तथा हमारी चिन्तन-शैली सभी में इसी देश के जल-वायु, पशु-पक्षी, फूल-फल, देवी-देवता तथा जीवन-परम्परा का ही प्रतिबिम्ब मिलेगा।

अब एक तीसरे प्रकार की 'हिन्दुस्तानी' का उल्लेख करना है। उसका एक नमूना परिशिष्ट में मिलेगा। वहाँ जो एक छोटा सा अवतरण दिया गया है वह पं० जवाहरलाल जी नेहरू के एक भाषण से लिया गया है। वही वास्तव में उस तरह की हिन्दुस्तानी के एक प्रमुख प्रचारक भी कहे जा सकते हैं।

एक स्वाधीन देश में जहाँ सैकड़ों प्रान्तीय भाषायें हैं और जहाँ सैकड़ों वर्षों से अँग्रेज़ी का साम्राज्य रहा है, अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस पिछले

१५, २० वर्षों से इस दिशा में प्रयत्नशील रही है। पहले इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'हिन्दी' का ही प्रचार किया गया। किन्तु जैसा कि 'हिन्दुस्तानी आन्दोलन' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन करते समय अभी ऊपर कहा जा चुका है, एक विशेष प्रकार की विषम राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक परिस्थिति में आगे चल कर, 'हिन्दी' के स्थान में 'हिन्दुस्तानी' का प्रसार एक व्यवस्थित रूप में होने लगा।

अस्तु एक ऐसी भाषा गढ़ी जाने लगी जिसमें हिन्दी, उर्दू, अँग्रेज़ी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्द तथा ठेठ मुहावरों का प्रयोग होता है। हज़ारों, लाखों की पढ़ी, अनपढ़ तथा अधकचरी जनता के सामने भाषण देते समय वैसी गङ्गा-जमुनी भाषा बड़े काम की होती थी। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी उस भाषा को समझ सकते थे।

इस हिन्दुस्तानी को अधिक सुबोध बनाने के लिए वक्तागण जहाँ कहीं कोई संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करते थे वहीं लगे हाथ उनके सरल बोल-चाल के अथवा ग्रामीण पर्यायवाची शब्दों को भी बोल देते थे।

ऐसी 'हिन्दुस्तानी' काफ़ी सरल, सजीव तथा स्वाभाविक होती है। उसमें वह कृत्रिमता तथा अनगढ़ता नहीं होती जो 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसायटी' के अन्ध-भक्तों की भाषा में होती है। नेहरू जी वाली हिन्दुस्तानी साहित्यिक भाषा नहीं है और न उसके द्वारा विदग्ध साहित्य का काम ही चल सकता है। साधारण अन्तर्प्रान्तीय बोल-चाल, लिखा-पढ़ी के लिए तथा दैनिक समाचारपत्रों के लिए वैसी भाषा अत्यन्त उपादेय है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता।

'हिन्दी और हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर विचार करने के बाद अब

अन्त में इस बात का संक्षेप में निर्णय करना शेष रह जाता है कि क्या 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी' का क्षेत्र एक ही है और क्या इस विवाद-ग्रस्त विषय पर कोई समझौता भी हो सकता है ?

आज भारत स्वतंत्र है और सैकड़ों-हजारों बर्षों तक पराधीन रहने के उपरान्त हमें अपनी सनातन काल से आई हुई आर्य-संस्कृति तथा सभ्यता को झाड़पोंछ कर सुव्यवस्थित करके उसका विमल रूप सुरक्षित करने का अवसर मिला है। मुसलिम तथा अँग्रेजी भाषाओं, विचार-पद्धतियों एवं जीवन-क्रम ने हमें इतना प्रभावित किया है कि हम बहुत-कुछ अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से पराङ्मुख अथवा यों कहिए कि तटस्थ से हो गये हैं। ऐसी शोचनीय परिस्थिति में जब कि साम्प्रदायिकता, प्रांतीयता तथा प्रतिक्रियापूर्ण राजनैतिक भावनाओं के कारण अगणित रियासतों, विभिन्न मत-मतान्तरों, अनेक भाषा-भाषी प्रान्तों के द्वारा देश की एकता छिन्न-भिन्न हो रही थी, स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही साथ भारत को शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रीय भावना के सूत्र में पिरोने के हेतु एक राष्ट्रीय भाषा को स्वीकार करना परम आवश्यक हो गया है। क्योंकि कोई देश अपनी राष्ट्रीय भावना को किसी विदेशी भाषा द्वारा न तो उन्नत कर सकता है और न अपनी सांस्कृतिक आत्मा को ही व्यक्त कर सकता है।

भारत ऐसे देश में, विशेष कर पाकिस्तान के अलग हो जाने पर, राष्ट्र-भाषा का पद उसी भाषा को मिल सकता है जिसे उत्तरी भारत की जनता साधारण रीति से समझ सके और दक्षिण भारत में भी जिसे पढ़े-लिखे लोग थोड़े से अभ्यास अथवा परिचय से जान सकें।

ऐसी भाषा हिन्दी ही हो सकती है। इस भाषा का प्राचीन साहित्य

बड़ा उत्कृष्ट है और आधुनिक साहित्य भी बड़ी तेजी से समुन्नत हो रहा है।

कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि सन्त कवियों के पदों को गवैये लोग सारे देश में बड़ी तल्लीनता और प्रेम से गाते हैं। अहिन्दी प्रांतों के साहित्य-प्रेमी तथा रसिक-जन हिन्दी से अनभिज्ञ होने पर भी उन सन्तों के गीत सुन कर मस्त हो जाते हैं और उनके भाव तक समझ लेते हैं। यह सब इसी कारण से है कि हिन्दी का जन्म तथा उसके संस्कार उसी संस्कृत-भाषा से हुए हैं जिससे भारत की अधिकांश प्रान्तीय भाषायें निकली हैं।

एवं, संस्कृत-जनित होने के नाते राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का सम्बन्ध बँगला, गुजराती, मराठी इन सभी प्रान्तीय भाषाओं से निकटतम ही रहेगा। रही दक्षिण की भाषाओं की बात, सो संस्कृत-मूलक न होने पर भी उन में भी संस्कृत के अनगिनती शब्द भरे पड़े हैं, और आर्य-संस्कृति की गहरी छाप उन द्राविड़ भाषाओं पर भी लगी है।

ऐसी दशा में बाबू राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में, 'राष्ट्रभाषा (हिन्दी) संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली बँगला, गुजराती, मराठी भाषाओं के बोलने वालों में अगर प्रचलित होना चाहती है तो वह संस्कृत का आश्रय नहीं छोड़ सकती।'*

यह सब कहने का सारांश यही निकला कि अन्तर्प्रान्तीय प्रचार अथवा देश-व्यापी राष्ट्र-भाषा की दृष्टि से ऐसी ही हिंदी चल सकेगी जिसमें 'तद्भव' शब्दों की अपेक्षा 'तत्सम' शब्द अधिक हों, क्योंकि

---

* देखिए, 'हिंदी'—जूलाई १९४१ में डा० राजेन्द्रप्रसाद का लेख 'भारत की राष्ट्र-भाषा'।

जैसा कि स्वर्गीय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अपनी 'बोलचाल' की प्रस्तावना के पृष्ठ २३ पर कहते हैं, 'हिंदी का व्यापक रूप संस्कृत-गर्भित भाषा ही है'।

पर, इस भाषा-सम्बन्धी प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है जिसका सम्बन्ध लिखित साहित्य से है।

आजकल जब से पाकिस्तान की प्रबल प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति हिन्दी-लेखकों में उद्दीप्त हुई है और मुसलिम-सभ्यता की द्योतक सभी बातों के प्रति द्वेष तथा घृणा उत्पन्न हुई है, तभी से हिन्दी और उर्दू का द्वन्द्व-युद्ध छिड़ा है। इस भाषा-विषयक संघर्ष के कारण ऐसी गर्मागर्मी जग उठी है कि राष्ट्र-भाषा और साहित्यिक भाषा तथा नित्य-प्रति की साधारण बोल-चाल और लिखा-पढ़ी की भाषा, इन तीन परस्पर अलग अलग चीजों को लोग भ्रमवश एक ही में लपेटने लगे हैं।

फलतः हिन्दी-संसार में एक अजीब हलचल-सी मच गई है। अतएव भाषा का सवाल हिन्दू-मुसलिम-समस्या का ही एक अङ्ग बन गया है। इसी के परिणामस्वरूप बड़े से बड़े विचारशील विद्वान् तक शुद्ध संस्कृतमयी हिन्दी के कट्टर पक्षपाती तथा समर्थक बन गये हैं। उन्होंने जोश में आकर पत्र-व्यवहार, बोल-चाल तथा सरकारी लिखा-पढ़ी आदि में भी क्लिष्ट और दुर्बोध हिन्दी के व्यवहार करने का प्रचार प्रारम्भ कर दिया है। ऐसा करते समय वे यह भाषा-विकास-सम्बन्धी तथ्य भूल जाते हैं कि साहित्यिक शैली में तथा बोल-चाल और साधारण जीवन-व्यापार की भाषा-शैली में बड़ा भारी अन्तर रहता है। वे इस बात को भी स्मरण नहीं रखते कि प्रत्येक भाषा का एक सरल रूप भी आवश्यक

होता है जिसमें एक प्रकार का सुगम साहित्य बनता है। इसी के द्वारा साहित्यिक प्रचार भी समाज में होता है। उदाहरणार्थ, परिहास-पूर्ण व्यंगात्मक लेखों में, जिनका मुख्य उद्देश्य मनोरञ्जन-मात्र होता है, बोल-चाल के मुहावरे तथा विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा भाषा में चटपटापन और चुभीलापन आता है। अन्यथा संस्कृत के जटिल शब्दों को लाकर रख देने से भाषा निर्जीव, बनावटी और कृत्रिम बन जाती है। यदि व्यंग करते हुए किसी के लिए कहें कि 'उनकी हवा बिगड़ गई' तो बात चोटीली जान पड़ेगी। 'हवा' के स्थान पर 'वायु' अथवा 'पवन' का प्रयोग करने से सारा व्यंग नष्ट हो जायगा।

श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने अपने सुन्दर ग्रन्थ 'बोल-चाल' में इसी विषय पर विचार करते हुए एक अच्छा उदाहरण दिया है जो साधारण बोल-चाल की सीधी-सादी भाषा में है:—

आज मैं कचहरी से आ रहा था, एक चपरासी मुझे राह में मिला। उसने कहा आप से तहसीलदार साहब नाराज हैं। आप ने अपनी मालगुजारी अब तक जमा नहीं की, इसलिए वे बन-बिगड़ रहे थे।

इस उदाहरण में एक साधारण सी घटना सरल किन्तु प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित की गई है। 'राह', 'नाराज़', 'शायद', 'चपरासी' ये सभी शब्द विदेशी हैं। और उनके ठीक ठीक पर्यायवाची कोई उपयुक्त शब्द हमारे पास नहीं। यदि दुराग्रहवश शुद्धता की झोंक में कुछ शब्द गढ़ने का दुष्प्रयत्न करें तो भाषा भद्दी और जटिल हो जायगी। भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से सुगम विषयों पर लिखते समय तथा आपस के

व्यवहारों, बर्तावों और घरेलू विषयों की चर्चा करने में हमें सरल और मुहावरेदार भाषा का ही सहारा लेना पड़ेगा, यह बात निर्विवाद है।

हाँ, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आलोचनात्मक एवं इसी प्रकार के गहन विषयों का प्रतिपादन करने में प्रौढ़, उच्च, संस्कृत-गर्भित शैली ही काम दे सकती है। वहाँ न तो 'हिन्दुस्तानी' साथ देगी और न हल्की मुहावरेदार ठेठ भाषा।

अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि राष्ट्र-भाषा के काम में आने वाली केवल शुद्ध हिन्दी ही है जिसे अन्य प्रान्त वाले तथा अन्य भाषा-भाषी सहज में सीख सकते हैं, क्योंकि उनकी प्रान्तीय भाषाओं में और हिन्दी में यह बहुत बड़ी समानता है कि वे या तो संस्कृत से निकली हैं अथवा उनमें संस्कृत के बहुत से शब्द अविकल रूप में आकर मिल गये हैं।

पर, राष्ट्र-भाषा के हिसाब से जो बात मान्य होनी चाहिए, वह साहित्य-प्रचार तथा भाषा-सौष्ठव के विचार से युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकती। यदि अपनी बात-चीत से अथवा चिट्ठी-पत्री की भाषा से उर्दू, फ़ारसी या अन्य विदेशी भाषाओं के चिर-प्रचलित और भावपूर्ण शब्दों और मुहावरों को अथवा ग्रामीण भाषा के सजीव शब्दों को निकाल देने की हम शपथ खा लें तो हमसे बड़े मूर्ख दुनिया में कहीं न मिल सकेंगे। ऐसा करके फूली-फली लहलहाती हुई साहित्यिक खेती पर हम निस्संदेह वज्रपात करेंगे। हिन्दी-भाषा का लालित्य, उसकी सजीवता, तथा उसकी साहित्यिक आत्मा ऐसी भ्रान्तिपूर्ण चेष्टा से एकदम मुरझा कर निर्जीव सी हो जावेगी। भाषा तथा साहित्य का क्षेत्र साम्प्रदायिकता तथा द्वेष से परे है। उसमें देशी और परदेशी का विवेक नहीं होता। उसका द्वार निरन्तर

खुला रहता है। संसार के सभी देशों के शब्द आ-आ कर उसके शरीर को पुष्ट और सुसज्जित बनाते हैं। कबीर ने 'भाषा' को 'बहता नीर' इसीलिए कहा है कि उनके समय में हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्द बे रोक-टोक घुल-मिल रहे थे और उसकी व्यञ्जना-शक्ति अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। इन्हीं सब बातों के आधार पर हमें 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर व्यवस्थित-चित्त होकर सोचना चाहिए। केवल क्षणिक संकुचित मनोवृत्तियों के फेर में पड़ कर ऐसा कोई निर्णय न कर बैठना चाहिए जिससे हमारी भाषा की भावी उन्नति और विकास के मार्ग में व्याघात पड़े। *

# सिनेमा तथा रेडियो की भाषा

## सिनेमा की लोकप्रियता तथा उसका दृश्य और अदृश्य रूप में गद्य-शैली पर प्रभाव

सिनेमा आधुनिक संसार में शिक्षित तथा अशिक्षित सभी कोटि की जनता के मनोविनोद का अच्छा साधन है। दिन भर के कड़े मानसिक

---

* देखिए श्री भदन्त आनन्दकौशल्यायन का मत :—

"....जिस भाषा में भी हम अपने को अधिक से अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकते हैं और जिस भाषा में बोलने-लिखने के हम उन लोगों के अधिक से अधिक निकट पहुँच सकते हैं—जिनके निकट पहुँचना हमारा कर्तव्य है—उसी भाषा में बोलना-लिखना हमारे लिए ठीक है, अर्थात् वही हमारी साहित्य-भाषा है"। ( आजकल—वार्षिक अंक १९४८ )

अथवा शारीरिक परिश्रम के बाद सिनेमा-घर में मन बहलाने तथा जीवन की चिन्तायें भुलाने की अच्छी सामग्री मिल जाती है। सभी प्रकार के सामाजिक जीवन की छोटी से छोटी घटनाओं तथा पेचीदा से पेचीदा समस्याओं को लेकर कहानी-लेखक और चित्र-निर्माता गानों, सम्भाषणों तथा भाव-भङ्गी के द्वारा जीवन के चलते-फिरते चित्र मनोहारी रूप में अङ्कित करते हैं। किन्तु चरित्र-चित्रण, कथा-वस्तु, घटना-चक्र आदि सभी तत्वों का व्यवस्था-क्रम अभिनय-कला की दृष्टि से बहुत कुछ वैसा ही होता है जैसा कि नाटक में होता है।

एवं, नाटक के पात्रों के हृद्गत भावों का स्पष्टीकरण करने के हेतु जिस प्रकार की मर्मस्पर्शी, चटपटी और चुभीली भाषा का संलापों में प्रयोग किया जाता है, वैसी ही भाषा सिनेमा की कथाओं में भी रखनी पड़ती है। क्योंकि, सिनेमा-कला भी दृश्य और श्राव्य दोनों में परिगणित करनी चाहिए। उसका तात्कालिक प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है, जो केवल गाने सुनने अथवा बात-चीत सुनने नहीं आते। अभिनेताओं की वेष-भूषा तथा उनका रूप-सौन्दर्य देख कर अपनी आंखों को तृप्त करने की भी उनकी लालसा होती ही है।

चित्र देख चुकने के बाद अधिकांश दर्शकों के मन में नायक-नायिका के भावावेग से उमड़ती हुई रसीली बात-चीत (तथा उनके हाव-भाव) गूंजती रहती है। उनके गाये हुए गानों की स्वर-लहरी उन्हें इतना उद्वेलित कर देती है कि वे वही गाने एकान्त में, स्नानागार अथवा अंतरङ्ग मित्रों के बीच गुनगुनाते रहते हैं।

कई चित्र साधारण जीवन के अनुभवों को ऐसे यथार्थ रूप में प्रस्तुत

करते हैं कि उन्हें देख कर दर्शक मुग्ध हो जाते हैं। कहीं कहीं प्रचलित कुरीतियों का दिग्दर्शन हास्य अथवा व्यङ्ग के रूप में कराया जाता है, जिससे मनन-शील जनों को हृदय-मंथन अथवा आत्म-चिन्तन की प्रेरणा मिलती है।

धार्मिक चित्रों से इसी प्रकार धार्मिक प्रवृत्तिवाली जनता को एक विशेष प्रकार का आन्तरिक आनन्द मिलता है।

तात्पर्य यह है कि सिनेमा-चित्र का कथानक चाहे जिस प्रकार का हो, उसका वास्तविक प्रभाव अभिनय-कौशल तथा भाषा-चमत्कार पर ही अवलम्बित रहता है। इस प्रसंग में हमें इसी बात पर विचार करना अभिप्रेत है कि पिछले ३० वर्षों में मूक छाया-चित्रों के समय से लेकर बोलते चित्रों की इस प्रौढ़ अवस्था तक सिनेमा के पात्रों की बात-चीत की भाषा में कैसा अन्तर पड़ा है। साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि सिनेमा की लोक-प्रियता तथा व्यापक प्रचार के फल-स्वरूप साहित्यिक हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा कहाँ तक प्रभावित हुई है।

जिस समय हम 'सिनेमा' को 'बायस्कोप' कहा करते थे, उस समय 'न्यू अलफ्रेड' कंम्पनी 'सूर विजय नाटक कंपनी' आदि नाटक-मण्डलियाँ, आगा हश्र, नारायणप्रसाद, 'बेताब', राधेश्याम आदि के लिखे हुए सामाजिक, रोमैंटिक, धार्मिक, परिहासपूर्ण तथा इसी प्रकार के हल्के नाटक खेला करती थीं। उनका उद्देश्य केवल जन-साधारण का मनोविनोद करना था। जटिल सामाजिक समस्याओं पर गम्भीर आलोचना करने से उनका कोई, किसी प्रकार का सरोकार न था। यही कारण था कि उनकी भाषा उस समय के पढ़े-लिखे तथा अनपढ़ सभी प्रकार के लोगों की रूचि के अनुकूल उर्दू से मिलती जुलती होती थी।

उस समय के नाटकों की भाषा में कई विशेषतायें होती थी। उसमें कविता का सा रसीलापन होता था, लय होता था तथा शब्दों का हेर-फेर होता था। कहीं कहीं तुकबंदी तथा झनकार तक होती थी। 'शीरीं फ़रहाद' नामक नाटक की यह लाइन इस बात का अच्छा उदाहरण है :–

'किताब देख चुकीं, अब ज़रा इधर देखो' देखिए, इस उक्ति में कितनी 'मादकता' तथा 'चुलबुलापन' है। साथ ही साथ, वास्तविक गद्य-शैली से यह भाषा कितनी दूर है ?

तत्कालीन नाट्य-कला से प्रेरणा पाकर सिनेमा के क्षेत्र में भी 'लैला-मजनूँ', 'शीरीं-फ़रहाद', 'आलम आरा', 'तुर्की हूर', 'भक्त ध्रुव', 'कृष्ण-सुदामा' 'वीर अभिमन्यु' इसी प्रकार के चित्रों की खूब धूम मची। इन चित्रों की कथा-वस्तु, संलाप, गीत, अभिनय-कला सभी में कल्पना, प्रेम, भक्ति, भावुकता इन्हीं का प्राचुर्य रहा। पर भाषा में साहित्यिक सौष्ठव तथा शालीनता का सर्वथा अभाव ही बना रहा। उनकी सफलता इसी तरह की फड़कती हुई, चुलबुली और चलती-फिरती भाषा के कारण ही हुई।

धीरे धीरे अधिक सुशिक्षित तथा समझदार लोग सिनेमा कम्पनियों में जाने लगे। दर्शक भी सिनेमा-कला की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे। इसी बीच में सिनेमा प्रौढ़ और विकसित होकर 'बोलते-चालते' रूप में इस देश के प्रमुख नगरों में प्रचलित हुआ। 'बाम्बे टाकीज़', 'न्यू थियेटर्स', 'प्रभात' आदि कई अच्छी कम्पनियाँ भी खुलीं। 'कानन-देवी' 'शान्ता आपटे', 'हिमांशुराय', 'शान्ताराम', 'सहगल', 'अशोक-कुमार', 'सोहराब मोदी', 'पृथ्वीराज' आदि ने निर्देशक तथा पात्रों की हैसियत से सिनेमा-कला का एक दम काया-पलट कर दिया। हिन्दी के

अनुभवी तथा सिद्ध-हस्त लेखकों ने भी सिनेमा की कहानियाँ लिखनी शुरू कीं। 'सुदर्शन' जी तथा 'प्रेमचन्द' जी इस सम्बन्ध में विशेष रीति से उल्लेख्य हैं।

'पूरन भगत', 'देवदास', 'चण्डीदास', 'अछूत कन्या', सीता', 'धरती माता', 'मिल मजदूर', पुकार', 'मिलन' आदि अनेक सुन्दर चित्र तैयार होने लगे जो भारतीय सिनेमा-कला के इतिहास में युग-परिवर्तनकारी समझे जाने चाहिए।

इन चित्रों की भाषा बड़ी मधुर परिमार्जित, संयत तथा हृदयग्राही है। उसमें हमें आधुनिक हिन्दी की साफ़-सुथरी, प्रसादगुण-युक्त मुहाविरेदार तथा व्यंजनापूर्ण शैली की अच्छी झलक मिलती है।

पिछले खेवे के नाट्यकारों की छिछोड़पन से भरी, उर्दूमयी, असाधु भाषा कुशल सिनेमा निर्देशकों की देख-रेख में बनी तसवीरों के पास नहीं फटक पाई। बंगाली निर्देशकों ने विशेष रूप से भाषा की मृदुलता तथा माधु र्य की ओर ध्यान दिया।

'कपाल-कुण्डला', 'अधिकार', 'यहूदी की बेटी' तथा अन्य चित्रों में भाषा का जो प्राञ्जल रूप मिलता है उसका श्रेय उन्हीं बंगाली कला-विदों को है। उन्होंने एक प्रकार से हिन्दी-भाषा को सिनेमा-संसार में एक बड़ा सुसंकृत और समीचीन रूप में प्रस्तुत करके पठित दर्शकों की रुचि सिनेमा-कला की ओर उत्पन्न की। एवं, शिक्षित-वर्ग में उच्चकोटि के चित्रों की क़दर और माँग होने लगी। इसके सिवाय अदृश्य रूप में हिन्दी-गद्य की भाषा-शैली पर भी अच्छे चित्रों की भाषा का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

अस्तु, सिनेमा की लोक-प्रियता के कारण तथा उसके चित्रों के कथानकों, और भाषा में उत्तरोत्तर सुचारुता की अभिवृद्धि होने से दर्शकों की रुचि अभिनय के अलावा भाषा की ओर भी प्रदीप्त हुई। उच्च शिक्षा पाये हुए लोगों में सिनेमा-गृह में बैठे बैठे मनोविनोद प्राप्त करने के साथ साथ समीक्षा करने की प्रवृत्ति भी जागृत होने लगी। उनके आलोचनात्मक विचारों से अवगत होने के उद्देश्य से बहुत सी सिनेमा-कला-सम्बन्धीं पत्रिकायें निकलने लगीं।

सारांश यह है कि साहित्य की दृष्टि से हिन्दी-गद्य को सिनेमा से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि बोल-चाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषा एक दूसरे के निकट आ गई। यही कारण है कि गत पन्द्रह-बीस वर्षों में जो उत्तम उपन्यास, कहानियाँ तथा निबन्ध आदि निकले हैं उनकी भाषा बड़ी सजीव तथा सुबोध है।

सिनेमा और हिन्दी-गद्य का यह अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध सम्भवतः आगे चल कर हितकर सिद्ध हो।

इन दिनों जैसा कि 'हिन्दुस्तानी' वाले प्रकरण में कहा जा चुका है, पाकिस्तान की प्रतिक्रिया के रूप में 'शुद्धता' का प्रमाद कितना अधिक सवार हो गया है। इसे नियमित तथा मर्यादित रखने में सिनेमा-लेखक बड़े उपयोगी होंगे। सिनेमा कम्पनियाँ धन कमाने की एक व्यावसायिक दृष्टि से प्रधानतः चित्र तैयार करवाती हैं। इसी से उन्हें अधिक से अधिक जनता की रुचि को दृष्टिगत रखना होता है। वे चाहते हैं कि चित्रों की कथा-वस्तु, उनकी भाषा, उनके गाने सभी इस ढँग के हों जिनसे साधारण दर्शकों को आनन्द मिले।

ऐसी दशा में पात्रों के कथनोपकथन की भाषा सरल, मुहावरेदार, सीखी तथा सुबोध ही रखनी पड़ेगी। इस प्रकार की भाषा सुन सुन कर लिखित साहित्य में भी वैसी ही भाषा लोगों को रुचिकर होगी।

हाँ, एक बात और कहनी है। सिनेमा-संचालक पूंजीपति व्यवसायात्मिका प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अपनी भाषा पर एक बड़ा आघात भी पहुँचा सकते हैं।

हमारे देश में जनता अभी निरक्षर और पिछड़ी है, और अधिकांश मजदूरी करके जीवन-निर्वाह करती है। दिन भर कठिन परिश्रम करने के बाद सिनेमा-गृह में केवल मनोविनोद की नियत से ही वे जाते हैं। उनकी रुचि के अनुकूल प्रायः ऐसे चित्र तैयार किये जाते हैं जिनमें कूद-फाँद, मार-पीट, छेड़-छाड़ तथा चुट-पुट गाने ही होते हैं और निम्न-कोटि की प्रेम-लीला और भँड़ैती होती है। ऐसे चित्रों की भाषा भी असंयत, लचर तथा भद्दी होती है।

पर अपढ़, लक्ष्मीवाहन पूंजीपतियों के हिसाब से धन कमाना ही सिनेमा-कला का एक मात्र उद्देश्य होता है। ऐसी दशा में, अच्छी से अच्छी भाषा लिख सकने वाले लेखकों को तथा विख्यात कला-मर्मज्ञ निर्देशकों को बहुधा ऐसे रद्दी चित्र बनाने में मूर्ख पूंजीपतियों को योग देना पड़ता है।

इस रूप में सिनेमा भाषा-विकास के मार्ग में कुछ हद तक उस समय तक बाधक रहेगा, जब तक शिक्षा का व्यापक प्रसार देश में नहीं होता।

# सिनेमा की भाषा के कुछ नमूने

## १ उर्दू-रंजित, चलती हुई भाषा

'ढिंढोरा' चित्र से :—

मनसुख—ये ज़ुल्म है, सितम है। सेर भर ख़ून तो मेरा बह गया है और नाम मिस मोहनी का। इसका ख़ून ख़ून है और हमारा ख़ून छापे की स्याही। यह बिल्कुल क़हर है, नाइंसाफ़ी है। हमारा नाम क्यों नहीं लिखा।

## २ कुछ सुधरी हुई भाषा

'नया संसार' से :—

आशा—आप अपने ही बनाये हुए गीत क्यों नहीं गाते?

पूरन—ओ, भला मैं क्या गीत बना सकता हूँ? मैं कवि थोड़ा हूँ?

आशा—मुझे तो आप की सूरत देखकर मालुम होता है कि आप कवि हैं।

पूरन—जी नहीं, मुझे कवियों से नफ़रत है। अगर दुनिया में कोई निकम्मा जीव है तो वह कवि है।

## ३ भावावेशपूर्ण काल्पनिक भाषा

'पड़ोसी' से :—

गिरिजा—'हाँ' क्यों नहीं कहते? कहो! अब तुम मेरी बन गई हो। मुहूरत टल रहा है। कल का सूरज अभी सो रहा है। ······वह देखो! सप्त ऋषि हमें आशीर्वाद देने के लिए तय्यार खड़े हैं। तारों से सजा हुआ आकाश हमारे व्याह का मण्डप है। यह पेड़-पौधे हमारे व्याह के बराती और घराती हैं। यह बेलें हमारे व्याह की सखियाँ हैं। तुम सिर्फ़ 'हाँ' कह दो।

४ मुहाविरेदार, व्यंगात्मक भाषा (मराठी की छाया लिये)

'संत ज्ञानेश्वर' से :—

बिट्ठल—हाँ, गीता में बताया हुआ, यह मनुष्य-धर्म आजकल के चालू धर्म के नीचे दब गया है।

ज्ञानेश्वर—तो क्या, कोई फिर उसे ऊपर न उठायेगा ? इन ब्राह्मणों को ही जो धर्म के ठेकेदार हैं, वह धर्म लोगों के सामने रखना चाहिए।

बिट्ठल—इसकी उन्हें क्या जरूरत है ? मखमल के गद्दे पर लोटनेवालों को पत्थर पर चद्दर ओढ़ाने की क्या परवाह है।

५ अच्छी साफ़ सुथरी भाषा

'हमराही' से

अशोक—अगले इतवार को एक सभा और हो जाय। बड़ी भारी सभा बन्द करो।

गोपा—अगली सभा में तुम्हारा आना ठीक नहीं है।

( गोपा के पैर की ठोकर अशोक के लगती है )

अशोक—आप देख कर रास्ता नहीं चलती हैं ?

गोपा—आखिर चलें भी तो कैसे ? एक मिट्टी के पुतले को छोड़ कर ....आसमान के चाँद को ताकने की जरूरत कहाँ ?

अशोक—ख़ुश होकर किसी के हाथ-पाँव तो नहीं टूटते।

## रेडियो और हिन्दी-गद्य

सिनेमा के साथ साथ रेडियो भी आजकल शिक्षा और प्रोपैगंडा का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। कुछ अंशों में तो रेडियो सिनेमा तथा

समाचारपत्रों दोनों पर बाजी मारने वाला है। निकट भविष्य में टेलीविजन का प्रचार होते ही घर बैठे लोग नाटक, सिनेमा तथा व्याख्यानों को देख-सुन सकेंगे। नाट्यगृह, सिनेमागृह अथवा सभा-भवन में जाने का कष्ट न उठाना पड़ेगा।

ये सब सुविधायें अभी अप्राप्य होने पर भी रेडियो संसार भर की खबरें तत्काल सुना देता है। अखबारों में वे पीछे निकलती हैं। इसके सिवाय रेडियो द्वारा बड़े बड़े विद्वान् और विशेषज्ञ विभिन्न साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य विषयों पर समय समय पर मार्मिक भाषण देते रहते हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध गवैये मधुर गाने सुनाते हैं।

ये सब विभिन्न प्रोग्रैम स्त्रियों, बच्चों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, कलाकारों, किसानों, मिल-मजदूरों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, व्यापारियों, खेलाड़ियों तथा अन्य सभी श्रेणियों के श्रोताओं के काम के उपयोगी एवं रुचिकर विषयों पर एक निर्धारित समय पर रेडियो द्वारा प्रसारित किये जाते हैं। एवं, सभी प्रकार के लोग रेडियो सुनते हैं और रेडियो उनके दैनिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग अथवा यों कहिए कि उनका सहचर, शिक्षक तथा पथ-प्रदर्शक सा हो जाता है। बिना पुस्तकें अथवा अखबार पढ़े हुए अधिकांश लोगों को, जिन्हें अवकाश नहीं मिल पाता, रेडियो पका पकाया मानसिक भोजन प्रदान कर देता है। इस तरह आये दिन संसार भर की खबरें, प्रसिद्ध लेखकों के विचारों का निचोड़ तथा मनोविनोद की पर्याप्त सामग्री सुनने वालों को थोड़े से समय में सुलभ हो जाती हैं।

रेडियो के संवादों तथा भाषणों की भाषा वस्तुतः वैसी ही होनी चाहिए जैसी कि अधिकांश श्रोताओं की समझ में आ जाये। पर भारत में यह भाषा-समस्या वर्त्तमान परिस्थिति में कुछ कठिन सी है। यहाँ इतनी प्रांतीय भाषायें हैं, देश इतना लम्बा-चौड़ा है, कि 'आल-इंडिया रेडियो' को बहुत सी प्रांतीय भाषाओं में अपने प्रोग्रैम प्रसारित करने का प्रबन्ध करना पड़ता है। पर, हिन्दी का ही प्राधान्य रहना अनिवार्य है, क्योंकि वही अपनी राष्ट्र-भाषा बनेगी और अन्ततोगत्वा वही अँग्रेजी का स्थान ग्रहण करेगी। इस प्रसङ्ग में हमें इसी विचार से यह देखना है कि 'आल इंडिया रेडियो' की भाषा-नीति का प्रभाव हिन्दी की गद्य-शैली पर अभी तक क्या पड़ा है और भविष्य में क्या होगा।

अभी पिछले १० वर्षों में बृटिश सरकार ने देश में हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य तथा फूट के बीज बोने में जिन कुत्सित साधनों का उपयोग किया था उनमें से रेडियो की भाषा-विषयक नीति भी थी।

बुखारी-बन्धुओं के हाथ में आल-इंडिया-रेडियो सौंपकर हिन्दी की जो दुर्गति अँग्रेजी सरकार ने कराई थी, वह सभी को ज्ञात है। उन दिनों जो 'हिन्दुस्तानी' आन्दोलन चल रहा था उसकी आड़ में बुखारी-बंधुओं ने फ़ारसी-अरबी वाली उर्दू का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। 'पूरब', 'पश्चिम' न कह कर 'मशरिक़' और 'मग़रिब का प्रयोग किया जाता था, 'आमंत्रण' के स्थान में 'दावत देना' ऐसे शब्द बेधड़क बोले जाते थे। यही नहीं, बहुधा उर्दू-शब्दों से लदे हुए वाक्यों में शुद्ध संस्कृत के शब्द ऐसे बेतुके ढँग से ठूँस दिये जाते थे कि सुन कर हँसी और क्रोध दोनों आते थे।

इस प्रकार की भद्दी 'हिन्दुस्तानी' में दिये हुए प्रोग्रमों से हिन्दी-भाषी श्रोतागण ऊब उठे थे और रेडियो की ओर से उनके जी उचटने लगे थे। उस ऊट-पटाँग भाषा का कोई बुरा प्रभाव तो हिन्दी-शैली पर नहीं पड़ा, किन्तु, हिन्दी-गद्य के विकास-क्रम को रेडियो-द्वारा इतने वर्षों तक वह प्रेरणा न मिल पाई जो अनुकूल रेडियो-सञ्चालकों के तत्वाधान में उसे मिली होती।

अब स्वाधीन होने पर 'आल-इंडिया-रेडियो' ने भाषा-सम्बन्धी एक उचित प्रणाली का अनुसरण किया है। इन दिनों जिस भाषा का उपयोग किया जाता है वह शुद्ध हिन्दी है। पर, उसमें वह क्लिष्टता भी नहीं होती जिसे हिन्द वाले कम पढ़े लोग न समझ सकें। इसका प्रधान कारण यह है कि रेडियो वाले बोल-चाल के बहु-प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों का यथासाध्य संमिश्रण करते हैं जिनसे दुरूहता नहीं आ पाती।

इसके सिवाय रेडियो पर दी हुई सूचनाओं, संवादों तथा आलोचनाओं की भाषा का वाक्य-विन्यास कभी गुंफित नहीं होने पाता। भाषा में सुबोधता, सरलता लाने के हेतु ये सब बातें प्रयत्नतः रेडियो-सञ्चालक रखते हैं। रेडियो की भाषा को अत्यधिक स्थिर, विशद तथा टकसाली बनाने के लिए कोश बन रहे हैं और रेडियो-घर में काम करने वालों को उपयुक्त आदेश तथा अभ्यास भी दिये जा रहे हैं।

इस रीति से रेडियो अपनी एक निर्धारित भाषा-विषयक नीति के अनुरूप जिस प्रकार की सुबोध हिन्दी-शैली का प्रयोग करेगा, वही समय पाकर जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा बनेगी। इसका एक बड़ा महत्वपूर्ण परिणाम यह भी होगा कि प्रोपैगण्डा के उद्देश्य से जनतंत्र के

युग में समाज के सभी वर्गों तक विभिन्न विचारों को प्रसारित करने का जो काम रेडियो कर रहा है, उससे जनता रेडियो की पूरी दास अथवा भक्त बन जावेगी क्योंकि जैसे रात-दिन किसी सहचर के साथ रहते रहते, बात-चीत, चाल-ढाल, वेष-भूषा तथा मनोवृत्तियों से हम परिचित होकर उसके अभिन्न-हृदय से बन जाते हैं, ठीक उसी तरह घर के बैठके के एक कोने में रखे हुए रेडियो के प्रति भी कुछ वैसी ही धारणा बन जाती है। अकेले में जो हमारे चित्त को बहलाता है, ज्ञान-वृद्धि करता है, देश-विदेश के समाचार ला कर सुनाता है और हमारी मातृभाषा में ही से बोलता है, उस छोटी सी मंजूषा के प्रति हमारा स्नेह-बंधन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी-भाषियों की भाषा-शैली रेडियो की भाषा निरन्तर सुनते सुनते निस्सन्देह उसी के साँचे में वैसे ही ढल जावेगी जैसे कि भिन्न प्रान्तीय लोगों के पड़ोस में अथवा उनके संसर्ग से अपनी बोल-चाल में उन्हीं की बोली की रंगत स्वयमेव चढ़ जाती है। पर, इस दृष्टि से रेडियो वालों का काम बड़ा उत्तर-दायित्व-पूर्ण है क्योंकि सिनेमा अथवा अखबारों की अपेक्षा रेडियो दिन-दिन अधिक लोक-प्रिय और व्यापक हो रहा है।

## हिन्दी-गद्य का भविष्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आज तक हिन्दी-गद्य से आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। न जाने कितने लेखक हो गये हैं और उनके द्वारा अनेक प्रकार की शैलियों की सृष्टि हुई है।

अभी पिछले दस-पंद्रह वर्षों में हिन्दी में दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाओं की अच्छी-खासी वृद्धि हुई है। उनमें अर्थशास्त्र,

मनोविज्ञान, राजनीति-शास्त्र, तथा सभी विभिन्न विषयों पर समय समय पर लेख निकलते हैं। इसके सिवाय सामयिक घटनाओं तथा आन्दोलनों पर उनमें लगातार टीका-टिप्पणी भी की जाती है। इन सब बातों से साधारण हिन्दी-वाचकों को परिचित करने के लिए अनेक नये शब्द भी गढ़े गये हैं। अच्छे सुयोग्य सम्पादकों की देख-रेख में प्रकाशित होने वाले पत्रों में यह अंग्रेज़ी से हिन्दी में रूपान्तर करने का काम तथा उपयुक्त शब्दों को संस्कृत से अथवा घरेलू बोलियों से ढूँढ़ निकालने का काम बड़ी सावधानी से तथा कुशलता-पूर्वक हुआ है। एवं, समझ-बूझ कर गढ़े हुए प्रयोग कहीं कहीं बड़े सुन्दर और हृदयग्राही बन पड़े हैं। इनके कुछ उदाहरण दिये जायँगे।

किन्तु, अधकचरे और अनभिज्ञ सहायक-सम्पादकों ने बहुत से स्थलों पर वास्तव में साहित्य-हत्या कर डाली है। उदाहरणार्थ, जून, सन् १९४८ के 'कानपुर' के एक दैनिक पत्र में अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध मुहाविरे :— 'Born with a silver spoon in the mouth' का हिन्दी अनुवाद 'चांदी का चम्मच मुहँ में लगाये पैदा हुआ' देख कर बड़ा खेद हुआ। ऐसी अनर्गल भाषा 'दैनिक' पत्रों में शायद इसी कारण निकल जाया करती है क्योंकि अंग्रेज़ी में मिले हुए संवादों का जल्दी से जल्दी हिन्दी में अनुवाद करके उन्हें प्रेस में छपने को यथासमय देने के लिए तो ठीक तरह से सोचने विचारने का समयाभाव रहता है। यही नहीं, इस महत्वपूर्ण काम के लिए कम वेतन पर सस्ते और अपरिपक्व कर्मचारी रखे जाते हैं उनसे घण्टों काम भी लिया जाता है। उन्हें पत्र-सम्पादन की यथोचित शिक्षा भी नहीं मिल पाती। ऐसे लोग पत्रों की भाषा सत्यानाश कर देते हैं।

इधर कई वर्षों से हिन्दी-संसार में एक प्रकार की अराजकता भी फैली हुई है। कोई किसी की बात मानने को तैयार नहीं होता। 'अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग' यही मचा हुआ है। स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के बाद से हिन्दी के लेखक इतने बेनकेल तथा उच्छृङ्खल हो गये कि भाषा की साधुता, शिष्टता, शुद्धता एवं टकसालीपन की ओर से वे उदासीन ही नहीं बन गये, बल्कि उनमें उद्दण्डता और आत्माभिमान की मात्रा जरूरत से ज़्यादा बढ़ गई।

सन् १९३० के आस-पास तो इस प्रकार के साहित्य की बाढ़ सी आई जिसमें कुरुचि तथा अश्लीलता की भरमार तो थी ही किन्तु साथ ही साथ भाषा की छीछालेदर भी की जाती थी। 'विशाल-भारत' के द्वारा इस कुप्रवृत्ति का दमन करने की पूरी चेष्टा बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने की। किन्तु, उनकी नहीं चली।

'घासलेटी' साहित्य के विरोध में चतुर्वेदी जी ने जी खोल कर प्रचार तथा प्रहार किया। पर, द्विवेदीजी की सी ख्याति तथा उनकी सी धाक और उनका सा प्रभाव न होने के कारण साहित्यिक सफ़ाई और शासन का काम उनसे न बन पाया।

अब हिन्दी प्रौढ़ रूप में एक ऐसे संक्रमण-काल से निकल रही है कि जिसमें उसे सर्वाङ्गीन तथा सुव्यवस्थित रूप देना आवश्यक हो गया है।

अभी हाल ही में 'हिन्दुस्तानी' की चोटें खाकर उसे साँस लेने का अवकाश मिला है। उसे राष्ट्रभाषा बनाने के उद्देश्य से तथा साहित्यिक रूप में सब तरह से सम्पन्न बनाकर उच्च से उच्च शिक्षा का माध्यम बना कर एक निर्दिष्ट दिशा में ले चलना है। ऐसी महत्वपूर्ण परिस्थिति में

हमें सदा के लिए कुछ भाषा-विषयक सिद्धान्त तै करने हैं। लिपि, व्याकरण, वाक्य-विन्यास तथा शब्द-भाण्डार इन सभी दृष्टियों से जल्दी से जल्दी कुछ आवश्यक समस्यायें भी हल करनी हैं।

इस प्रसङ्ग में हम 'लिपि' आदि पर कुछ नहीं कहेंगे। केवल इस विषय पर संक्षेप से कुछ कहना है कि भाषा में लोच तथा व्यञ्जनाशक्ति बढ़ाने के लिए और 'हिन्दुस्तानी' मनोवृत्ति के हानिकारी कुचक्रों से उसकी रक्षा करने के लिए उपयुक्त नये शब्दों की रचना अथवा प्रचलित अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने में हमें एक सुस्पष्ट नीति स्वीकार करनी है। 'हिन्दुस्तानी'-आन्दोलन की तल में कौन कौन सी विभिन्न असाहित्यिक भावनायें समय समय पर काम करती रही हैं, उनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब 'चर्वित-चर्वण' नहीं करना है। रही, नये शब्दों के गढ़ने की बात। अभी तक नये शब्द गढ़ने का ठेका दैनिक पत्रों के सम्पादकों ने तथा अँग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए लेखकों ने ले रखा था। जगद्व्यापी क्रान्ति के युग में तथा महासमर के दिनों में इतनी द्रुत गति से नई नई घटनायें घटित होती थीं, नये वैज्ञानिक आविष्कार होते थे और अनेकानेक विचित्र विचारों का प्रचार होता था कि उन्हें जनता तक पहुँचाने के हेतु चट-पट ऐसे शब्द बनाने पड़ते थे कि जिनके द्वारा मूल अँग्रेजी-शब्दों के भाव बहुत कुछ प्रकट हो सकें।

व्यवस्थित ढंग से इस प्रकार के अनगिनती शब्द गढ़े गये और उनमें बहुत से बेतुके भी हैं। कहीं कहीं तो गढ़नेवालों ने इस बात का बिलकुल ध्यान न रखा कि बहुत से विदेशी शब्दों के बड़े सुन्दर तथा सजीव पर्यायवाची संस्कृत में घरेलू बोल-चाल की भाषा में अथवा

हिन्दुस्तानी में भरे पड़े हैं। एवं, घर के जोगी की क़दर न करके, हमने मूर्खतावश 'आन गाँव के' सिद्धोंकी पूजा की।

* ऐसे चिन्त्य प्रयोगों के कुछ उदाहरण लीजिए :—

| अंग्रेज़ी | गढ़े हुए शब्द | उपलभ्य |
|---|---|---|
| A house of Cards | ताश के पत्तों का घर | बालू की दीवार |
| Castles in the air | १ हवाई क़िले | मन के लड्डू |
| | २ हवाई घोड़े | शेख़चिल्ली के स्वप्न |
| Libertine | स्वच्छन्दवृत्ति | मनचला |
| Hopeless, fallen, worthless | पतित | गयाबीता |
| Complication, worry | ... ... | षटराग, झंझट |
| Parachute | अवतरणछत्र | |
| Novice | अनभिज्ञ | नौसिखिया |
| Immature,green | अपरिपक्व | अधकचरा |
| Commercial mentality | वणिक-मनोवृत्ति | बनियापन |

* देखिए श्री रामचन्द्र जी वर्मा कृत 'अच्छी हिन्दी' ( प्रकरण ८,९,१० )

| | | |
|---|---|---|
| Blunt | स्पष्टवादी | खरा |
| Rough | ... ... | लट्ठमार, लंठ |
| Dull | मन्दबुद्धि | जड़ |
| Stupidity | | जाड्य |
| Acute | कुशाग्रबुद्धि | तेज़ |
| Dearness, high price | महार्घता | तेज़ी, महँगाई |
| Hunger-strike | भूख-हड़ताल | अनशन |
| Romantic | स्वच्छन्दतावाद | रोमैंटिक |
| Scorched earth policy | घर-फूक नीति | सर्वक्षार-नीति |
| Precautions | सावधानियाँ | एहतियात |
| Unconfirmed | अपुष्ट समाचार | चलती ख़बर |
| To recognize | मान्यता देना | मान लेना |
| Trade union | व्यापारसंघ | मज़दूर-सभा |
| Authorised | अधिकृत | पक्की |
| Backwardness | पिछड़ापन | ... ... |
| Interview | अन्तर्व्यूह | भेंट |
| Dearness | महार्घता | महँगाई |

ऊपर दिये हुए प्रयोग कई तरह से खटकने वाले हैं। इनमें से कुछ अनुवादकों की असावधानी और जल्दबाज़ी के द्योतक हैं, क्योंकि अँग्रेज़ी प्रयोगों को हिन्दी में रूपान्तरित करते समय वे मूल के अभिप्रेत अर्थ से कोसों दूर चले गये हैं। कुछ शब्द बिल्कुल श्रुतिकटु और भद्दे हैं। 'अन्तर्व्यूह' लिखने वालों ने अँग्रेज़ी के Inter के मोह में फँस कर 'अंतर' को बिना समझे-बूझे पकड़ लिया है और एक ऐसा शब्द गढ़ कर रख दिया है जो लगता तो अच्छा अवश्य है किन्तु बिल्कुल भ्रष्ट है। ऐसी मनमानी करने से हिन्दी-भाषा का सत्यानाश होने की सम्भावना है *।

'सावधानियाँ' तो एकदम विचित्र चीज़ है। 'पिछड़ापन' भी ऐसा ही बेतुका और श्रुतिकटु है।

कई शब्द ऊपर ऐसे ही मिलेंगे जो प्रयोग करने वालों तथा गढ़ने-वालों की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं। अपनी बोल-चाल की भाषा में उपलभ्य सरल और व्यञ्जक शब्दों को छोड़ कर सीधे संस्कृत से लाकर उन्होंने नये नये शब्द रख दिये हैं। 'आये नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जायँ' वाली बात याद आती है। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से याद रखनी है। अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दी-लेखकों के हाथ में अभी कुछ समय पहले तक भाषा का रूप विकृत इस कारण हो जाया करता था क्योंकि उनके दिमाग़ों में अँग्रेज़ी के ही शब्द तथा मुहावरे चक्कर काटते रहते थे। इसके सिवाय उनकी यह भ्रमपूर्ण धारणा सी बन गई थी कि हिन्दी को समृद्ध एवं प्रगतिशील बनाने के लिए अँग्रेज़ी से ही शब्द

---

* 'अन्तरिम सरकार' भी एक ऐसी ही शब्द-सृष्टि का नमूना है।

लाकर इकट्ठे करने की जरूरत है। यही कारण है कि अँग्रेजी में सोचकर और आपटे के संस्कृत कोश को सामने रखकर नये नये शब्द गढ़ने में बहुत से हिन्दी-लेखक जुट गये।

वे यह भूल गये कि केवल अँग्रेजी के प्रश्रय से हिन्दी की स्वतन्त्र भाषा-शैली कभी नहीं बन सकती। जब तक हम अपने निज की साहित्यिक निधि को, जो विभिन्न प्रान्तीय बोलियों तथा ग्रामीण बोल-चाल की भाषा में बड़े सरस, सजीव और भाव-पूर्ण रूप में भरी पड़ी है, काट-छाँट कर सजाने का प्रयत्न न करेंगे, तब तक हमारी भाषा का अन्तर्निहित सौन्दर्य कभी प्रस्फुटित न हो सकेगा। केवल अँग्रेजी सरीखी विदेशी भाषा की मुखापेक्षा करने से हिन्दी का शील नष्ट हो जाने की आशंका है *।

भाषा-कोविदों तथा साहित्य-मर्मज्ञों का यह ध्येय होना चाहिए कि वे अपनी भाषा की समुन्नति के लिए नये नये विषयों का विशद रूप में प्रतिपादन करने के हेतु सब कहीं से उपयुक्त शब्द उधार लें अथवा समझ-बूझ कर नये शब्द गढ़ें। पर इसका यह अर्थ तो नहीं है कि किसी एक भाषा से ही अन्धाधुन्ध शब्द लेकर भरते जायँ। अनुवादकों, पत्रकारों तथा स्वतंत्र लेखकों को इस विषय में काफ़ी सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि भाषा का बनना बिगड़ना उन्हीं के ऊपर निर्भर रहता है। आगे चल कर एक दूसरे प्रकरण में 'सिनेमा' तथा 'रेडियो' के भाषा-सम्बन्धी प्रभाव पर विचार किया जावेगा। आधुनिक संसार के वे दोनों बड़े महत्वपूर्ण

---

* रामचन्द्र जी वर्मा की 'अच्छी हिन्दी' का परिशिष्ट

आविष्कार हैं। समाचारपत्रों की अपेक्षा वे जनता के अधिक सन्निकट हैं, और उनके द्वारा बड़ी से बड़ी सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियाँ खड़ी हो सकती हैं। जनता को सभी सामयिक विषयों की जानकारी करा के उन्हें जागरित तथा चैतन्य नागरिक बनाने के उद्देश्य से उपयुक्त प्रोग्रैमों की योजना करके रेडियो द्वारा नये नये विचारों का प्रसार होता है।

यहाँ विषयान्तर होने के डर से अभी कुछ अधिक न कहेंगे। ऊपर हम हिन्दी की भाषा-शैली को सजीव, सुचारु, व्यञ्जक तथा सुस्पष्ट बनाने की दृष्टि से दो प्रकार के साहित्यिक कट्टर-पंथियों से सावधान रहने की सलाह दे चुके हैं। एक वर्ग उन साहित्य-महारथियों अथवा पण्डितों का है जो हिन्दी को संस्कृतमयी बनाने में कटिबद्ध हैं और दूसरा ऐसे प्रचारकों का है जो 'हिन्दुस्तानी' की आड़ में अपनी भाषा का अस्तित्व ही मिटाने पर तुले हुए हैं।

हमें इन दोनों के बीच वाले मार्ग पर चलना ही हितकर हो सकेगा। न हमें केवल संस्कृत का ही सहारा लेना है, न उर्दू-फ़ारसी का और न केवल घरेलू प्रान्तीय बोलियों का। किसी शब्द के ग्रहण करने अथवा निकालने में यही विचार रखना पड़ेगा कि वह प्रचलित है या अप्रचलित। इसके साथ साथ यह भी देखना होगा कि वह किस हद तक अभिप्रेत भाव को या विचार-धारा को प्रकट करने में समर्थ है। भाषा के वाक्य-विन्यास की विशदता और तरलता तथा प्रवाह जिस प्रकार की शब्दा-वली से अधिकाधिक सुधर सकें वही स्वीकृत होनी चाहिए।

किसी नई राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक समस्या से संबंधित

आलोच्य विषय पर विचार करते समय हमें साधारण बोल-चाल की घरेलू भाषा में कभी कभी ऐसे सजीव मुहावरे मिल जाते हैं कि जिनसे अच्छे पर्यायवाची शब्द संस्कृत में मिल ही नहीं सकते। ऐसी दशा में 'गँवारू बोली' समझ कर उन्हें काम में न लाना बड़ी भारी भूल है। ऐसे बहुत से 'ठेठ' भाषा के शब्दों की एक तालिका इस अध्याय के अन्त में दी जा रही है।

इसी प्रकार संस्कृत में भी न जाने कितने शब्द और मुहावरे मिल सकते हैं, जिनके तद्रूप न तो नये शब्द ही गढ़े जा सकते हैं और न और कहीं मिल ही सकते हैं। सुन्दर गद्य-शैली तभी बन सकेगी जब हम जटिलता तथा निर्जीवता को दूर रखते हुए भाषा के 'लोच' को बढ़ाने के लिए सब जगह से उपयुक्त शब्द-सामग्री बटोरने में लग जायँ।

## तालिका नं० १

यहाँ ऐसे थोड़े से साधारण घरेलू बोल-चाल में प्रचलित भावपूर्ण और सजीव शब्द तथा मुहावरे दिये जाते हैं जिन्हें हिन्दी में साहित्यिक व्यवहार में स्थायी रूप से स्थान देना हितकर है। यही नहीं ये इतने हृदयग्राही हैं कि शुद्ध तत्सम शब्द उनके सामने फीके मालूम पड़ेंगे, क्योंकि उनके प्रयोग से भाषा-शैली में दुरूहता अथवा नीरसता आ जाने की आशंका रहेगी।

| | |
|---|---|
| छाती का पीपल | Eye-sore |
| भण्डाफोड़ करना | To expose |
| मन-मोटाव | Misunderstanding |
| कुवाँ खोद कर पानी पीना | To live from hand to mouth |

| | |
|---|---|
| बिना पेंदे का लोटा | |
| नव-बढ़ा | Upstart |
| बीरबल की खिचड़ी | |
| लीपापोती करना | |
| बम्हनई | |
| गाहे-बगाहे | Casually |
| अक्खड़ | |
| गोलमटोल | |
| अँधेर, पोल | Mismanagement |
| गंगा-मदार का साथ | |
| धाँधली | |
| काँइयाँ | Shrewd |
| कठमुल्ला | Wooden |
| खाऊ, कमाऊ, टिकाऊ | |
| सेंतमेंत | Gratis |
| ऐरे-ग़ैरे | Tom, Dick and Harry |
| अटकलपच्चू-अललटप्पू | At random |
| ऊट-पटाँग | |
| लगुआ-भगुवा | Hanger-on |
| चलताऊ ( काम ) | Indifferent, Journeyman work |
| मीनमेख, शशपंज | |

| | |
|---|---|
| सङ्कल्प-विकल्प | |
| चलती रक़म, चलतापुर्जा, घाघ | |
| रगड़ | Perseverence |
| जड़-भरत | Dullard |
| बगुला-भगत | Hypocrite |
| शेखी | |
| द्रौपदी का चीर | |
| शिखण्डी | Cat's paw |
| मनगढ़न्त | Imaginary |
| षटराग, झमेला, झंझट | |
| मिली-भगति | |
| टेढ़ी-खीर | |
| उड़ना ( चालाकी करना ) | |
| कानाफूसी | |
| चढ़ाऊपरी | Competition |
| लाग-डाँट | Rivalry |
| घरघुसा | |
| भड़भड़िया | |
| खुर-पेंच, तिकड़म | |
| ऊभड़-खाभड़ | |
| महादेव की बरात | |
| गोबर-गनेश | |

नाच-नचाना

थोपना, मढ़ना

चूना लगाना

जी चलना, मन चलना

मन-लहरी

उधेड़-बुन

घर करना

दक़ियानूसी

बुद्धू

ज़बानी जमाख़र्च

काग़ज़ी घोड़े

चुनौती देना

## तालिका नं० २

नीचे कुछ ऐसे संस्कृत के शब्द दिये जाते हैं जो बड़े काम के हैं। वे इतने सार्थक तथा भावपूर्ण हैं कि उनके बदले में हमें शायद ही और कहीं तद्रूप प्रयोग मिल सके। इस हिसाब से उन्हें अपनी भाषा के परिवार में एक सम्मानित स्थान देना होगा :—

किंवदन्ती

दन्तकथा

आकाशी वृत्ति Improvident

बेला

जनश्रुति

कूप-मण्डूक

प्रज्ञावाद

स्वान्तः सुखाय

येन-केन प्रकारेण

नीर-क्षीर-विवेक

निर्गन्ध किंशुक

कण्टकेनैव कण्टकम्

चिरारम्भ ( उतावलेपन में काम न करने वाला )

दीर्घसूत्री

पल्लवग्राहि पाण्डित्य

गजभुक्त कपित्थ

अनाविद्ध रत्न

इङ्गितज्ञ

अजागलस्तन

किंकर्त्तव्य-विमूढ़

गतानुगतिक ( लीक पीटने वाला )

टिप्पणी :—

हिन्दी-वालों का संस्कृत का आश्रय लेना उचित और स्वाभाविक ही है, क्योंकि हमारी भाषा संस्कृत-जनित प्राकृत से निकल कर एक जनपद-अपभ्रंश के रूप में हमें मिली है। किसी पर्वत में स्थित उद्गम-स्थान से निकल कर जैसे कोई नदी आगे बढ़ती हुई कई छोटी-मोटी जल-राशियों को समेटती हुई एक विशाल धारा में परिवर्तित हो जाती है, ठीक उसी

प्रकार हिन्दी भी संस्कृत से निकल कर कालान्तर में विभिन्न देशी-विदेशी भाषा-सामग्री को अपनी ग्राहिका-शक्ति द्वारा हज़म करती हुई अपने वर्तमान रूप में विकसित हुई है। पर समय समय पर दूसरी भाषाओं का संमिश्रण होने पर भी हिन्दी का मौलिक स्वरूप तथा उसकी प्रकृति संस्कृत से मिलती जुलती है। भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं तथा विचार-धाराओं की झलक भी उसमें विद्यमान है। इसीलिए हिन्दी का क्रमिक विकास संस्कृत से ही सदैव अनुप्राणित होता रहेगा। जब अपने नये नये विचार प्रकट करने के लिए हमें उपयुक्त शब्दों की आवश्यकता होगी तब संस्कृत के अगाध वाङ्मय में ही हमें ग़ोते लगाने पड़ेंगे।

पर संस्कृत से शब्द-याचना करते समय हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि माता से माँगी हुई चीज़ की दुर्गति न हो। जो शब्द हम संस्कृत से हिन्दी में उधार लें उनका आकार-प्रकार अधिक बिगड़ने न पाये, उनका अर्थ का अनर्थ न हो तथा व्याकरण-व्यवस्था उल्टी-सीधी न हो। ये सभी बातें हिन्दी-लेखकों को निरन्तर सजग होकर ध्यान में रखनी होंगी।

दुर्भाग्य की बात है कि जिन हिन्दी-लेखकों को संस्कृत का ज्ञान नहीं है, वे संस्कृत से शब्द लेकर बहुधा उनकी छीछालेदर कर डालते हैं। ऐसे बहुत से असाधु प्रयोग चल भी जाते हैं। इस समय जबकि देश अँग्रेजी शासन से विमुक्त होकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत कराने पर कटिबद्ध हो रहा है और एतदर्थ हिन्दी को सर्वांगपूर्ण बनाने में लगा है, हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम जो नये शब्द बनावें बहुत सोच-विचार कर बनावें।

भाषा-सम्बन्धी सभी समस्याओं पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से हमें विचार करना है, जिससे आगे चल कर उत्तरोत्तर हमारी भाषा संसार की दृष्टि में पूर्णरूपेण संयत, समीचीन तथा सम्पन्न प्रतीत हो। इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए इस समय विद्वान् भाषा-शास्त्रियों तथा भाषा-तत्वज्ञों को निर्भीक होकर असावधान तथा स्वेच्छाचारी लेखकों को मर्यादित रखने के लिए कड़ी आलोचना करनी चाहिए यदि वे पथ-भ्रष्ट हो रहे हों।

रामचन्द्र जी वर्मा लिखित 'अच्छी हिन्दी' * नाम की पुस्तिका इस दृष्टि से बड़े काम की है। ऐसी और भी पुस्तकें तथा लेख निकलने चाहिए।

## तालिका नं० ३

**कुछ हाल ही में गढ़े हुए बैधानिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक युद्ध-कालीन शब्द :—**

| अँग्रेज़ी शब्द | हिन्दी का रूपान्तर |
|---|---|
| To contest elections | चुनाव लड़ना |
| Constituency | निर्वाचनक्षेत्र |
| Referendum, plebiscite | मतसंग्रह |
| Adult franchise | वयस्क-मताधिकार, बालिग़-मताधिकार |
| Constitutional | वैध |
| Cut motion | कटौती प्रस्ताव |
| Supplementary question | पूरक प्रश्न |
| Draft | आलेख |
| Merging | एकीकरण |

| | |
|---|---|
| Armistice | विराम-संधि |
| Stand-still agreement | यथापूर्व समझौता |
| March, expedition | अभियान |
| Inflation | मुद्रा-स्फीत |
| Consumer | उपभोगी |
| Private enterprise | व्यक्तिगत उद्योगवाद |
| Money economy | महिमा-द्रव्य-मूल्य |
| Nationalisation | राष्ट्रीयकरण |
| Control | नियंत्रण, कंट्रोल |
| Profiteering | मुनाफ़ाखोरी |
| Corruption | भ्रष्टाचार |
| Sterling balances | पौंड-पावना |
| Standard of living | जीवन-स्तर |
| Sub-conscious self | अवचेतन मन |
| Fascism | अधिनायक-वाद |
| Caretaker government | कामचलाऊ सरकार |
| Delegation | शिष्ट-मण्डल |
| Award | पंच-निर्णय |
| Priority | प्राथमिकता |
| Parallel government | पटरी सरकार |
| Blitz-krieg | धुँवाधार बम-वर्षा |
| Hand-grenade | हथगोला |

| | |
|---|---|
| Paramountcy | प्रभुत्व |
| Rehabilitation | पुनर्निवास |
| Economic inequalities | आर्थिक विषमतायें |

**टिप्पणी :—**

इस सूची में कुछ शब्द इतने सुन्दर और उपयुक्त हैं कि उनके गढ़ने वालों को बिना साधुवाद दिये जी नहीं मानना। वे बनाने वालों की अनुपम सूझ का परिचय देते हैं। 'भ्रष्टाचार', 'कामचलाऊ सरकार', 'पटरी सरकार' विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। 'अधिनायक-वाद से 'फ़ासिज़्म' का शाब्दिक अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। 'व्यक्तिगत उद्योगवाद' तथा 'महिमा-द्रव्य-मूल्य' बड़े भयङ्कर और लम्बे-चौड़े हैं। 'पूरक प्रश्न' से कुछ और ही अर्थ निकलता है। इसकी जगह कोई दूसरा शब्द ढूँढ़ निकालना पड़ेगा।

इसी प्रकार 'पुनर्निवास' 'Rehabililation' का अधूरा पर्याय-वाची है। अँग्रेज़ी शब्द से केवल 'बे घर को बसाने' का ही बोध नहीं होता। उसे सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करने की सुविधा देने का भी अभिप्राय अँग्रेजी शब्द में निगूढ़ है।

अन्त में यह कहना है कि यदि हिन्दी-गद्य को सजीव बनाना है तो हमें उसका रुख यथासम्भव बोलचाल की भाषा की ओर करना पड़ेगा। इसी सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि अभी तक सब कुछ उन्नत होने पर भी हिन्दी-गद्य की भाषा में 'गागर में सागर भरने' वाली शक्ति का अभाव है। थोड़ी सी बात को संक्षेप तथा चित्ताकर्षक ढंग से व्यक्त करने में वह असमर्थ सी है। जो लेखक ऐसा करने का प्रयत्न भी करते

जितना कि उसे उपयुक्त भाषा में व्यक्त करना है। इसके सिवाय भावों की विशदता और भाषा के सौष्ठव का सामंजस्य सुरक्षित रखने की शक्ति असंख्य लेखकों में से कुछ विरलों ही की होती है। इन्हीं कठिनाइयों का महाकवि भारवि ने अपने निम्नलिखित तीन श्लोकों में उल्लेख किया है :—

"विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयानपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥१॥
भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्तिये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥२॥
स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः ॥३॥"

भारवि ने इन शब्दों में लेखकों की उस कठिनता की ओर भी इशारा किया है जिसका अनुभव उन्हें उस समय होता है जब वाचकों की रुचि-वैचित्र्य का विचार करते हुए वे किसी विशेष शैली का आश्रय लेते हैं। भाषा की सालंकारिता तथा सामान्यता दोनों में से एक भी समानरूप से सब वाचकों को पसन्द नहीं होते। किसी को निरी शाब्दिक झंकार से ही आनन्द प्राप्त होता है और उसके विपरीत किसी किसी की मनस्तुष्टि तभी होती है जब कि प्रबन्धों में भावपूर्णता रहती है। ऐसे लोग केवल शब्दाडम्बर से कभी तृप्त नहीं होते।

परन्तु वास्तव में सच्चा भाषा-सेवी वही है जो वाचकों की रुचि का थोड़ा-बहुत अवश्य ध्यान रखता है, किन्तु जो उनको प्रसन्न करने ही के लिए अपना कर्तव्य कभी नहीं भूल जाता। मतलब यह है कि जिन

लेखकों को लेखन-कला में सिद्धहस्तता प्राप्त करने का हौसला होता है और जो अपनी शैली में अपनी खास छाप छोड़ जाने की आकांक्षा रखते हैं वे भाव-प्रदर्शन मात्र की इच्छा से ही अपने ध्येय को सीमित नहीं करते। वे अन्य कलाकारों के सदृश अपने मनोवेगों तथा विचारों को जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने का उद्देश्य तो रखते ही हैं, साथ ही साथ वे अपनी भाषा को कला की रुखानी से सुचिक्कण बनाने का भी ध्यान रखते हैं।

जिस समय कोई लेखक भाव-व्यंजन-मात्र के उद्देश्य से ऊपर ऊँचा उठता है और शब्द-चयन तथा वाक्य-विन्यास का भी समुचित ध्यान रखकर अपनी लेखनी चलाता है, उसी समय शैली अथवा स्टाइल (Style) का जन्म होता है। अतएव, किसी भाषा की लेखन-प्रणाली विचार-शून्य तथा निरुद्देश्य लेखकों के हाथ से कभी परिमार्जित नहीं बनती। जब पं० बालकृष्ण भट्ट से मननशील लेखकों के चित्त में इस बात की गड़न हो जाती है कि 'हिन्दी में प्रोज़ (गद्य) है ही नहीं' और इसी लिए समझ बूझ कर उत्कृष्ट गद्य की रचना करनी चाहिए, तभी सुघर शैली का, जिसे स्टाइल कहते हैं, आविर्भाव होता है।

संस्कृत के प्राचीन साहित्य-मर्मज्ञों ने शैली की समस्याओं पर काफ़ी विचार किया है। यद्यपि लगभग ८ वीं शताब्दी तक 'साहित्य' शब्द का प्रयोग उस व्यापक अर्थ में नहीं हुआ जिसमें वह अब होता है, और क्या गद्य, क्या पद्य सभी की गणना 'काव्य' में होती थी, तथापि उन्होंने 'काव्य' की मीमांसा करते हुए शाब्दिक छान-बीन खूब कर डाली थी। काव्य के विषय में जो जो गुण और दोष उन्होंने दिखाये हैं वे गद्य-शैली

पर भी अधिकांश में घटित हो सकते हैं *। क्योंकि, कविता और गद्य वस्तुतः एक हैं; दोनों ही 'शब्द–ब्रह्म' की उपासना के साधन हैं और दोनों ही के द्वारा सहृदय पुरुष अपनी ईश्वर–प्रदत्त वाक्शक्ति को सुसज्जित रूप में प्रत्यक्ष प्रकट करते हैं। लय और सुर केवल कविता के ही उपादान नहीं हैं। गद्य में भी वे अदृश्य रूप में उपस्थित रहते हैं और चतुर भाषा-ज्ञानियों की उंगली तुरन्त उन पर पड़ जाती है।

किसी भी काव्यमय अथवा गद्यमय प्रबन्ध की शैली के दो मुख्य भाग होते हैं, भाव तथा भाषा। भावों के अन्तर्गत कई बातें होती हैं। लेखक की विचारशीलता, काल्पनिक क्षमता तथा मनोवेग इन तीनों का परिचय एक साथ उसके लेखों की रचना से होता है। अर्थात् जिस लेखक की रचनाओं में न तो केवल विचारों की ही भरमार होती है न काल्पनिक उड़ान ही का आधिक्य रहता है और न केवल आवेशपूर्णता से ही सारे वाक्य सराबोर रहते हैं; उसी की शैली उत्कृष्ट मानी जाती है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल उपर्युक्त भाव-विषयक उपादानों की उपस्थिति से ही कोई साहित्यिक रचना सर्वाङ्गसम्पन्न कही जा सकती है। यदि उनमें शाब्दिक रूप-सौंदर्य नहीं तो उसकी वह भावपूर्णता ऐसी ही प्रतीत होगी जैसी कि विदुषी परन्तु कुरूपा स्त्री। यह विवाद अनन्तकाल से चला आया है कि कविता में कौनसी चीज़ अधिक महत्वपूर्ण होती है, भाषा अथवा प्रतिपाद्य विषय। जगन्नाथ पंडितराज ऐसे कुछ लोग तो कहते हैं कि "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः

---

*"गद्यं कवीनां निकषा वदन्ति"

अर्थात्, कवि की कवित्वशक्ति की कसौटी गद्य ही है।

कार्य्य"। वामनाचार्य जैसे कुछ लोग शैली को विशिष्ट पदरचना से युक्त रखना चाहते हैं। इसी प्रकार अँगरेजी में भी कोलिरिज ने 'Best words in their best order' तथा ड्रिंकवाटर ने 'Pregnant and living words' इन उक्तियों में भी भाव पूर्ण और सजीव शब्दावली पर जोर देकर इस बात का निदर्शन किया है कि किसी रचना की मनोहारिता अधिकतर उसकी भाषा से ही प्रस्फुटित होती है।

विचारों के प्रेमी लोग चाहे जितना अपने पक्ष के समर्थन में चिल्लावें, अधिकांश साहित्यिक निर्णायकों का यही मत है कि गद्य तथा पद्य दोनों की हृदयग्राहिता शब्द-चयन पर ही निर्भर है। अतएव अब गद्य-शैली का विवेचन करते हुए इस बात की गवेषणा की जावेगी कि भाषा किन किन रूपों में उसके चमत्कार की वृद्धि कर सकती है।

यद्यपि अँगरेजी में जो 'स्टाइल' (Style) शब्द है उसका सा तद्रूप भावपूर्ण पर्यायवाची संस्कृत में नहीं है, यद्यपि प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है *। उस 'रीति' से केवल किसी लेखन-प्रणाली मात्र का बोध होता है उससे इस बात की ध्वनि नहीं निकलती कि जो लेखक जिस रीति विशेष का अनुयायी है उस पर उसकी वैयक्तिक प्रकृति अथवा उसकी मानसिक विशेषताओं की अविकाल प्रतिच्छाया लगी होगी।

हिन्दी-गद्य-विषयक कतिपय आवश्यक सिद्धान्तों की खोज करने के लिए संस्कृत के साहित्यकारों के उन सिद्धान्तों का अवलम्बन करना अनिवार्य है जो वे शैली के सम्बन्ध में निर्धारित कर गये हैं। भाषा के

---

* पद-संघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत ( साहित्यदर्पणे )

विचार से मम्मट ने तीन प्रधान शैलियाँ मानी हैं:—गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली। इनमें से गौड़ी और वैदर्भी मुख्यरीति से उल्लेख्य हैं।

विशेष कर 'गौड़ी' रीति ओजपूर्ण शब्दावली से भरी होने से परुष या कर्कश समझी जाती थी। अर्थात् 'ओज' या 'समासबाहुल्य' उसका खास गुण होता था।

इसी प्रकार 'वैदर्भी' शैली दण्डिन की परिभाषा के अनुसार 'माधुर्य-व्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका' अर्थात् माधुर्य-रस से युक्त होती है और उसमें कोमल-कान्त-पदावली होती है।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की शैलियों का वर्गीकरण व्यापक न था। क्योंकि बात यह है कि जितने लेखक होते हैं उतने ही प्रकार की शैलियाँ भी होती हैं। एक ही लेखक जो सचमुच सजीव-हृदय है उसके भी लेख सदैव एक से नहीं होते। परिवर्तनशीलता का ही दूसरा नाम सजीवता है। अतएव, परिस्थिति अथवा मन-तरंगों की विभिन्नता के अनुरूप एक ही पुरुष कई प्रकार की शैलियों में लिख सकता है। यह अवश्य होता है कि किसी लेखक के अनेक लेखों में चाहे जितना भाषा-वैचित्र्य क्यों न हो किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से उन सब में "कोई न कोई ऐसी समान बातें अवश्य मिलेंगी जो उसकी वास्तविक वैयिक्तिकता की द्योतक होंगी। बस, इसी विचार से प्रत्येक लेखक को शैली के हिसाब से श्रेणीबद्ध किया करते हैं, और स्थूलरूप से मुख्य मुख्य प्रकार की रीतियों के अध्ययन की सुविधा के लिए एकत्र करके उनका वर्गीकरण किया जाता है।

अस्तु, शैली के विभाग तथा उनकी विवेचना शब्द-चयन पर ही अवलम्बित होती है। क्योंकि, प्रत्येक सुपाठ्य निबन्ध की रोचकता उसकी

शब्दावली पर ही निर्भर होती है, और इसके प्रतिकूल गम्भीर से गम्भीर भावों से भरा होने पर भी वही नीरस सिद्ध हो सकता है यदि उसकी भाषा में किसी प्रकार का शैथिल्य अथवा अनुपयुक्तता हो। परन्तु, अकेले शब्द भी चाहें जितने भावपूर्ण वे क्यों न हों, कहीं कुछ नहीं कर सकते। जब वे एक दूसरे से गूथे जाकर वाक्यों के रूप में रक्खे जाते हैं तभी उनका चमत्कार खुलता है। इसी से प्राचीन आचार्यों ने शब्दों के तीन गुण माने हैं:—शक्ति, गुण और वृत्ति।

शताब्दियों तक बोलचाल में व्यवहृत होते होते जो अर्थ-पूर्णता प्रत्येक शब्द के शरीर में व्याप्त हो जाती है वही उस शब्द की शक्ति होती है। इस विषय में अधिक विस्तार से आगे विचार किया जावेगा। गुणों से तात्पर्य उस प्रकार के अन्तिम प्रभाव से है जो कई शब्दों के समूह के द्वारा वाचक पर पड़ता है। एवं, ओज, प्रसाद और माधुर्य ये तीन मुख्य गुण हैं जिनकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती परन्तु उनकी उपस्थिति किसी भी लेख में सरलता से जानी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि वे गुण अकेले शब्दों में नहीं मिलते किन्तु वाक्यों में गुप्त रीति से छिपे रहते हैं।

'वृत्ति भी वाक्यों की एक शक्ति है। शब्द यदि अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो वह उनकी अभिधावृत्ति होती है। इसी प्रकार यदि एक ही शब्द के कई अर्थों का बोध हो तो वे 'लक्षणावृत्ति' में प्रयुक्त समझे जाते हैं। व्यञ्जना-शक्ति तब प्रकट होती है जब कोई शब्द अपने असाधारण अर्थ का वाची होता है।

संस्कृत में उत्कृष्ट शैली की परख शब्दों की इस व्यञ्जना-शक्ति के

आधिक्य से की जाती थी। पाश्चात्य साहित्यज्ञों ने भी विशेषकर 'रोमैंटिक' (Romantic) समालोचकों ने भी उच्चकोटि के साहित्य का एक बड़ा भारी लक्षण यही माना है कि वह व्यक्त बहुत कम बातें करता है, किन्तु व्यंजना-वृत्ति के द्वारा इंगित बहुत कुछ करता है।

वाक्यों और वाक्य समूहों में इन तीनों वृत्तियों का संचार व्यक्तिगत शब्द ही करते हैं। इस लिए शब्द-चयन के ऊपर पहले सविस्तर विचार करना उचित है। तदुपरान्त वाक्यों के भिन्न भिन्न उन गुणों का उल्लेख करना होगा जिनके होने से गद्य-शैली की प्रभावपूर्णता की अभिवृद्धि होती है।

साहित्य भी एक कला मानी गई है। उसकी तुलना प्रायः वास्तु-विद्या तथा संगतराशी से की जाती है। जिस तरह ईंट तथा गारे की मदद से कारीगर लोग सुन्दर से सुन्दर भवन तैयार करते हैं, और संगतराश अपनी रुखानी से सफ़ाई से अनगढ़ पत्थर को तराश करके बड़ी मनोहारी मूर्तियाँ बना कर रख देते हैं; उसी तरह साहित्यकलाकार अपनी स्मृति में गड़े हुए शाब्दिक ख़ज़ाने से रत्नों को खोद खोद कर कोरे काग़ज़ पर क़ारिख और लेखनी की सहायता से ऐसे द्रव्य का निर्माण करते हैं जो समय की क्षयकारी शक्ति से भी सुरक्षित रहती है।

परन्तु, साहित्यिक कलाकारों को मूर्तिकारों तथा भवन-निर्मायकों की अपेक्षा कई सुविधायें रहती हैं। एक तो लेखक के उपकरण अधिक कोमल तथा लचीले होते हैं। यदि मूर्तिकार, जिसे आठों पहर जड़ पत्थर से काम पड़ता है, अपनी प्रतिमाओं में अपनी आदर्श प्रतिमा के सम्पूर्ण भावों का समावेश करना चाहे, तो उसे इस भय से कि कहीं रुखानी

अनर्थ न कर बैठे, अपनी आन्तरिक प्रेरणा को सन्तुष्ट करना असम्भव हो जाता है। एवं मूर्तिकार तथा भवन-निर्मायकों को इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण अपनी कृतियों में अपनी आत्मा का सच्चा प्रतिबिम्ब डालने का कम अवकाश मिलता है।

इसके प्रतिकूल साहित्यकार अपनी शैली में ही प्रकृति-वैचित्र्य, मन की तरंगों, अपने सौन्दर्य-प्रेम, अपने जीवन-विषयक विचारों, नैतिक भावों को तथा सभी मानसिक अवस्थाओं को सरलता से व्यक्त कर सकता है। सिवाय इसके साहित्यिक कलाकार को एक और सुविधा होती है। अर्थात् किसी बात को व्यक्त करने में जिस कठिनता का साधारणतः और कलाकारों को अनुभव होता है वह लेखक के विषय में न्यूनातिन्यून यों हो जाती है कि भाषा का अक्षर अक्षर तथा शब्दों की ध्वनि और उनमें गुप्त रीति से छिपी हुई उनकी उत्पत्ति का इतिहास यह सब उसके अभिप्राय की विशदता को बढ़ाने में सहायता करते हैं।

देखिए न कि यदि किसी नाज़ुक ख़्याल को भाषा का जामा पहना कर रखना है तो 'द, ध, न, ग, ज, ब, म, य, र, ल, व, ह' आदि अक्षरों की पुनरावृत्ति से जिन्हें संस्कृतवालों ने अल्पप्राण अथवा श्रुति-मधुर माना है, तथा ऐसे मार्दवपूर्ण शब्दों के प्रयोग से जिनकी ध्वनि से ही सुकुमारता टपकती है, लेखक अपना उद्देश्य बड़ी सरलता से सिद्ध कर सकता है। तात्पर्य यह है कि साहित्यिक कला में व्यक्त करने के बहुत से साधन हैं जो मूर्ति-विद्या तथा वास्तु-शास्त्र में हैं ही नहीं।

उदाहरणार्थ कालिदास के 'अजविलाप' से इन्दुमती की सुकुमारता के विषय का यह श्लोक लीजिए :—

इन्दुमती माला के गिरने से मर गई और उसको चिता पर रखने की तैयारी हो रही है। अज-पत्नी की सुकुमारता का विचार करके वे कहते हैः—

"नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत् यदंगर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यसे कथं वद वामोरु! चिताधि रोहणम्॥"

अर्थात् 'जीवितावस्था में इन्दुमती अपनी कोमलता के कारण पेड़ों की नई कोपलों के बिछौने पर लेटा करती थी और तब भी उनसे उनके अंग दुखते थे। वे ही अब भला चिता की कठोरता का कैसे सहन कर सकेंगी?'

इसी सौकुमार्य को व्यक्त करने के लिए मूर्तिकार की क्या सामर्थ्य हो सकती है? यही नहीं हृद्गत भावों को ज्यों का त्यों व्यक्त करना शब्दों ही के द्वारा सम्भव होता है और यह क्षेत्र लेखकों का ही है।

साहित्य-कला में भाव-प्रदर्शन अथवा वाह्य जगत् के पदार्थों का वर्णन करने के लिए जो उपयुक्त शब्दों की खोज की जाती है और उनका एकत्रीकरण किया जाता है उसमें ज्ञानेन्द्रियों तथा स्मृति का बड़ा विचार रखा जाता है। बात यह है कि किसी लेखन-शैली की उत्तमता तथा हृदयग्राहिता तीन गुणों पर निर्भर रहती हैः—सुर, अर्थ और सजीवता अथवा चित्र-पूर्णता। एवं, शब्द-चयन करते समय इन तीन बातों का ध्यान प्रत्येक उच्च कोटि के लेखक को रहता है। दूसरी तरह इसी बात को यों कह सकते हैं कि टकसाली गद्य के प्रत्येक शब्द में एक प्रकार की सुमधुर झंकार होती है, उसके अर्थ में विशदता होती है तथा उस अर्थ का बोध ऐसे शब्दों के द्वारा होता है जो उसका चित्र सा खींच कर रख देते हैं। वास्तव में, इसी अर्थ-प्रकाशन के लिए ही इतने बड़े

अलंकार-शास्त्र की रचना की गई है। यदि सच पूछिए तो यही कहना पड़ता है कि 'All language is metaphor' अर्थात् भाषामात्र, सीधीसादी तथा सालंकारिक, सभी वस्तुतः रूपकों का पुंज है क्योंकि प्रत्येक शब्द अर्थ का खज़ाना होता है। जिस समय जिस परिस्थिति में तथा जिस भाव को व्यक्त करने के लिए वह पहले पहल कभी गढ़ा गया होगा, इन बातों का इतिहास उसमें भरा होता है। यही कारण है कि किसी भी शब्द का उपयुक्त पर्यायवाची नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त की भित्ति पर सारी शैली-विषयक मीमांसा की इमारत खड़ी है। इसी से शब्दों के प्रयोग से ही लेखकों की साहित्यिक शक्तियों का पता लग जाता है।

परन्तु यह कहने से कि पर्यायवाची शब्द होते ही नहीं यह तात्पर्य कदापि नहीं कि एक शब्द के कई अर्थ भिन्न-भिन्न मौक़ों पर नहीं हो सकते। यदि एक शब्द एक ही अर्थ का द्योतक होता तो साहित्य-कला का लोप ही न हो गया होता और शैली का सारा आनन्द रहा ही न होता। सच तो यह है कि लेखक की योग्यता का परिचय सब से अच्छी तरह केवल इसी एक बात से होता है कि उसने अपने शब्दों के बहुत से अर्थों में से किसे उन्नत रख कर उन्हें व्यवहृत किया है। प्रकांड लेखकों की यही एक परख है।

"जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना नहीं जाना उसकी आँखें दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी ?"......

तथा, "कहाँ वह हवा के ठंडे झोंके, कहाँ वह बन की एकान्त भूमि, पर्वत का वह सुरम्य पड़ोस, गंगा की हरहराती धारा, पास में हरित

मलयप्रपात, उसकी गोद में लहराती और मचलाती शाखा !"

इन पंक्तियों में 'कट्टर', 'पिघलना', 'पसीजना' और 'मचलाती' आदि जो शब्द हैं, वे सब अपने साधारण अर्थों में नहीं प्रयुक्त हुए, बल्कि गौण, अलंकारिक रीति से व्यवहृत होने के कारण उनसे भावों की विशदता तथा सजीवता खूब बढ़ गई है।

यदि साधारण प्रकार का कल्पनाशून्य वाचक इन्हीं ऊपर के अवतरणों को पढ़ते समय 'कट्टर' के माने 'काटने वाला', 'पिघलना' के माने 'मोम या बर्फ़ के पिघलने' के तथा 'पसीजने' के माने 'पसीना' आने के लगावें तो लेखक का सारा श्रम जो उसने अपनी भाषा को सजीव तथा ललित बनाने के लिए शब्द-संचय में किया होगा व्यर्थ जावेगा। अतएव, इससे यह सिद्ध होता है कि लेखक को उसी प्रकार वाचक के मानसिक सहयोग की आवश्यकता होती है जिस प्रकार नाटककार को श्रोताओं की सराहना अभिप्रेत होती है। इसी लिए लेखक को अपने लेखों को ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से अपने शब्दों की ध्वनि तथा उनकी काल्पनिक शक्ति का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। प्रयत्नतः वह ऐसे शब्द चुनता है जो पढ़ने वाले को अपने पंखों पर बिठा कर बड़ी दूर तक ऊँचे उड़ा ले जाते हैं। एवं, जब किसी गम्भीर लेख में सांसारिक गोरखधंधे से वाचकों के विचलित चित्तों को उठाना हो तो चट उसे 'अनन्त', 'अपार', 'अखंड', आदि शब्दों के द्वारा ब्रह्मांड के बाहर के चक्कर लगवा सकते हैं। मानव-हृदय ऐसा बना हुआ है कि वह शब्दों को सुनते ही उनके साथ चल होता है। इसी तरह 'अद्भुत', 'क्षीण', 'विचित्र', 'रमणीय' आदि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके ध्वनिमात्र में ही उनका समस्त अर्थ भरा हुआ है।

उनमें एक प्रकार का वातावरण सा व्याप्त है। विशेषकर 'अद्भुत', 'विचित्र' और 'रमणीय' इन शब्दों को पढ़ते ही एक विशेष परिस्थति का चित्र आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। और भी बहुत से चित्र के शब्द हैं। तात्पर्य यह है कि अच्छे लेखकों को अपनी शैली को सुचारु बनाने के लिए विषयोपयुक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग करना होता है जिनके द्वारा अभीष्ट भाव जीते-जागते रूप में सचित्र व्यक्त हो सकें और बाचकों की काल्पनिक लिप्सा को संतुष्ट कर सकें। इसी सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि क्या कविता और क्या गद्य दोनों की मनोहारिता का पता तभी लगता है ये जब बाचकों की 'स्मृति' तथा 'कल्पना' शक्तियां उद्दीप्त हो उठें। उच्च कोटि की कविता में तथा गद्य-लेखों में उन्हीं शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए सदैव काफ़ी शाब्दिक मसाला होता है। केवल शुष्क विचारों को नीरस भाषा में प्रकट करना ही जो कवि अथवा गद्य-लेखक अपना एक मात्र ध्येय समझ बैठता है उसकी रचनायें विस्मृति के अंधकार में विलीन हो जाती हैं, अथवा उनको चाव से पढ़ने वालों की संख्या बहुत कम रहती है।

इस बात के प्रमाण में किसी भी भाषा के बड़े से बड़े शैली-आविष्कारकों या 'स्टाइलिस्ट्स' के लेखों का अनुशीलन कीजिए। अंगरेज़ी में लैम्ब (Charles Lamb), स्टीवेन्सन् (Stevenson) के गद्य की इतनी प्रशंसा क्यों है? इसी से न कि उनकी शैलियों में 'व्यंजनावृत्ति' अथवा शाब्दिक इशारों के द्वारा बड़ी दूर की बातें सुझाने की प्रबल शक्ति है, और इसके सिवाय उनकी भाषा में काल्पनिकता की अच्छी छटा है। यही बात हिन्दी में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० मन्नन द्विवेदी

आदि कई लेखकों में मिलती है । 'चन्द्रोदय' शीर्षक निबन्ध से भट्ट जी की तीव्र कल्पनाशक्ति का अनुमान होता है । वैसे भी, जैसे कि 'आँसू' के रहस्य का उद्घाटन करने में, अन्यत्र उनकी भाषा उस गुण से आप्लावित है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए:—

जवानी की उमंगों की उपमा वे यों देते हैं:—

"फूल जब तक कली के रूप में रहता है तब तक वह डाल और पत्तों की आड़ में मुँदा हुआ न जाने किस कोने में पड़ा रहता है । पर खिलने के साथ ही अपनी सुवास, सौन्दर्य और सोहावनेपन से सबों के नेत्र और मन-मधुप को अपनी ओर खींच लेता है और छिपाये नहीं छिपता ।"

भट्ट जी ने जवानी की उपमा फूलों से देकर कल्पना-शक्ति का उत्तम उदाहरण दिया है । इसके सिवाय भट्ट जी के गद्य में स्मारक शक्ति भी है । जो बात वे कहते हैं उसको बाचकों के हृदयतल पर अंकित करने के अर्थ वे सर्वोच्च लेखकों की भाँति उन्हें प्राचीन काव्यों की प्रसिद्ध विषयोपयुक्त उक्तियों का स्मरण दिलाते हैं । 'आँसू', 'दिल', और 'दिमाग़' 'संसार महानाट्यशाला' 'भालपट्ट' आदि लेख इस गुण के प्रदर्शक हैं ।

पं० मन्नन द्विवेदी की गद्य-शैली में भी यह स्मारक शक्ति है। 'मुसलमानी राज्य का इतिहास', जिसमें उनके परिपक्व गद्य का नमूना है, कई स्थलों पर उनकी उस स्मारक शक्ति का पूरा परिचय देता है। वे बहुधा न जाने कहाँ-कहाँ से पद्य-पंक्तियाँ उद्धृत करके पाठकों की स्मृति एक दम से जाग्रत कर देते हैं और प्रस्तुत प्रसंग को बाचकों के मन में बड़े हृदयग्राही ढँग से अंकित कर देते हैं।

अभी कह चुके हैं कि भाषा-शैली का घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है। उसकी शाब्दिक कटुता अथवा मधुरता की परख सबसे पहले कान करते हैं, वे केवल उनकी खनक से इसे जान जाते हैं। फिर बुद्धि तथा स्मृति उसे तौलते हैं। बुद्धि केवल भाषा की सुसंबद्धता तथा सार्थकता का विवेचन करती है, परन्तु स्मृति उसमें अपनी तृप्ति के योग्य द्रव्य ढूँढ़ती है। मानवस्मृति एक नगर के तुल्य है, जिसमें नाना प्रकार के भाव तथा वासनायें सुप्तावस्था में निवास करते हैं। जिस शैली में उन सोती हुई स्मृतियों को जगाने की क्षमता होती है उसी की गणना साहित्यिक दृष्टि से ऊँची होती है।

अस्तु, गद्य-शैली की उत्कृष्टता का प्रथम आवश्यक गुण यह कहा जा सकता है कि उसमें कल्पनाशक्ति तथा स्मृति को उद्दीप्त करने की शक्ति होती है।

प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् अरस्तू भी शैली के विषय में विचार करते हुए यह कह गये हैं कि :—

"लेखक अपने भावों को इस ढंग से, ऐसी भाषा में व्यक्त करे कि जिससे वाचक के सामने उसका चित्र सा खिंच जाय।" मतलब यह है कि सिद्धहस्त लेखक लिखते समय केवल विचारों की ही झड़ी नहीं लगाते, वरन् विशदता का ध्यान रख कर हर एक शब्द को सावधानतापूर्वक रखते हैं, और उनके द्वारा अपनी भाषा को सजीव बनाने की कोशिश करते हैं।

वास्तव में शैली की जटिलता तथा दुरूहता से बचाने में उपमाओं तथा रूपकों का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण होता है। जिस लेखक में इनके

प्रयोग करने की जितनी ही प्रबल सामर्थ्य होती है उसकी भाषा में उसी के हिसाब से अत्यधिक विशदता होती है।

शैली की समस्या पर विचार करते हुए अभी तक हम केवल शब्दों के प्रकरण को लेते रहे हैं। उसके सम्बन्ध में कुछ तथ्यों को लिख कर वाक्यांशों के महत्व की समीक्षा होगी।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, शब्दों के चुनाव से ही लेखक की प्रकृति का पता लगता है। यदि उस की शैली उन बहुप्रयुक्त शब्दों का ढेर हो, जो वर्षों से बोलचाल तथा लेखों में असंख्य लोगों के द्वारा व्यवहृत होते होते घिस कर भावशून्य से हो जाते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वह आलस्यमय है और उसमें साहित्यिक कीर्ति प्राप्त करने की उमंग नहीं है। इसके प्रतिकूल जिन मस्तिष्क में तीक्ष्णता होती है, जिनके चरित्र में अतिमानुषिक बल होता है तथा जिनकी लेखनी में शक्ति होती है वे उन्हीं मृतप्राय शब्दों में ऐसी जादू भर जाते हैं और अपने क्रान्तिकारी विचारों को उनके द्वारा प्रकट करके उनमें ऐसे नवीन जीवन का संचार कर जाते हैं कि वे ही पुराने सिक्कों की तरह फिर से चमकने लगते हैं और साहित्यिक विनिमय के लिए सर्वग्राह्य बन जाते हैं।

भाषा के शैथिल्य को दूर करने के लिए कुछ लेखक एक और युक्ति काम में लाते हैं। जिन लेखकों को अपने साहित्य के कलेवर को सँवारने की वास्तविक लगन होती है, और जो केवल कोरे कागज़ों को काला करने के ही उद्देश्य से लिखने नहीं बैठते, वे जब पुराने, खोखले शब्दों के बदले में जिनके कारण भाषा निर्जीव हो जाती है, सजीव शब्दों को लाना चाहते हैं तो वे पं० प्रतापनारायण मिश्र की तरह

लिखित भाषा की धारा को ग्रामीण बोली के स्रोत से मिला देते हैं। इस प्रकार वे नागरिकता के कृत्रिम वायुमंडल से हटाकर उसे ग्रामीणता की नैसर्गिक परिस्थिति में उठा ले जाते हैं। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपने लेखों में आदि से अन्त तक ठेठ ग्रामीण शब्दों तथा मुहावरों को भर कर यही बात सोची होगी कि वैसा करने से हिन्दी-गद्य में एक दम से सजीवता आ जावेगी और लल्लूलाल, सदल मिश्र तथा अन्य पुराने और नये लेखकों की अनगढ़ भाषा की जड़ें कट जावेंगी।

इस ग्रामीणता से एक दूसरा अर्थ भी सिद्ध हुआ करता है। जो लेखक ग्रामीण शब्दावली का अधिक प्रयोग करे तो समझ लेना चाहिए कि वह लोक-प्रिय साहित्य का निर्माण जान-बूझ कर कर रहा है। अधिकांश वाचकों को अधकचरा अथवा अल्पशिक्षित समझ कर या यों कहिए कि अपनी शैली को क्लिष्ट संस्कृत-शब्दों से पूर्ण करके उसमें नगरोचित शिष्टता लाना अपनी प्रकृति के विरुद्ध जान कर उस प्रकार के लेखक ग्रामीणता का आश्रय लेते हैं।

अस्तु, प्रत्येक भाषा के इतिहास में इस प्रकार के आन्दोलन समय समय पर होते रहे हैं। जब किसी साहित्य की शाब्दिक वेशभूषा जीर्ण-शीर्ण हो जाती है, तब कुछ सहृदय लेखकों के द्वारा उसका नया संस्कार होता है। अंगरेज़ी में १८वीं शताब्दी के आरम्भ का 'रोमैंटिक रिवाइवल' (Romantic Revival) तथा अन्तिम भाग का 'केल्टिक रिवाइवल' ( Celtic Revival ) दोनों का यही उद्देश्य था कि पुरातन साहित्यिक बन्धनों से जो अस्पृहणीय गतिशून्यता आगई थी उसका नियमन हो, और साहित्य की भाषा में सजीवता का संचार हो।

हिन्दी-गद्य के विकास में भी ध्यानपूर्वक खोज करने से इस तरह की तरंगों का पता लगता है। राजा शिवप्रसाद, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि बड़े बड़े लेखकों ने गद्य में सजीवता लाने का प्रयत्न सफलता से किया है। इनके विषय में विस्तार से अन्य स्थल पर कहा जा चुका है। इस लिए इस प्रसंग में और कुछ न कह कर अब हम शैली की व्याख्या करते हुए वाक्यों तथा वाक्य-समूहों के मुख्य आवश्यक उपादानों का विश्लेषण करेंगे।

इस अध्याय के प्रारम्भ में संकेत किया जा चुका है कि गद्य-शैली का जन्म सोद्देश्य लेखक के ही हाथ से होता है। जब किसी लेखक को इस बात की धुन सी हो जाती है कि वह जो कुछ लिखे उसमें वाचकों को लुभानेवाली तथा उनके चित्तों पर प्रभाव डालनेवाली शक्ति हो तभी उत्तम शैली बनती है। तात्पर्य यह है कि रचना-चातुर्य का ही दूसरा नाम शैली है। उसमें लेखक का कौशल तीन प्रकार से प्रकट होता है:—शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास तथा वाक्य-समूहों का आकार-प्रकार। शब्दों के विषय में काफ़ी कहा जा चुका है। शेष दोनों बातों पर अब विचार करना है।

वाक्यों के तीन प्रधान अंग होते हैं:—उनका आकार, उनकी ध्वनि तथा उनका अर्थ। शैली की उत्तमता के विचार से तीनों समानरूप से महत्वपूर्ण होते हैं, किन्तु व्यक्तिगत लेखक प्रायः किसी एक को प्रधानता दे सकते हैं। कोई केवल अर्थविशदता को सब से ऊँचा दर्जा देकर अपने वाक्यों को कभी बढ़ाना पसन्द नहीं करते, और जहाँ विचार-गाम्भीर्य के

कारण उन्हें लंबे वाक्य बनाने की जरूरत पड़ती है, वहाँ पर भी उन्हें तोड़ देते हैं। और कोई-कोई लेखक ध्वनिमात्र की परवा करते हैं और उसके आगे अर्थ-स्पष्टता तथा आकार-सूक्ष्मता को कुछ नहीं समझते। परन्तु जिस लेख की भाषा में उन तीनों गुणों का सामंजस्य रहता है वही उत्तम शैली समझी जाती है।

वाक्यों को भीमकाय बनाना इस लिए वर्जित है कि उससे प्रसादगुण को धक्का पहुँचता है, जो भाषा का अत्यन्त आवश्यक गुण है। क्योंकि यदि शैली में सुबोधता ही न रही तो और गुण किस काम के?

उदाहरणार्थ यह लम्बा वाक्य लीजिए :—

"यह भी एक बड़ा भारी लाभ मानना चाहिए कि निःपक्षपाती और सहृदय ग्रंथ-परीक्षकों के कारण बुद्धिमान मनुष्यों को साधारण लोगों के समान मूर्ख एवं दुष्ट धनी लोगों की खुशामद करने को वा राजकीय उच्च-पदाभिषिक्त जनों के सम्मुख हाँजी हाँजी कर लघुता का बोझ उठाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती वरन् उनकी बुद्धिमत्ता के अत्यन्त अनुकूल, उचित और शोभादाइक जो निःस्पृहता और स्वतंत्रता है वह उन्हें स्वेच्छानुकूल प्राप्त होती है।"

किसी की सामर्थ्य नहीं कि वह इस लंबे-चौड़े वाक्य के अर्थ को एक साँस में पढ़ कर समझ ले। इसके लिए बड़ी मानसिक एकाग्रता दरकार है। लेखक यदि चाहता है तो सुगमता से उसे कई छोटे छोटे खंडों में विभक्त कर देता और अपने अभिप्राय को विशदता से प्रकट कर देता। इस अवतरण की रचना में यही बड़ा भारी दोष है कि उसमें प्रसाद-गुण का अभाव है। यह कहा जा सकता है कि विस्तार-भय से

तथा अपना मतलब थोड़े में व्यक्त करने के लिए लेखकों को अक्सर बड़े बड़े वाक्य बनाने ही पड़ते हैं। इसके सिवाय हिन्दी में अभी तक संक्षेप रीति से किसी बात को कहने की शक्ति भी नहीं आ पाई है। कुछ भी हो प्रकांड लेखक वाक्यों की भीमकायता से बचने का उपाय सोच ही लिया करते हैं, और इस ढंग से वाक्य-निर्माण करते हैं कि उनकी शैली में जहाँ अन्य सब गुण आ जाते हैं, वहीं सूक्ष्मता और सुबोधता भी रहती है और साथ ही साथ वह सब दोषों से मुक्त भी रहती है।

पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने शैली की इस सबसे बड़ी समस्या को हल कर दिया है। अपनी परिपक्व भाषा में लिखे लेखों के द्वारा उन्होंने यह सदा के लिए दिखा दिया है कि विषय चाहे जितना जटिल अथवा गहन क्यों न हो, उसका प्रतिपादन छोटे छोटे अत्यन्त विषद वाक्यों से बड़ी सुन्दरता से किया जा सकता है। जैसा कि अन्यत्र उल्लेख हो चुका है, द्विवेदी जी कभी कभी गम्भीर विषयों पर भी लिखते हैं। उनकी समालोचनायें इसी तरह की हैं। परन्तु उनमें भी उनकी भाषा कुछ स्थानों पर चाहे संस्कृतमय क्यों न हो गई हो, किन्तु गूढ़ातिगूढ़ विचारों की समीक्षा करते हुए भी सुबोध है।

"जातीयता का परिरक्षण, जातीयता का परिवर्तन, जातीयता का संस्थापन, जातीयता का संयापन, तथैव उसकी अवनति, वृद्धि, ह्रास, प्रवृत्ति, निवृत्ति सब साहित्य से संलग्न हैं।"

तथा

"जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं

प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्यरूपी आईने में ही मिल सकती है।" इन दोनों अवतरणों में से किसकी रचना अधिक सीधी-सादी तथा विशद है इसका निर्णय आसानी से हो सकता है। स्पष्टतया, दूसरे में ही जो द्विवेदी जी का लिखा हुआ है अधिक सरलता है।

फिर भी यह नियम व्यापक रीति से नहीं रखा जा सकता कि लेखक को सदैव वाक्यों की विस्तार-वृद्धि से बचने का ही एक मात्र उद्देश्य रखना चाहिए। क्योंकि, ऐसे ऐसे ओजपूर्ण अथवा आवेशापेक्ष्य विषय आजाते हैं जिन पर अकेली विशदता का ख़्याल करने से छोटे छोटे वाक्य लिखने से प्रभावक शक्ति में कमी आ जाती है। ऐसे मौक़ों पर जहां कि किसी उद्दीपक रस को पैदा करने की जरूरत होती है वहाँ बड़े से बड़े लक्कड़तोड़ शब्दों का ही प्रयोग करना पड़ता है और वाक्यों का आकार जान-बूझ कर बढ़ाना होता है। कारलाइल को जब इंगलैंड के भावुकताहीन लक्ष्मीदासों पर अपनी क्रोधाग्नि की भभक निकालनी पड़ी तब उन्हें आवश्यकतानुसार भयावह शब्दावली का ही आश्रय लेना पड़ा और लंबे-चौड़े वाक्य बनाने पड़े। महाकवि भूषण को जब यवनों के अत्याचारों के प्रति घृणा प्रकट करने की आवश्यकता पड़ी तो उन्हें वीररस--पूर्ण भाषा का प्रयोग करना पड़ा।

इन्हीं बातों का विचार करके संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने शैली के गुणों में 'माधुर्य', 'सुकुमारता', तथा 'ओज' को भी स्थान देकर शैली-वैचित्र्य के लिए काफ़ी स्वतन्त्रता छोड़ दी है।

आकार-प्रकार के सिवाय वाक्यों की ध्वनि का विचार होता है। गद्य तथा पद्य दोनों के भाषा-सौष्टव का पता सब से पहले उसी समय

लग जाता है, जब वह ज़ोर से पढ़ी जाती है। उसकी शाब्दिक कर्कशता अथवा माधुर्य उसी से खुल जाती है।

वास्तव में कविता की बात तो जाने दीजिए, उत्कृष्ट कोटि के गद्य के वाक्यों में वे गुण होने चाहिए जिनसे वे वाचक के चित्त में चुभ सकें।

सब से आवश्यक तो यह है कि वाक्यांशों के रूप और आकार के साम्य के द्वारा वाक्यों में एक प्रकार का सामंजस्य होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अभिप्रेत विचार की पुष्टि में उसी के विरोधी विचारों को भी विरोधी शब्दों के द्वारा साथ ही साथ रख सकते हैं और इस तरह से वाक्यों को समीकृत बना सकते हैं। उदाहरणार्थ यह वाक्य लीजिए: —

"सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है।"

यहाँ पर वाक्यांशों के संगठन-साम्य तथा कुछ शब्दों ('सजीवता', 'निर्जीवता', 'शक्ति', और 'अशक्ति', 'सभ्यता' और 'असभ्यता') की प्रतिपक्षता से वाक्य में एक खास तरह की ध्वनि आई है जो बार-बार पढ़ने वाले के कान पर पड़ती है और उससे कही हुई बात खूब जमती है।

वाक्यों में सामंजस्य लाने का एक और ढंग है। किसी विचार-शृंखला को उठा कर उसे ओज के सर्वोच्च शिखर तक चढ़ाने के लिए अकसर बराबर के कई वाक्यांशों का प्रयोग होता है, जिससे बीच में आवेश की मात्रा क्षीण न हो जाय। इस बात को स्पष्ट करने के लिए नीचे एक उदाहरण दिया जाता है: —

"जब संसार में आपकी कोई गिनती नहीं, दुनिया आपको अपने

पैर की धूलि मानने को तैयार नहीं है उस वक़् खामख़्वाह ईश्वर का नाम लेकर, अपने पूर्वजों की बड़ाई का दम भर कर पंच बराबर होना बेशरमी है ।"

इसके अतिरिक्त वाक्यों की समता अथवा सामंजस्य उसके अन्तर्गत वाक्यांशों तथा विशेषण शब्दों की संख्या पर भी निर्भर रहती है । अर्थात् यदि किसी वाक्य के चार टुकड़े हों, तो उनका विन्यास ऐसा होना चाहिए जिससे कि उच्चारण के अनुसार दो-दो पृथक्-पृथक् समझे जा सकें । इसके विपरीत यदि तीन ही वाक्यांश उसमें होंगे, तो दो का तो जोड़ मिल जावेगा और तीसरा अलग लटका रहेगा । जैसे कि "जो बिलकुल अबोध हैं वे लोग तो यही समझते हैं कि छंदोबद्ध पद-रचना ही कविता है । इस पद-रचना का विषय चाहे सो हो ।" इस वाक्य के 'अन्तिम' अंश के कारण उसमें विषमता आ गई है और बाचक को गड्ढे में गिरने का सा अनुभव होता है ।

अस्तु, वाक्यों को समीकृत बनाकर हम केवल भाषा के प्रवाह को निर्बाध बनाते हैं; और प्रवाह-शैली का एक आवश्यक गुण है । क्योंकि जिस लेख की भाषा में उसका अभाव रहता है उसे पढ़ने की इच्छा बाचक को नहीं होती । यहीं पर यह कह देना है कि प्रायः भाषा-सरिता के प्रवाह को रोकने में क्लिष्ट तत्सम शब्द बड़े बड़े चट्टानों का काम करते हैं । पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बाबू श्यामसुन्दरदास, तथा श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी के गद्य को मन्द गति इन्हीं तत्सम शब्दों का परिणाम है ।

समता के अतिरिक्त प्रत्येक उत्तम गद्य-खंड में एक प्रकार का चढ़ाव-

उतार, या यों कहिए कि ध्वनि-परिवर्तन, भी होता है। मानव हृदय परिवर्तनशील संसार में रहते-रहते स्वयं परिवर्तन-प्रिय हो गया है। एवं एक ही रस में लीन रहना उसे नहीं भाता। एक ही राग रात-दिन अलापने से उसकी संतुष्टि नहीं होती। इसी से सहृदय वाचक उसी भाषा को रोचक कहता है जिसमें ऐसे शब्दों की आवृत्ति होती है जिनसे उसकी कर्णेन्द्रिय को वैसी ही ध्वनि-विभिन्नता का अनुभव होता रहता है, जैसा कि संगीत के समय लय और स्वर के चढ़ाव-उतार से होता है।

"संसार के विषवृक्ष में एक प्रीति ही अमृत फल है। संसार-सागर के पैरने वालों में थके हुओं को एक प्रीति ही सहारा देने वाली नौका है। संसार की पुष्पवाटिका में यही फूल सज्जनों के सुगंध लेने लायक है।" (श्रीनिवासदास)

इस अवतरण में संसार की उपमा विषवृक्ष, सागर तथा पुष्पवाटिका से तथा प्रीति को अमृतफल, नौका तथा फूल से दी गई है। इसी उपमा-विभिन्नता के कारण वाचक के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसके सिवाय उसे भाषा में एकस्वरता का अरुचिकर अनुभव नहीं होता। ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरण में विचित्रता अथवा लय-परिवर्तन इस लिए आ गया है कि उसके प्रत्येक वाक्य का भाव तो एक है पर उसको स्पष्ट करने में हर बार नई उपमा का प्रयोग किया गया है। भाषा में ध्वनि-वैचित्र्य को उत्पन्न करने की यह एक युक्ति है। और भी कई प्रकार से अच्छे लेखक उसे लाने का प्रबन्ध करते हैं।

सब से बड़ा ढंग इस ध्वनि-परिवर्तन को लाने का यह है कि लेखक अपने वाक्यांशों में शब्दों का विन्यास इस प्रकार करता है कि जिससे

बाचक स्वयमेव यह समझ जाता है कि कहाँ पर उसे बल देकर पढ़ना चाहिए और कहाँ पर विरामपूर्वक पढ़ना चाहिए।

अब इस विवेचना का विस्तार अधिक न बढ़ा कर केवल उत्कृष्ट गद्य-शैली के कुछ आवश्यक गुणों को संक्षेप में गिना कर इस अध्याय को समाप्त करना है।

## गद्य-शैली की परख

१—शब्द-चयन :—उत्तम लेखक सदैव सहृदय शब्दों का ही प्रयोग करता है, अर्थात् जिन शब्दों में सिर्फ़ झंकार हो किन्तु भावपूर्णता न हो उनसे वह बचता है। शुष्क, निर्जीव शब्दों को वह स्थान नहीं देता।

२—भाव-व्यंजन :—भाव विशदता से प्रकट होना चाहिए और जिस भाषा में वे व्यक्त हों उसमें रोचकता को लाने के लिए आवश्यकतानुसार शैली में ध्वनि-वैचित्र्य होना चाहिए। इसी लिए हास्य तथा व्यंग का समावेश प्रतिपाद्य विषय की उपयुक्तता के हिसाब से होता है। इसके सिवाय वाग्विस्तर और वक्रोक्ति भी शैली के सौष्ठव की वृद्धि करते हैं। (सैयद इंशा और प्रतापनारायण मिश्र में यह गुण कूट-कूट कर भरा है।)

वही शैली सर्वोत्तम समझी जाती है जिसकी भाषा में लय-वैभिन्य रहता है। अर्थात् जिसमें यदि किसी वाक्य में थोड़े वाक्यांश होते हैं, तो दूसरे में उससे अधिक होते हैं, और इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य के वाक्यांशों की संख्या में भी तारतम्य होता है।

३—शैथिल्याभाव :—प्रत्येक उत्तम गद्य-शैली में बड़ा गठीलापन होता है। उसमें वाक्यों में साम्य या सामंजस्य रहता है। उसमें

विशेषण-शब्दों की अनावश्यक भरमार नहीं रहती। विशेषण-शब्द, जैसा कि फ्रांस का विद्वान् वालटेयर कहा करता था, संज्ञा-शब्दों के घोर द्रोही होते हैं। एवं, उनके अत्यधिक प्रयोग से संज्ञाओं के द्वारा व्यक्त किये हुए भावों के गौरव पर बट्टा लगता है क्योंकि पढ़ने वाले का ध्यान विशेषणों में ही रम जाता है।

---

# प्राचीन गद्य

(१६वीं और १७वीं शताब्दी)

# गोकुलनाथ

( १६वीं शताब्दी )

———:o:———

[ गोकुलनाथ जी के स्फुरणकाल का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। केवल नाभादास के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की लिखी हुई वार्तिक टीका से इतना ज्ञात होता है कि वे १६वीं शताब्दी के मध्य भाग में रहे होंगे। प्रियादास के कथनानुसार श्रीवल्लभाचार्य जी संवत् १५७७ अर्थात् सन् १५२० के लगभग हुए। उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी थे जिनके पुत्र गोकुलनाथ जी थे। उन्हीं के मतानुसार विट्ठलनाथ जी के सात पुत्र थे जिनमें से गोकुलनाथ जी चतुर्थ थे। क्योंकि उन सब भाइयों में पाँच-पाँच वर्ष की छोटाई बड़ाई थी, इस लिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि शायद गोकुलनाथ जी १५६८ ई० के आसपास रहे होंगे जैसा कि मिश्रबन्धुओं ने निश्चय किया है। ]

इसके पूर्व कि गोकुलनाथ जी की लिखी हुई दोनों पुस्तकों ('चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता') की भाषा पर विचार किया जाय, यह आवश्यक है कि उनके विषय की आलोचना की जावे। 'वार्ता' शब्द ही इस बात का द्योतक है कि कथाओं के द्वारा लेखक ने प्रधानतः वैष्णव धर्म के पुष्टि-संप्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा फैलाने का प्रयत्न किया है। परन्तु सीधे-सीधे वैष्णव-धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन न

करके और उसके आचार्यों के महत्व का वर्णन न करके गोकुलनाथ जी ने श्री वल्लभाचार्य जी तथा श्री विट्ठलनाथ जी के असंख्य शिष्यों की कथायें छेड़ी हैं, जिनमें बहुत सी अस्वाभाविक घटनाओं का उल्लेख करके उन साम्प्रदायिक आचार्यों की महत्ता सिद्ध करने की चेष्टा की है। बहुत सी कथायें ऐसी हैं जिनमें जानबूझ कर अन्य मतों की अपेक्षा वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता दिखाई गई है, और दूसरे धर्मावलम्बियों पर व्यंग किया गया है। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में 'इटावे के ब्राह्मण स्त्री-पुरुष की कथा' इस बात का अच्छा उदाहरण है।

कथायें उस समय के सब श्रेणी के लोगों के विषय में हैं। चोर, लुटेरे, गुण्डों से लेकर सेठ, साहूकार, राजदरबारी, मंत्री तथा बादशाह तक सभी वल्लभाचार्य जी के चेले बनाये गये हैं। घटनायें भी सभी प्रकार की हैं। पाँच गुण्डे चौबों वाली कथा में शरारत का अच्छा नमूना मिलता है। उन लोगों ने बदमाशी से एक खोटा रुपया श्री गुसाईं जी को भेंट किया। परन्तु जब वह रुपया बाज़ार में चल गया, उन लोगों को आश्चर्य हुआ। तभी उन लोगों ने उनकी महिमा समझी कि, हो न हो, उनमें कोई दैवी अंश अवश्य है तभी तो रुपया चल गया।

यद्यपि गोकुलनाथ जी ने अपनी कथाओं में जीवन के प्रत्येक विभाग से ला ला कर वैष्णवधर्मानुयायियों का वर्णन किया है, और उनके सम्बन्ध में भाँति-भाँति के वृत्तान्त लिखे

हैं, तथापि उन सब के अन्त में 'श्रीगुसाईं जी' अथवा 'आचार्य जी' की शिष्यमण्डली की अभिवृद्धि होती हुई प्रदर्शित की गई है। प्रत्येक वार्ता के अन्त में यही दो प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं। 'इनकी वार्ता कहाँ तांई लिखियें' और 'सो वे ऐसे कृपापात्र हते'—इन्हीं अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गोकुलनाथ ने केवल वैष्णवधर्म के प्रचार करने के उद्देश्य से ही दोनों वार्ता-ग्रन्थ बनाये थे।

इस प्राक्कथन के उपरान्त उनकी भाषा की समीक्षा करना है। गोकुलनाथ का गद्य साधारण रीति से धर्मोपदेश के उपयुक्त है। कथा-वाचकों को इतिहास-पुराणों का पारायण करते समय सभी कोटि के श्रोताओं को समझाने के लिए इस प्रकार की भाषा बड़े काम की हुआ करती है। इसमें जो कुछ भी रस है वह सुनने वालों को ही मिल सकता है। पढ़ने में वह शुष्क जान पड़ती है। गोकुलनाथ की भाषा के सम्बन्ध में लल्लूलाल का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। कारण यह है कि लल्लूलाल और गोकुलनाथ दोनों के गद्य एक ही प्रकार के हैं। दोनों की ब्रजभाषा-पूर्ण शब्दावली आधुनिक खड़ी बोली के गद्य से बिल्कुल भिन्न है। लल्लूलाल और गोकुलनाथ दोनों की भाषा में शाब्दिकता का बड़ा बाहुल्य है। किसी भाव को संक्षेप में स्पष्ट रीति से व्यक्त करना दोनों नहीं जानते। कामकाजी की भाँति सीधे-सादे ढंग से किसी बात को कहना उनकी शक्ति के बाहर प्रतीत होता है।

परन्तु इतनी सब बातें जहाँ लल्लूलाल और गोकुलनाथ में मिलती हैं वहाँ उन दोनों की लेखन-शैली में कई विभिन्नतायें भी हैं। लल्लूलाल की भाषा प्रायः निरी शुद्धता की ओर झुकी है, यहाँ तक कि उसमें ब्रजभाषा तथा संस्कृत के प्रयोगों को छोड़ कर फ़ारसी, उर्दू किसी के लिए स्थान नहीं है। इसके सिवाय उन्होंने मुहावरों तक को एकदम निकाल कर फेंक दिया है। गोकुलनाथ ने साम्प्रदायिक विषय में लिखते हुए भी शुद्ध संस्कृत शब्दों के प्रयोग करने की क़सम खाकर उर्दू से मुँह नहीं मोड़ा। प्रत्युत, 'चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं' में न जाने कितने फ़ारसी, अरबी के शब्द भरे पड़े हैं, और मुहावरे भी हैं। 'हाकिम', 'ख़त-पत्र', 'हुक्म', 'बन्दी-ख़ाना', 'असवार', 'खात्री' (खातिर), 'ख़ामी', 'तकरार' ये सब उन भाषाओं के शब्द हैं। उनके मुहावरों के ये उदाहरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं :—

"मेरे हृदय में खटकत है", "लरिका संग काम पर्यो है", "ताते लरिका को मन राख्यो चहिये", "अकिल मारी गई है", और "अकिल काम नहीं करै है"—इनमें से दूसरा प्रयोग तो काफ़ी ठेठपन से भरा है। तात्पर्य यह है कि मुहावरों तथा अन्य विदेशी भाषाओं के समयोपयुक्त प्रयोग के कारण गोकुलनाथ जी की भाषा में सचमुच सजीवता आ गई है। सम्भव है कि उन्होंने वैष्णव धर्म को सर्वसाधारण के लिए हृदयग्राही बनाने के ध्येय से कथायें ऐसी भाषा में लिखना उचित समझा हो कि जिससे उनके समझ में सब को सरलता हो।

गोकुलनाथ के गद्य की भाषा में और भी कई विशेषतायें हैं। केवल व्रजभाषा का ही आश्रय लेकर उन्होंने अपनी 'वार्तायें' नहीं लिखीं, वरन् उसके साथ कई एक प्रान्तीय भाषाओं की पुट भी अच्छी तरह मिलाई है। 'वीनती' करबे (करने की जगह), ठिकाणे, कुं (को या के के लिए), पड़दा, वहार (बाहर), बोहोत आदि शब्दों के प्रयोग से तो यह प्रतीत होता है कि लेखक के शब्द-भांडार पर शायद गुजराती, मारवाड़ी तथा अन्य बोलियों का अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। अनुमान हो सकता है कि धर्म-प्रचारार्थ स्थानान्तर में भ्रमण करते रहने से उनकी भाषा में यह मिश्रण हो गया हो।

कभी-कभी तो उनके गद्य में खरे संस्कृत के शब्द मिलते हैं। जैसे 'कुंभनदास और चतुर्भुजदास की वार्त्ता' में चाचा हितहरि-वंश के विषय में कहा गया है कि 'वे ज्ञात के क्षत्री हते'। यहाँ 'ज्ञात' शब्द सीधा संस्कृत से लिया गया है।

कहीं-कहीं तो गोकुलनाथ की रचना में भी उर्दूपन आगया है। 'यह देह दिन चार पाँच में छूटेगी' ऐसे वाक्य-विन्यास को देख कर तो वही सैयद इंशा का 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने' वाक्य याद आजाता है। 'दिन चार पाँच' यह प्रयोग वास्तव में उर्दू के ढंग का है।

उनके वाक्य-विन्यास के विषय में एक बात और है। उनके वाक्यों में पुनरुक्तिदोष बहुधा मिलता है। वह इस लिए कि एक ही वाक्य में वे एक ही पुरुषवाची संज्ञा-शब्द को बार

बार दुहराते हैं और उसके स्थान में सर्वनाम-शब्द का प्रयोग नहीं करते। इस दोष का सब से अच्छा उदाहरण दिया जाता है:—

"एक समय वैष्णव दस पंद्रह मिल के श्री आचार्य्य जी महाप्रभून को दर्शन को अड़ेल को जात हुते सो जा गाम में कृष्णदास रहते ता गाम में आये सो कृष्णदास के घर आये तो कृष्णदास तो घर हुते नाहीं और कृष्णदास की स्त्री घर हुती"......

इस प्रकार का शैथिल्य अवश्य गोकुलनाथ की भाषा में मिलता है। परन्तु यह देखते हुए कि वह भाषा १६वीं शताब्दी की है, जब नमूने के तौर पर हिन्दी-गद्य की कोई भी पुस्तक लेखक के सामने न थी, तथा इस बात का भी विचार करते हुए कि गोकुलनाथ ने अपनी वार्त्तायें मुख्यकर कथा के ढंग में लिखी थीं, उस प्रकार का शैथिल्य समझ में आ सकता है। यदि लल्लूलाल की भाषा वैसे दोषों से मुक्त है तो कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि उनके समय तक साहित्यिक परिस्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया था।

गोकुलनाथ के गद्य में फिर भी कई उत्तम गुण हैं। एक तो, उनकी भाषा में स्वाभाविकता है, जो वर्णनों के अवसरों पर प्रकट होती है। किसी घटना के उपयुक्त जब वे रूपक बाँधते तब लल्लूलाल की भाँति शाब्दिक आडम्बर का आश्रय वे

कभी भी नहीं लेते। केवल साधारण दृष्टान्त देकर वे रह जाते हैं। उदाहरण के लिए यह देखिए :—

"दर्शन करत मात्र जैमल को क्रोध उतर गयो और बुद्धि निर्मल होय गई जैसे सूर्य उदय भये तें कमल प्रफुल्लित होय है तैसे जैमल को हृदयकमल प्रफुल्लित होयगो।"

दूसरी ओर लल्लूलाल के 'ऊषावर्णन' में दी हुई उपमाओं को देखिए, तो पता लग जावेगा कि उनकी भाषा में कितना बनावटीपन है।

इसके अतिरिक्त गोकुलनाथ के गद्य में माधुर्य खूब है। यद्यपि उसमें कहीं-कहीं न जाने किस भाषा के ठेठ शब्द भरे पड़े हैं, जिनके अर्थ आसानी से समझ में नहीं आ सकते, तब भी उनकी पदावली कोमलकान्त है, उसकी ध्वनि मधुर है तथा उसमें एक प्रकार का रस है तथा मृदुलता है।

उपसंहार में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि गोकुलनाथ की गद्य-शैली में व्यक्तित्व की छाप है, जो प्रत्येक प्रकार के उत्कृष्ट गद्य में होती है। उसमें वह निर्लेपता अथवा वह रूखापन नहीं है जो गद्य में लिखी हुई प्राचीन टीकाओं में मिलता है।

जो कुछ न्यूनतायें उनके गद्य में हैं वे इसी लिए हैं कि उन्होंने साधारण प्रबन्ध-लेखक की हैसियत से 'वार्तायें' नहीं लिखी थीं, वरन् एक गम्भीर सम्प्रदाय-प्रचारक वैष्णव होते हुए एक निश्चित धार्मिक उद्देश्य से लिखा था।

---

१

# श्री गुसाईं जी के सेवक एक खंडन ब्राह्मण की वार्ता

सो श्रीनन्द गाम में रहेतो हतो । सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो । सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो ऐसो वाको नेम हतो । याहीं तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पाड्यो हतो । सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो सो खंडन करन लाग्यो । वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं । इहां खंडन मंडन नहीं है । भगवद्वार्ता को काम है । भगवद्यश सुननो होवै तो इहां आवो । तोहू वाने मानी नही नित्य आयके खंडन करे । ऐसे वाकी प्रकृती हती । फेर एक दिन वैष्णवन को चित्त बहुत उदास भयो । जब वो खंडन ब्राह्मण घर में सूतो हतो तब चार जने वाकु मुग्दर लैके मारन लगे । तब वानें कही तुम मोकु क्यों मारो हो । तब चार जनेन ने कही तुम भगवद्धर्म खंडन करो हो । और भगवद्धर्म सर्वोपर है । सर्व धर्मन से श्रेष्ठ है । केवल भगवत्परायण हैं । भगवदर्पण कर्यो हैं । तन मन धन जिनमें विनको कोई अर्थ बाकी रह्यो नहीं है । सर्व सिद्ध भये हैं । ऐसे धर्मन कु खंडन करे हैं । ये सुनके खंडन ब्राह्मण विन चार जनेन के पावन पड्यो । और दूसरे दिन भगवतमंडली में आयके वैष्णवन के पांवन पड्यो और वैष्णवन सु वीनती करी के मोकु कृपा करके वैष्णव करौ और वैष्णवनकु संग लैके श्रीगोकुल आय के श्रीगुसाईं जी को सेवक भयो । सो वे खंडन

ब्राह्मण श्रीगुसाईं जी की कृपाते मंडन भयो ।

("दोसौ बावन वैष्णवों की वार्ता से")

---

२

# नंददास जी की वार्ता

नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते । सो विनकूं नाच तमासा देखबे की तथा गान सुनबे को शोक बहुत हतो । सो वा देश मेंसूं एक संग द्वारका जात हतो । जब विननें तुलसीदास सूं पूंछी तब तुलसीदास जी रामचंद्रजी के अनन्य भक्त हते । जासूं विननें द्वारका जायबे की नाहीं कही । सो मथुरा सूधे गये । मथुरा में वा संगकूं बहुत दिन लगे सो नंददास संग कूं छोड़कर चल दीने ।......

सो नन्ददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी काशी में रहते हुते । सो विननें सुन्यो नंददास जी श्री गुसाईं जी के सेवक भये हैं । जब तुलसीदास जी के मन में ये आई के नंददास जी ने पतिव्रता धर्म छोड़ दियो है आपने तो श्री रामचंद्र जी पती हुते । सो तुलसीदास जी ने ये बिचार के नंददास जी कुं पत्र लिख्यो । जो तुम पतिव्रता धर्म छोड़ के क्यों तुमने कृष्ण उपासना करी । ये पत्र जब नंददास जी कुं पहुंचो तब नन्ददास जी ने बांच के ये उत्तर लिख्यो । जो श्री रामचंद्र जी तो एक पत्नीव्रत में हैं सो दूसरी पत्नीनकुं कैसे सँभार सकेंगे एक पत्नी हुँ बरोबर

बन रुचे तो दंडकारण्य में रहो । ऐसे बड़े-बड़े धाम श्री रामचंद्र जी ने पवित्र करे हैं। तब नंददास जी ने उत्तर देवे कुं ये पद गायौ:—

"जो गिरि रुचे तो बसो गोवर्धन गाम रुचे तो बसो नंदगाम ।
नगर रुचे तो बसो श्री मधुपुरी सोभा सागर अति अभिराम ॥
सरिता रुचे तो बसो श्री जमुनातट सकल मनोरथ पूरण काम ।
नंददास कानन रुचे तो बसो भूमि वृन्दाबन धाम ॥ "

ये पद सुनके तुलसीदास चुप रहे । जब नंददास जी श्रीनाथ जी के दर्शन करिवे कुं गये । तब तुलसीदासहूं उनके पीछें-पीछें गये । जब श्री गोबर्धननाथ जी के दर्शन करे तब तुलसीदास जी ने माथो नमायो नहीं। तब नंददास जी जान गये । जो ये श्रीरामचंद्र जी बिना और दूसरे कूं नहीं नमे हैं । जब श्री नंददास जी ने मन में विचार कीनों यहां और श्रीगोकुल में इनकूं श्रीरामचंद्र जी के दर्शन कराऊं । तब ये श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानेंगे । जब नंददास जी ने श्री गोबर्धननाथ जी सो विनती करी ।

दोहा:—"आज की सोभा कहा कहूँ, भले बिराजत नाथ ।
तुलसी-मस्तक तब नवे, धनुष-बाण लेओ हाथ ॥"

जब श्रीगोबर्धननाथ जी ने श्रीरामचंद्र जी को रूप धरके तुलसीदास जी कुं दर्शन दिये । तब तुलसीदास जी ने श्रीगोबर्धननाथ जी कुं साष्टांग दंडवत करी ।

( "दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता से" )

# महाराजा जसवन्तसिंह

( सन् १६२६—१६७८ )

—:o:—

महाराजा जसवन्तसिंह जी मारवाड़ के राज-वंश के एक रत्न थे। इन्होंने अपने जीवन-काल में वीर योद्धा, राजनीतिज्ञ तथा साहित्यसेवी सभी रूपों में अच्छी ख्याति कमाई थी। मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ के तो वे एक परम विश्वासपात्र सलाहकार थे। इन पर बादशाह की बराबर कृपा-दृष्टि रही और कई बार उन्हें वह लड़ाइयों में भी ले गया था। जब औरंगज़ेब ने अपने भाइयों की मार-काट मचा कर राज्य छीना तब उसे जसवन्तसिंह जी की ओर से बहुत समय तक भय बना रहा। इसी से उन्हें अपने साथ बनाये रखने का उसने प्रयत्न भी किया। अन्त में उनके राजपूती पराक्रम तथा राज़-नीतिक कुशलता से भयभीत होकर उसने उन्हें काबुल की लड़ाई में बहाने से भिजवा दिया। थोड़े ही दिनों बाद उनका स्वर्गवास भी हो गया। जसवन्तसिंह जी अपने समय के राजाओं में शायद एक बड़े साहित्यज्ञ थे। यों तो कई छोटी छोटी पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं। पर उनका नाम रीतिविषयक 'भाषाभूषण' नामक रचना से अधिक प्रसिद्ध है। वेदान्त-सम्बन्धी उनकी कई रचनायें हाल में जोधपुर-राज्य की ओर से

'वेदान्तपंचक' नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें कई स्थलों पर उन्होंने गद्य का भी प्रयोग किया है।

## उनके गद्य की विशेषतायें

यों तो उनसे काफ़ी पहले के हिन्दी-गद्य के नमूने यत्र-तत्र मिले हैं, जैसे गंगकवि, जटमल आदि की त्रुटित रचनायें। पर, गोकुलनाथ के बाद 'किशोरदास', 'जानकीप्रसाद' तथा पीछे सन् १८१८ की लिखी हुई मुन्शी सदासुख की 'सुखसागर' नाम की रचना के मध्यवर्ती गद्य का स्वरूप अभी तक नहीं मिला। अतएव जसवन्तसिंह जी के ग्रन्थों में प्राप्त गद्यांश बड़े महत्व के हैं।

उनका गद्य ठीक वैसा ही है जैसा कि पुराने ग्रन्थों पर लिखी हुई टीकाओं का होता है। उसमें आजकल की परिस्कृत हिन्दी का वही प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है जिसमें व्रज-भाषा के शब्दों का ही बहुतायत से प्रयोग होता था। 'अरु', 'तऊ', 'जु', 'कछु', 'देखि' आदि शब्द इस बात के प्रमाण हैं। यही नहीं वाक्य-रचना भी व्रजभाषामय वार्तिक गद्य की सी है। एक ही बात कई बार दुहराई गई है जिससे उसका भाव स्पष्टतया वाचक को प्रकट हो जाय।

उदाहरण लीजिये :—

"ज्यों बंध्यौ जल अरु चलतो जल, बंध्यौ है तऊ जल है, और जो चल्यौ है तऊ जल है।"

इस प्रकार की पुनरुक्ति अथवा वाग्विस्तर प्रायः कथा-वार्ता करते समय पंडित लोग काम में लाया करते हैं, क्यों कि उनकी कथा सुनने वालों में सभी श्रेणी की जनता इकट्ठा होती है और उन्हें भावार्थ समझाने के लिए दृष्टान्त देने की, एक ही बात को भिन्न-भिन्न ढँगों से कहने तथा अन्य ऐसी युक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है। यही बात प्राचीन गद्य-लेखकों को ध्यान में रखनी पड़ती थी। उनके समय में आजकल की सी गठीली, मुहावरेदार तथा लचीली भाषा तो बनी नहीं थी जिसे वे साहित्यिक उपयोग में लाते। इसी से तत्कालीन बोल-चाल की अनगढ़ भाषा को ही तोड़-मरोड़ कर काम निकालना अपरिहार्य सा हो जाता था।

जसवन्तसिंह जी को वेदान्त के दुरूह सिद्धान्त अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित करने थे। अतएव, उन्हें उसी कथा-वार्ता वाली पंडिताऊ भाषा का ही आश्रय लेना पड़ा। यही नहीं उन्होंने अपनी भाषा की परिमित व्यंजना-शक्ति का समुचित प्रतिकार करने के लिए तथा अपने विचारों की विशदता बढ़ाने के लिए उपयुक्त दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। जैसे, ज्ञान और बोध का पारस्परिक भेद दिखलाते हुए वे कहते हैं :—"ग्यान कारण है अरु बोध कारज है। क्यौं ज्यौं बंध्यौ जल अरु चलतो जल। बंध्यौ है तऊ जल है, और जो चल्यो है तऊ जल है।"...... अर्थात् 'बोध' अथवा 'बुद्धि' और ज्ञान में वही भेद है जो स्थिर जल में तथा बहते जल में है।

इन सब बातों को देखते हुए जसवन्तसिंह जी के गद्य की भाषा काफ़ी समीचीन तथा व्यंजक है। उसमें उस समय को देखते हुए अच्छी चिक्कणता तथा भावपूर्णता है। इसके सिवाय उसमें वह बर्बरता तथा अपांगता नहीं है जो किशोरदास के गद्य में है। उसमें प्रसादगुण भी है। तभी तो उस भाषा के द्वारा वेदान्त-विषयक विचारों के प्रतिपादन का काम ऐसी अच्छी तरह से हुआ है।

एक बात आश्चर्यजनक है कि राजस्थान में रहते हुए भी जसवन्तसिंह जी ने राजस्थानी शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं किया। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे बहुत समय तक मुग़ल-दरबार में रहे, मुग़लों के घनिष्ट संपर्क में रहे तथा सुदूर प्रान्तों में समय समय पर राजकीय कार्यवश आते जाते रहे, जिससे उनकी भाषा संमिश्रित होगई होगी।

## वेदान्त-विषयक वार्ता

......बुधि है सो बोध है, तब देखि कै बोध में अरु ग्यान में कहा भेद है, क्यौंकि ग्यान कारण है अरु बोध कारज है, क्यौं ज्यौं बंध्यौ जल अरु चलतो जल, बंध्यौ है तऊ जल है, और जो चल्यौ है तऊ जल है, और तैसै जो चल्यौ ही ग्यांन अरु बोध जांनि और अबिद्या जु है सु इनतैं भिन्न है, अबिद्या विषै मैं है, देखि ज्यों कहै हैं कि बादर चन्द्रमा कै आडैं आयौ सु कछु चंद्रमा कै आडैं नहीं दिष्ट कैं आडे आवै हैं तैसे ही जु अविद्या कछु बोध मैं नाहीं मीली, अविद्या विषै मैं है।......

# किशोरदास

## ( १७वीं शताब्दी )

—:o:—

[ सन् १९१७ के लगभग स्वर्गीय डाक्टर वेनिस को कहीं से १७वीं शताब्दी की लिखी हुई एक 'शृङ्गारशतक' की टीका उपलब्ध हुई थी। उसमें किसी किशोरदास का नाम लिखा हुआ था। अनुमान यही किया गया कि उस नाम का कोई प्रतिलिपिकार रहा होगा। अन्यथा इस टीका की पांडुलिपि में अनेक भद्दी-भद्दी अशुद्धियाँ मूल लेखक के हाथ से रह जाना कदापि सम्भव न था। उसी से ५१वें 'श्लोक' की टीका का थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जावेगा।]

१७ वीं शताब्दी में लिखी हुई उपर्युक्त शृङ्गारशतक की टीका पर ड्यूहर्स्ट साहब ने यू० पी० हिस्टोरिकल जर्नल (U. P. Historical Journal) में एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने उस टीका की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है। अशुद्धियां तो बहुत सी हैं ही, पर वैसे भी अनेक प्रयोग चिन्त्य हैं। जैसे 'ई' के स्थान में 'इी', 'ए ऐ' के लिए 'अे अै' तो सर्वथा देख पड़ते हैं। 'ख' के स्थान में 'ष' तो पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकों में लगभग सभी में मिलता है।

यह तो हुई स्पेलिंग की बात। टीकाकार के शब्द-भांडार में शब्द तो बहुत हैं पर उनमें से कुछ तो अब अप्रचलित हैं और

कुछ प्रान्तीय हैं, जिनका अर्थ खोजना आसान काम नहीं है। 'ओझल' के बदले 'वोझिल' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'अरुचिकर' के अर्थ में 'गयार' शब्द का बहुत उपयोग हुआ है।

एक बात उल्लेख्य है कि जितने शब्द किशोरदास ने अपनी टीका में रक्खे हैं वे अधिकांश में या तो शुद्ध हिन्दी से या संस्कृत से निकले हैं। केवल कुछ शब्द जैसे 'बारीक', 'सिल-सिले' आदि फ़ारसी-भाषा के हैं।

किशोरदास की गद्य-शैली उसी ढंग की है जैसी की अन्य बहुत सी प्राचीन टीकाकारों की है। वाक्य-रचना बड़ी शिथिल तथा असावधानतापूर्ण है, भाषा बिलकुल नीरस है। सिवाय इसके कि प्रस्तुत 'शृङ्गारशतक' की टीका के पता लग जाने से हिन्दी-गद्य का एक और प्राचीन अनगढ़ नमूना मिल गया, और कोई साहित्यिक लाभ इसके प्राप्त होने से नहीं हुआ। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अजायबघर में रखने के अतिरिक्त उसका कोई भी उपयोग नहीं।

---

## टीका

अर्थ। 'अंगना' जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्यु करन चाहित है ता कार्य विषे। ब्रह्माऊ। 'प्रत्यूहं आधातुं'। अन्त राउ कीवे कहुं। 'कातर'। काइरु है। काइरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री कर्यो चाहैं सु अवस्य करहि। ता कौ अन्तराउ ब्रह्मा पहं न कर्यौ जाइ

और की कितीक बात । जैसे एक कथा भागवत विषे है । जु एक समय कस्यपु संध्या समय विषे संध्या कै ईश्वर कौ सुमिरनु करत बैठे हुते । तब इतने बीच कस्यप की स्त्री दिति कस्यप के आंगे ठाढ़ी भई ठाढ़ै ह्वै करि कहन लगी कि अहो प्राणेस्वर कस्यप । देषहु अदितिहि आदि दै जितीक मेरी सब सपत्नी हैं सु तिनि सपत्नीन के पुत्रनि कौ मुषु देषत मेरे परमु संतापु होतु है । तब यह सुनि कस्यप यह बिचारी । कि स्त्री की संगति अर्थु, धर्मु, काम, मोक्ष होतु है । अरु स्त्री की संगति ग्रहस्थु और तिनिहू आश्रमनि की पालना करतु है । अरु अपुन संसार समुद्र के पार होतु है । सु स्त्री ऐसी बड़ी है । अरु स्त्री पुरुष की अर्धांगु है । अरु स्त्री ऐसी है जाकै बल गृहस्थु बड़े रिपु इंद्रयनि डगावती हैं जैसे गढ़पती गढ़ के बेल शत्रुनि जीतत है । ताते सुनहु दिति जौलौं हमारी सम्पूर्ण आउ बीतिहै तौलौं हम तुमहि उरन न ह्वै सकिहैं ।

[ यह टीका इस श्लोक की है :—

"उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभन्ते यदंगनाः ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरहः ॥"]

# देवीचन्द

———:०:———

[ जोधपुर क़िले के हस्त-लिखित पुस्तकों के संग्रह से 'हितोपदेश-ग्रन्थ-महाप्रबोधिनी कथा' नाम की एक प्रति मिली है। इसमें मेदनीपुर के रहने वाले किसी देवीचन्द का नाम दिया हुआ है। उन्होंने यह हितोपदेश की कथा शाकंभरी अर्थात् सांभर नगर में संवत् १८४४ तदनुसार सन् १७८७ में लिखी थी। कह नहीं सकते कि वे मूल लेखक थे अथवा प्रतिलिपिकार। ]

## उनकी भाषा

देवीचन्द एक ओर गोकुलनाथ के और दूसरी ओर इंशा-अल्ला खां, मलिक अम्मन, कृपाराम, मुंशी सदासुख, सदल मिश्र तथा लल्लूलाल के बीच में सन्धि बनाते हैं। गोकुलनाथ के पीछे की तथा १९वीं शताब्दी से पहले की कोई भी उल्लेख्य गद्य-रचना अभी तक उपलब्ध न हुई थी। यह कमी 'हितोपदेश-वार्ता' से पूरी होती है। इस बीच में गद्य-साहित्य की विकाश-धारा की क्या प्रगति थी इसका निर्णय नहीं हो सकता। देवीचन्द की प्रस्तुत रचना से यह ज्ञात होता है कि १७वीं और १९वीं शताब्दियों के बीच के समय में किन्हीं कारणों से गद्य-शैली का विशेष परिमार्जन तथा विकास न हो पाया था।

उनकी शब्दावली तथा वाक्य-रचना दोनों में व्रजभाषा का व्यापक प्रभाव देख पड़ता है। गोकुलनाथ की भाषा से उसमें इतना अन्तर अवश्य है कि इसमें उस प्रकार का शैथिल्य नहीं है जो 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं' में अधिकता से मिलता है। गोकुलनाथ एक तो पुनरुक्ति दोष बहुत करते हैं। एक ही वाक्य में एक ही पुरुषवाची संज्ञा शब्द को वे बार बार प्रयोग करते हैं और उसके स्थान में सर्वनाम नहीं लिखते। देवीचन्द इस दोष से मुक्त हैं। इसके सिवाय उनकी भाषा में अच्छा प्रवाह है और वह काफ़ी सुसम्बद्ध है। आगे उनकी 'हितोपदेश-कथा' से जो अवतरण दिया जावेगा उसे पढ़ने पर उस प्रकार की रुकावट अथवा लय-त्रुटि का अनुभव नहीं होता जो गोकुलनाथ में होता है। तात्पर्य यह है कि देवीचन्द के वाक्य भली भाँति एक दूसरे से पिरोये जान पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि उनकी भाषा से उनकी ख़ुद की उद्भावना-शक्ति का विशेष परिचय नहीं मिलता जो उच्च कोटि के लेखकों में पाई जाती है।

उनकी वर्णन-शक्ति भी बड़े ऊंचे दर्जे की नहीं कही जा सकती। कहीं कहीं तो वर्णन करते करते वे एकदम रुक से जाते हैं मानो चलते चलते कोई एकाएक स्तम्भित होकर खड़ा हो जाय। इसका उदाहरण दिये हुए अवतरण के अन्तिम वाक्य में मिलेगा।

अभी कह चुके हैं कि देवीचन्द का गद्य काफ़ी सुसंगठित

है। पर यह बात सर्वांश में ठीक नहीं है, क्योंकि उनके वाक्य अत्यंत छोटे छोटे हैं जिसका अर्थ यह होता है कि लेखक को भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। इसी से वह ऐसे वाक्य लिखता है।

## भाषा का नमूना

एक नंदक नाम राजा ताकै चानायक नाम मंत्री। सरे राज काज को अधिकारी। तहां एक दिन राजा मंत्री सहित सीकार गयो। तहां राजा काहू जीव पिछै मंत्री सहित दौरे। सेना सों बिछुर परैं तब तहां दुपहर के समैं त्रषा लागी। तब एक वृक्ष के झंझ में उतरे। तहां पानी की भरी बावरी देखी। तब राजा घोड़े से उतर पानी पीवन गयो। जल पीयो। तहां एक पाहन में लिख्यौ देखौ। जो राजा अरु मंत्री दोऊ तेज बराबर होय तो लिछमी दोयन मैं एक को छोडै। तब राजा यह लिख्यो पढ़ वाके अच्छर ऊपर गार लपेटी। आप बाहिर आयो। तब मंत्री पानी पीवन गयो। आगे देखै तो पांहुन के गार लागी है। यैं नई सी लागी है। तब पानी धोय अरु लिखत बांच्यो। तब जांन्यौ राजा मोसों द्रोह आचर्यो है। और राजा खेद कर एकान्त सूतो है। तब मंत्री राजा को मार्यौ।

# कृपाराम

[ जोधपुर के क़िले में जो हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है उसमें वार्ताओं की कई पोथियाँ हैं। उन्हीं में से 'पारसभाग' नामक एक पोथी है। लेखक के कहने के अनुसार वह 'कीमिया शहादत' नाम की एक फ़ारसी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसका रचनाकाल संवत् १८७४ अथवा सन् १८१७ है। लेखक का नाम अन्त में यों दिया है। 'सेवापंथी साधू भाई अडन जी का शिष्य कृपाराम।' इस बात का निर्णय करना कठिन है कि कृपाराम मूल पुस्तक के अनुवादक का नाम है अथवा उस अनूदित पुस्तक की प्रतिलिपि करनेवाले का नाम है। ]

## 'पारसभाग' की भाषा

ऊपर दिये हुए काल के अनुसार कृपाराम १९वीं शताब्दी के पूर्वभाग में थे, और उनकी भाषा इंशा तथा मलिक अम्मन के कुछ पीछे की हैं। मुंशी सदासुख भी उन्हीं के समसामयिक थे, क्योंकि उन्होंने 'सुखसागर' की रचना भी सन् १८१८ में की थी। पर मुंशी जी के गद्य में तथा 'पारसभाग' के गद्य में काफ़ी अन्तर है। 'सुखसागर' से एक अवतरण लीजिए :—

'यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।...'

अब 'पारसभाग' की भाषा की बानगी लीजिए :—

'जैसे कोई क्रोध करिकै अपणे सत्रु कूं पाथर मारै। बहुरि इसका सत्रु उस पाथर की चोट तें बंचि जावै वह पाथर उलटि करि इसही के नेत्र के लागै। तातै इसका नेत्र अंध ह्वै जावै।...'

दोनों की भाषा की तारतम्यता करने से जान पड़ता है कि सदासुख का गद्य शिष्ट समाज की बोल-चाल में प्रचलित खड़ी बोली से बहुत मिलता-जुलता है। उनकी भाषा में वह लड़-खड़ाहट नहीं देख पड़ती जो पहले के गद्य-लेखकों की भाषा में मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि मुंशी जी ने प्राचीन गद्य-लेखन की शैली को एकदम से छोड़ कर एक नया रास्ता निकाला है और 'सुखसागर' के द्वारा साहित्यिक गद्य का सम्बन्ध वाग्धारा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। हाँ, कहीं कहीं तो मुंशी जी ने भी ठेठ भाषा के प्रयोग रख छोड़े हैं, जैसे 'आवै है'। पर वे इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने अपने गद्य को फ़ारसी-मिश्रित दरबारी भाषा में नहीं किन्तु, हिन्दू-समाज में साधारण बोल-चाल में प्रचलित भाषा में ढाला है।

'पारसभाग' का गद्य मुंशी जी के गद्य से सर्वथा विभिन्न है। वह साहित्यिक गद्य की उस अवस्था का है जब कि किसी प्रकार की उत्कृष्ट, रचनायें न होने कारण तथा गद्योपयुक्त किसी भाषा-शैली के निर्धारित न हो सकने के कारण पंडिताऊ ढँग का गद्य ही व्यवहृत होता था।

पर, कृपाराम की भाषा को ध्यान से पढ़ने पर इस बात

का कुछ कुछ आभास होने लगता है कि अब पुराने ढँग की टीकावाली पंडिताऊ भाषा का रूपान्तर होनेवाला है। समय बदल रहा है, परिस्थिति पलट रही है और भाषा का कलेवर भी तदनुसार परिवर्तित होने को है। बात ऐसी ही थी। १६वीं शताब्दी के आरम्भ से ही देश में अँगरेज़ी राज्य की नींव पुष्ट होने लगी थी और पाश्चात्य सभ्यता का रंग गहरा चढ़ता जा रहा था। फिर भला एतद्देशीय भाषा पर क्यों न असर पड़ता?

एवं, कृपाराम की भाषा का रुख व्रजभाषा की ओर से मुड़ता हुआ सा देख पड़ता है। उनकी भाषा में वह स्थूलता, कर्कशता तथा अनगढ़ता नहीं है जो किशोरदास आदि पूर्ववर्ती १७वीं शताब्दी के लेखकों में है। विशदता की भी उसमें कमी नहीं है। क्योंकि भाव बड़ी सफ़ाई से प्रकट किये गए हैं। यह भी मालूम होता है कि खड़ी बोली का साम्राज्य शीघ्र ही हिन्दी-गद्य पर स्थापित होने को है। यद्यपि 'करिकै', 'सत्रु कूं', 'चोट तें', 'अवर', 'पाथर', आदि बहुतेरे प्रयोग कृपाराम की भाषा का सम्बन्ध पूर्वकालिक भाषा से प्रकट करते हैं, पर बीच-बीच में 'करता है', 'हसता है', 'वह' आदि से तत्कालीन साहित्यिक प्रगति का बोध होता है। उनकी भाषा में कुछ राजस्थानी अपभ्रंश की भी झलक है। जैसे, 'अपणों', 'उसकूं' आदि शब्दों में अन्त में। यह कहना आवश्यक है कि १६वीं शताब्दी में कृपाराम से गद्य के प्राप्त होने से उस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की

परिपुष्टि होती है कि किसी समय जब साहित्यिक धारा में परिवर्तन होने वाला होता है तब क्रमशः होता है। आकस्मिक, उलट-फेर कभी नहीं होते।

---

## भाषा का नमूना

जैसे कोई क्रोध करिकै अपणें सत्र कूं पाथर मारै। बहुड़ि इसका सत्र उस पाथर की चोट तें बंचि जावै वह पाथर उलटि करि इसही के नेत्र कें लागै ॥ तातें इसका नेत्र अंध ह्‌वै जावै। बहूड़ि (?) अधिक क्रोध करिकै ॥ अवर पाथर उसकूं मारै ॥ तब उसी चोट करिकै उसका दूसरा नेत्र भी अंध हो जावै। बहूड़ि अवर पाथर मारै ॥ तब उलटि कै इसही का सीस फुटि जावै। बारंबार जैसे ही आप कूं घायल करै। अरु वह सत्र उसकूं देषि करि हसता है। तैसे ही ईर्षा करणेंहारा पुरुष अपणें अपही (?) कौं दुषी कर्ता है।

---

# प्रारम्भिक आधुनिक गद्य

( १८०० के लगभग )

# सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ

——:o:——

## संक्षिप्त जीवनी

यह मीर माशाअल्लाह खाँ के सुपुत्र थे। इंशा साहब के पूर्वज किसी समय समरक़ंद के निवासी रहे थे। वहाँ से वे काश्मीर होते हुए दिल्ली में आ बसे थे। दिल्ली के राज-दरबार में सदा से वह वंश सम्मानित होता रहा था। इंशा के पिता जी भी पैतृक प्रतिष्ठा के बल पर राजवैद्य नियुक्त हुए थे। मुग़ल-साम्राज्य के अस्त होने पर वे मुर्शिदाबाद चले गये थे। वहां भी उनका वैसा ही सम्मान बराबर होता रहा।

इंशा की शिक्षा ठीक उसी प्रकार से हुई थी जैसी कि किसी धनाढ्य-कुल-सम्भूत बालक की होती है। पर जैसा कि प्रोफ़ेसर आज़ाद कहते हैं, वह होनहार बालक अपने साथ एक विलक्षण तथा कुतूहल-पूर्ण तबियत लेकर उत्पन्न हुआ था। एवं इंशा की प्रकृति में आरम्भ से ही एक प्रकार का वैचित्र्य अथवा सरसता थी जिसका विकास तथा प्रदर्शन सिवाय कविता के अन्यत्र कहीं भी उत्तमता से न हो सकता था। अस्तु इंशा ने कविता लिखना शुरू किया। पर उन्होंने कभी भी अपनी रचनायें किसी दूसरे की सम्मति के लिए नहीं दिखलाई। केवल आरम्भ में अपने पिता को तो अवश्य दिखाते थे।

जब मुर्शिदाबाद के नवाबों की राज्य-श्री के बुरे दिन आये तब सैयद इंशा दिल्ली में शाहआलम के दरबार में प्रविष्ट हुए। वहां बादशाह ने

उनकी कविता का समुचित आदर किया, और सदैव साधुवाद देकर उनकी कवित्व-शक्ति को उत्तेजित किया।

जिस समय इंशा दिल्ली के राज-दरबार में उपस्थित थे उस समय वहां 'सौदा' और 'मीर' ऐसे उस्तादों का तथा उनके चेलों का जमघट था। अपनी कवित्व-शक्ति तथा अपने गुरुओं की गुण-गरिमा के घमंड में वे सब झूम रहे थे। भला इंशा ऐसे अल्पवयस्क पुरुष की प्रतिभा पर वे विश्वास क्यों करने लगे। इंशा को भी यह ज्ञात हो गया कि वे सब अपने सामने उन्हें ठहरने न देंगे।

मुशायरों में इंशा ने एक-एक करके सब को नीचा दिखाया। मिर्ज़ा-अज़ीमबेग को पहले पहल उन्होंने पछाड़ा। बात यह थी कि वे एक बार अपनी रचना इंशा के पिताजी को सुनाने गये। दैवयोग से उसमें कोई शैथिल्य रह गया था। इंशा उसे ताड़ गये। उन्होंने मिर्ज़ा साहब की उस समय बड़ी प्रशंसा की और उन्हें उसे बीच मुशायरे में पढ़ने को कहा। तदनुसार मिर्ज़ा साहब ने ऐसा ही किया। परन्तु वहां पर उनकी इंशा ने बड़ी हँसी उड़ाई और उन्हीं के साथ-साथ अपने अन्य प्रतिस्पर्द्धियों की अच्छी खबर ली। वहीं बैठे-बैठे उन्होंने कुछ व्यंग-पूर्ण पद्य भी बनाये।

कुछ काल तक दिल्ली में रह कर वे लखनऊ गये। वहाँ वे नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार में रहने लगे। लखनऊ में उन्होंने अपनी रँगीली तबियत से बड़ी धूम मचाई। नित्य नये नये हास्य-पूर्ण वृत्तांत उनके द्वारा घटित होने लगे। जैसा कि प्रोफ़ेसर आज़ाद का कहना है कि 'इंशा चंचलता में पारे के समान थे', ठीक यह बात उनके चरित्र से टपकती है। इसके दो एक उदाहरण काफ़ी होंगे।

जिन दिनों वे नवाब सआदत अली खाँ की मुसाहिबी में थे उन्हें एक बहुरूपियापन की बात सूझी। नवाब साहब के महल के पास ही गोमती बहती थी। बस एक दिन बड़े सबेरे इंशा पंडित का वेष बनाकर नदी के किनारे अच्छी तरह टीका-पाटा से तैयार होकर बैठ गये। डाढ़ी, मूछें तो वे वैसे ही मुड़ाये रहा करते थे। तिस पर वेष-भूषा भी उनकी ठीक पंडित की सी ज्ञात होती थी। अस्तु, सभी स्त्री-पुरुष इंशा साहब के पास दान-पुण्य करने के लिए आने लगे। इंशा साहब बाक़ायदे संस्कृत के मंत्रों का जप करते जाते थे और संकल्प पढ़ पढ़ कर अन्न तथा पैसे का दान रखवाते जाते थे।

नवाब साहब ने जब यह हाल सुना तो बड़े हँसे।

इन वृत्तान्तों से इंशा की रसीली और मस्ती से भरी हुई तबियत का पता लगता है। उनकी भाषा में उसी प्रकार की फुदक तथा चंचलता के लक्षण हैं।

इंशा की प्रकृति में आत्माभिमान अथवा प्रगल्भता की भी बड़ी मात्रा थी। वे समझते थे, जैसा कि प्रत्येक प्रतिभावान् पुरुष न्यूनाधिक परिमाण में समझता है, कि उनमें उच्च कोटि की मेधाशक्ति थी। इस विषय में उनके ये प्रसिद्ध शेर ध्यान में रखने योग्य हैं:—

"यक तिफ़्ल दबिस्ताँ है फ़लातूँ मेरे आगे।
क्या मुँह है अरस्तू करे जो चूँ मेरे आगे॥१॥
बोले है यही खामा कि किस किस को मैं बाँधूँ।
बादल से चले आते हैं मज़मूँ मेरे आगे॥२॥

# इंशा का गद्य

इस बात का अनुमान करने के लिए कि लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के हाथों से आधुनिक हिन्दी गद्य की नींव कैसी गहरी पड़ रही थी, सैयद इंशा के गद्य की पर्यालोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में यह देखते हुए कि सैयद साहब ने बिना किसी तात्कालिक उद्देश्य से प्रेरित होकर 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी सुबोध तथा रोचक भाषा में लिख कर हिन्दी-गद्य की एक समीचीन प्रणाली चलाई, उनको यदि लल्लूलाल और सदल मिश्र से भी ऊँचा आसन दें तो सर्वथा उचित ही होगा। क्योंकि लल्लूलाल ने तो फोर्टविलियम कालेज के मुख्य अध्यापक गिलक्राइस्ट साहब की अनुमति से ताज़े विलायत से आये हुए ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अंग्रेज़ी अफ़सरों के लाभ के लिए 'प्रेमसागर' तथा अन्य ग्रन्थ ऐसी भाषा में लिखे थे जिन्हें वे सहज में समझ सकें। इसी प्रकार सदल मिश्र ने भी संस्कृत से 'नासिकेतोपाख्यान' का उल्था किया था। उनका भी उद्देश्य वही रहा था। इसके सिवाय इन दोनों को लिखते समय मूलग्रन्थों से बहुत कुछ सहायता मिली थी। कम से कम लल्लूलाल को तो चतुर्भुजदास की भागवत से कुछ मदद मिली होगी। उनके लिए शैली गढ़ना इतनी टेढ़ी खीर नहीं थी जितनी कि सैयद इंशा के लिए। ऐसी दशा में इंशा ने यदि केवल 'स्वान्तःसुखाय', और किसी

पुस्तक को सामने रख कर 'रानी केतकी की कहानी' सर्व-साधारण के समझने योग्य हिन्दी में अथवा यों कहिए कि फ़ारसी-अरबी से मुक्त उर्दू में लिखने का प्रयत्न किया तो उन्हें बिना साधुवाद दिये नहीं रहा जाता।

उन्होंने मुसलमान होते हुए तथा अरबी-फ़ारसी के वायु-मंडल में रहते हुए जिस हिन्दीपन से रँगी हुई भाषा लिखने में सफलता प्राप्त की है वह आश्चर्यमय है। 'रानी केतकी की कहानी' न केवल शब्द-भांडार के विचार से वरन् भावों के विचार से भी प्रौढ़ और परिमार्जित हिन्दी-गद्य का अच्छा नमूना है। यद्यपि इंशा साहब ने उसकी रचना उर्दू-लिपि में ही की थी, तथापि उसको हिन्दी-साहित्य में परिगणित करना अनुचित नहीं।

अब, इंशा साहब की लेखन-शैली का विश्लेषण करना है। सबसे पहला गुण जो उनकी 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा में प्रत्येक वाचक को देख पड़ता है वह यह है कि उसमें रँगीलापन कूट कूट कर भरा है। किसी बात को बिना घुमाये फिराये, बिना रसीली उपमाओं तथा रूपकों का नमक-मिर्च लगाये कहना इंशा साहब की प्रकृति के विरुद्ध है। इस बात का उदाहरण उनके इस वाक्य से मिल सकता है, 'जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल चपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।'

इसी अभिप्राय को वे सीधी सादी तरह से सूक्ष्मतया व्यक्त कर सकते थे। पर वैसा करने में उनकी मनोरंजन-प्रिय प्रवृत्ति को सन्तोष न हो सकता।

सारांश यह है कि उनकी लेखनी बड़ी चुलबुली है। एवं उनकी भाषा में एक प्रकार की फुदक है। उनकी भाषा के एक एक अक्षर तथा शब्द में चंचलता है।

इसके सिवाय इंशा साहब में शाब्दिक कंजूसी लेश-मात्र को भी छू नहीं गई। लिखते समय उनके मनमें ये दो बातें रहती हैं। एक तो यह कि जो कुछ लिखा जाय वह बिना किसी कष्ट के पढ़नेवाले की समझ में आजावे। दूसरी बात जिसका वे ध्यान रखते हैं और जिसकी सिद्धि के लिए वे अपना शब्द-भांडार निछावर करने को तैयार रहते हैं वह यह है कि उनकी यह हार्दिक इच्छा रहती है कि वे जो कुछ लिखें वह नीरस न हो, और वाचकों की रोचकता के लिए काफ़ी सामग्री रहे।

ऐसे उद्देश्य रखने वाले लेखक के हिसाब से अर्थगाम्भीर्य की अपेक्षा व्यंजना अधिक महत्वपूर्ण होती है। अस्तु, सैयद इंशा भाषा की सुन्दरता का अधिक प्रयत्न करते हैं।

अभी उनके गद्य के जिस चुटीलेपन अथवा हृदयग्राहिता का उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध में उनके हास्यरस का भी कुछ वर्णन करना है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि इंशा ऐसे चुहचुहाती भाषा के लेखक के लेखों में गम्भीरता की मात्रा न्यूनातिन्यून होना स्वाभाविक

ही है। उसके बदले हास्यरस अधिक परिमाण में मिलता है। इंशा ने अपनी हास्यपूर्णता का परिचय 'केतकी की कहानी' के प्रारम्भ में ही दिया है। ईश्वर-प्रार्थना करते समय भी उनकी दिल्लगीबाज़ी की आदत नहीं छूटी, क्योंकि ईश्वर को शिर झुकाते हुए भी उन्हें 'नाक रगड़ने' की अनोखी असामयिक बात सूझी। हद होगई मखोलपने की!

आगे चलकर कथानक के बीच में जब उदैभान अमराइयों में लेटने का स्थान ढूँढ़ते हुए वहाँ कई रमणियों से आज्ञा ले रहा है तो कहता है "मैं सारे दिन का थका हुआ एक पेड़ की छाँह में ओस का बचाव करके पड़ रहूँगा। बड़े तड़के धुन्धलके में उठकर जिधर मुँह पड़ेगा चला जाऊँगा।" 'जिधर को मुँह पड़ेगा' इस मुहावरे का प्रयोग केवल उपहासप्रेरित होकर किया गया है। इसी प्रकार हास्यरस के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

इन सब विचारों से इंशा की गद्य-शैली वस्तुतः विचित्र (Romantic) है, संस्कृत (Classical) नहीं, क्योंकि उनकी क़लम में लगाम नहीं और यह विचित्र लेखकों का मुख्य लक्षण है। इंशा में शाब्दिकता तथा चित्रकारिता बेहिसाब हैं। उनके गद्य में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं है। उनकी रचना गठीली है, और प्रोफ़ेसर आज़ाद के उपयुक्त शब्दों में, 'इनके अल्फ़ाज़ मोती की तरह रेशम पर ढलकते हैं'। 'इनके कलाम का बन्दो-बस्त आरगन बाजे की कसावट रखता है' और उनके निरर्थक

शब्द भी आज़ाद के शब्दों में 'मज़ा ही देते हैं।'

इतना अवश्य है कि इंशा की गद्य-रचना वास्तव में उर्दू के ढँग पर है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने कृदन्त-सूचक शब्दों तथा विशेषणों में भी वचन-सूचक विभक्तियाँ लगा दी हैं, जैसे 'आतियाँ जातियाँ साँसें', 'घरवालियाँ बहलातियाँ हैं' आदि आदि।

इनके गद्य में एक प्रकार की घनिष्टता है, अर्थात् उसमें कोई ऐसी बात है जिसके कारण उसे पढ़नेवाला, तत्काल लेखक की ओर आकृष्ट होजाता है, और उसके विषय में अधिक जानने के लिए उसमें कुतूहल उद्दीप्त हो उठता है। सच बात तो यह है कि यह घनिष्टता का गुण केवल उच्चकोटि के गद्य में ही मिलता है। अँगरेज़ी में एक साहित्यिक उक्ति है कि 'Style is the man' अर्थात् लेखक के मनोवेगों तथा भावों का पता उसकी लेखन-शैली से लग जाता है। यह उक्ति इंशाअल्लाह ख़ाँ के गद्य में चरितार्थ होती है।

इस कसौटी पर यदि लल्लूलाल और सदल मिश्र के गद्य को रक्खें तो वे शायद उतना ठीक न उतरें जितना इंशा उतरते हैं। बात यह है कि उन दोनों के लेख में कोई वैयक्तिकता नहीं देख पड़ती, न रोचकता है और न कुतूहल-जनक कोई गुण ही है। उपसंहार में, सैयद इंशा के गद्य के साहित्यिक मूल्य पर विचार करना है। हो न हो, उनका गद्य कल्पनाशील है, उसमें शाब्दिक चमत्कार भरा हुआ है, उसमें बौद्धिकता के लिए मुश्किल से स्थान है। अतएव, आधुनिक गद्य-लेखकों में

से इंशा साहब उन्हीं के आचार्य हैं जो गम्भीर विषयों पर मननयोग्य लेख लिखने से हिचकते हैं और सदैव शब्दों की फुलझरी छुटाने ही में तत्पर रहते हैं। पंडित प्रतापनारायण मिश्र को भी सैयद इंशा के सम्प्रदाय में सम्मिलित करना अनुचित न होगा।

तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि इंशा का सा गद्य साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा नीचे दर्जे का है। असलियत में यह उन्हीं के गद्य का प्रभाव है कि हिन्दी में रोचक गद्य लिखने की शैली का प्रचार हुआ है, और लेखक-गण निरी संस्कृतमयी हिन्दी लिखने के हिमायती न बनकर मुहावरों को महत्वपूर्ण समझने लगे हैं। यह मुहावरे प्रयोग करने की आदत सैयद इंशा के गद्य से ही हिन्दी-लेखकों ने सीखी है।

---

( १ )

# रानी केतकी की कहानी

यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं, उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खेलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़ुआ कसैला क्यों हो। उस फल कि मिठाई चक्खे जो बड़ों से बड़े अगलों ने चक्खी है।

देखने को दो आँखें दीं और सुनने को दो कान।
नाक भी सबसे ऊँची करदी मरदों को जो दान॥

मिट्टी बासन को इतनी सकत कहाँ जो अपने कुम्हार के करतब कुछ ताड़ सके। सच है, जो बनाया हुआ है, सो अपने बनानेवाले को क्या सराहै और क्या कहै। यों जिसका जी चाहै, पड़ा बकै। सिर से लगा पाँव तक जितने रोंगटे हैं, जो सबके सब बोल उठें और सराहा करें और इतने बरस उसी ध्यान में रहें जितनी सारी नदियों में रेत और फूल फलियाँ खेत में हैं, तो भी कुछ न हो सके, कराहा करें। इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को जिसके लिए यों कहा है—जो तूँ न होता तो मैं कुछ न बनाता। मैं फूला अपने आप में नहीं समाता।

# डौल डाल एक अनोखी बात का

एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े, घाघ यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने— यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझला कर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोल कर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर, बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो, यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहने वाला आपको जताता है। और जैसा लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेर कर आप को जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के चपने आता हूँ मैं।  
करतब जो कुछ हैं, कर दिखाता हूँ मैं॥

उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी ।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं ॥

अब कान रखके, आँखें मिला के, सन्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

## ( २ )

एक दिन रानी केतकी उसी ध्यान में मदनवान से यों बोल उठी—अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ, तू मेरा साथ दे । मदनवान ने कहा—क्योंकर ? रानी केतकी ने वह भभूत का लेना उसे बताया और यह सुनाया—यह सब आँख–मुचौवल के झाँई-झप्पे मैंने इसी दिन के लिए कर रक्खे थे। मदनवान बोली—मेरा कलेजा थरथराने लगा। अरी यह माना जो तुम अपनी आँखों में उस भभूत का अंजन कर लोगी और मेरे भी लगा दोगी तो हमें तुम्हें कोई न देखेगा और हम तुम सबको देखेंगी। पर ऐसी हम कहाँ मनचली हैं जो बिना साथ, जोबन को लिए, नव बन में पड़ी भटका करें और हिरनों की सींगों पर दोनों हाथ डाल कर लटका करें और जिसके लिए यह सब कुछ है, सो वह कहाँ ? और होय तो क्या जाने जो यह रानी केतकी है और यह मदनवान निगोड़ी नोची-खसोटी उजड़ी उनकी सहेली है । चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत, जिसके लिए आपको माँ–बाप का राज–पाट सुख नींद लाज छोड़ कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े, सो भी बेडौल । जो वह अपने रूप में होते तो भला थोड़ा बहुत आसरा था। ना जी यह तो हम से न हो सकेगा जो महाराज जगत–प्रकाश और महारानी कामलता का हम जान बूझ कर

घर उजाड़ें और उनकी जो एकलौती लाडली बेटी है, उसको भगा ले जावें और कहाँ तक उसे भटकावें और बिनसपत्ती खिलावें और अपने घोंड़े को हिलावें। जब तुम्हारे और उसके माँ–बाप में लड़ाई हो रही थी और उनने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजों को आपस में लड़ने दो जो होनी हो सो हो, हम तुम मिल कर किसी देश को निकल चलें, उस दिन न समझीं। तब तो वह ताव–भाव दिखाया। अब जो वह कुँवर उदैभान और उसके माँ–बाप तीनों जी हिरनी हिरन बन गये। क्या जाने किधर होंगे। उनके ध्यान पर इतनी कर बैठिए जो किसी ने तुम्हारे घराने में न की अच्छी नहीं। इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो बहुत पछताओगी और अपना किया पावोगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती, तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सच–मुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा, भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी। रानी केतकी ने यह रुखाइयाँ मदनबान की सुन कर टाल दिया।

—:o:—

उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी ।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं ।।

अब कान रखके, आँखें मिला के, सन्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

( २ )

एक दिन रानी केतकी उसी ध्यान में मदनवान से यों बोल उठी—अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ, तू मेरा साथ दे । मदनवान ने कहा—क्योंकर ? रानी केतकी ने वह भभूत का लेना उसे बताया और यह सुनाया—यह सब आँख–मुचौवल के झाँई–झप्पे मैंने इसी दिन के लिए कर रक्खे थे । मदनवान बोली—मेरा कलेजा थरथराने लगा । अरी यह माना जो तुम अपनी आँखों में उस भभूत का अंजन कर लोगी और मेरे भी लगा दोगी तो हमें तुम्हें कोई न देखेगा और हम तुम सबको देखेंगी । पर ऐसी हम कहाँ मनचली हैं जो बिना साथ, जोबन को लिए, नब बन में पड़ी भटका करें और हिरनों की सींगों पर दोनों हाथ डाल कर लटका करें और जिसके लिए यह सब कुछ है, सो वह कहाँ ? और होय तो क्या जाने जो यह रानी केतकी है और यह मदनवान निगोड़ी नोची–खसोटी उजड़ी उनकी सहेली है । चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत, जिसके लिए आपको माँ–बाप का राज–पाट सुख नींद लाज छोड़ कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े, सो भी बेडौल । जो वह अपने रूप में होते तो भला थोड़ा बहुत आसरा था । ना जी यह तो हम से न हो सकेगा जो महाराज जगत–प्रकाश और महारानी कामलता का हम जान बूझ कर

घर उजाड़ें और उनकी जो एकलौती लाडली बेटी है, उसको भगा ले जावें और कहाँ तक उसे भटकावें और बिनसपत्ती खिलावें और अपने चोंड़े को हिलावें। जब तुम्हारे और उसके माँ–बाप में लड़ाई हो रही थी और उनने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजों को आपस में लड़ने दो जो होनी हो सो हो, हम तुम मिल कर किसी देश को निकल चलें, उस दिन न समझी। तब तो वह ताव–भाव दिखाया। अब जो वह कुँवर उदैभान और उसके माँ–बाप तीनों जी हिरनी हिरन बन गये। क्या जाने किधर होंगे। उनके ध्यान पर इतनी कर बैठिए जो किसी ने तुम्हारे घराने में न की अच्छी नहीं। इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो बहुत पछताओगी और अपना किया पावोगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती, तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हढ़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सच–मुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा, भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी। रानी केतकी ने यह रुखाइयाँ मदनबान की सुन कर टाल दिया।

——:o:——

# मुंशी सदासुख

[१७४६—१८२८]

—:*:—

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश की परिवर्तित सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति में देशी भाषाओं के रूप में जो एक आकस्मिक परिवर्तन होना शुरू हुआ था उसी प्रसङ्ग में मुंशी जी का नाम आता है। इनके समय तक उर्दू का सर्वत्र दौर-दौरा रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों का जो समुदाय धीरे-धीरे तैयार हो रहा था उनमें भी आपस के पत्र-व्यवहार तथा साधारण बोल-चाल में उर्दू का व्यवहार होता था। हाँ कुछ लोगों के प्रयत्न से इस भाषा के व्यापक प्रचार का अवश्य नियमन किया जा रहा था और उसके स्थान में हिन्दू घराने में संस्कृत का आश्रय ले कर उसे खड़ी बोली में जोड़ कर 'भाषा' का जन्म हो रहा था। इस नई संस्कृत-मिश्रित बोल-चाल की भाषा के विकास में कथा-बाचक पंडित लोग पूरी सहायता दे रहे थे। इस प्रकार यह नई भाषा अपने पैरों खड़ी होना सीख रही थी। इस उद्योग में मुंशी सदासुख ने सबसे पहले योग दिया। उन्होंने इस 'भाषा' (भाखा) को अपने

अनुवादित ग्रन्थ 'सुखसागर' में प्रयुक्त करके उस पर साहित्यिक छाप लगाने का सबसे पहला उल्लेखनीय साहस किया।

कहने का अभिप्राय यह नहीं कि हिन्दी को सबसे पहले साहित्यिक प्रयोग में लाने का गौरव मुंशी जी को ही मिलना चाहिए। किन्तु मुन्शी जी का नाम महत्वपूर्ण इस अर्थ में है कि उन्होंने उस समय जब कि हिन्दी-गद्य एक अविकसित तथा तरल अवस्था में था, एक सुसम्बद्ध धार्मिक आख्यान अथवा कथा के रूप में अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग किया। उनका कार्य किसी दूसरे ही प्रेरणा से नहीं था बल्कि प्रधानतः आत्म-सम्भूत था।

उनकी भाषा में कोई विशेष गुण नहीं है। वह अधिकांश में कथावाचकों की भाषा से बिलकुल मिलती-जुलती है और कहीं कहीं उसमें ठेठ ग्रामीण, प्रान्तीय शब्द तक आ गये हैं। पर उसका एक विशेष महत्व यह है कि सदल मिश्र तथा लल्लूलाल के पहले उन्होंने हिन्दी-गद्य को साहित्यिक रूप देने का नया प्रयत्न किया।

---

## मुन्शी सदासुख की भाषा का नमूना

इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है।

यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए, और फुसलाइए और सत्य को छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।

---

# सदल मिश्र

## [ १९वीं शताब्दी का आरम्भ ]

[ १७४६—१८२८ ]

—:o:—

हिन्दी-गद्य को आधुनिक स्वरूप देने वालों में सदल मिश्र का स्थान अधिक ऊँचा है। इस तारतम्यता का पता उनके किसी गद्यांश से तुरन्त लग सकता है। लल्लूलाल से तो वे सहज में बाजी मार ले जाते हैं। लल्लूलाल का गद्य कई बन्धनों से जकड़ा हुआ है, पद्य की सी तुकसाम्यता उसमें बहुत स्थानों पर मिलती है, उसकी भाषा का झुकाव अधिकांश में शुद्ध ब्रजभाषा की ओर है तथा उसमें साधारण बोलचाल के मुहावरों के समावेश करने का किंचित्मात्र भी प्रयत्न नहीं किया गया। इसी से उसमें प्रौढ़ता का अभाव है। प्रत्युत सदल मिश्र की भाषा निस्सन्देह आजकल की हिन्दी का अपरिपक्व उदाहरण है।

मिश्रजी के गद्य में सबसे बड़ी बात यह है कि उसकी वाक्य-रचना अथवा यों कहिए कि उसकी पद-योजना सीधी-सादी है। उनके "नासिकेतोपाख्यान" में उस प्रकार का वाग्जाल तथा उस प्रकार की भाषा की तोड़-मरोड़ नहीं जैसी लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' में आदि से अन्त तक भरी पड़ी है।

इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से उनके गद्य की उपयोगिता साधारण बोलचाल तथा सुगम साहित्य के लिए बढ़ गई है।

इस तरह का लचीलापन सदल मिश्र के गद्य में इस कारण आगया है कि उन्होंने बुद्धिमानी से उर्दू को बिलकुल तिलांजलि नहीं दी। उन्होंने यह समझ लिया होगा कि यद्यपि हिन्दी-उर्दू के संमिश्रण होने से हिन्दी के अस्तित्व में बट्टा लगेगा, तब भी उर्दू का जो कुछ अच्छा प्रभाव हिन्दी पर पड़ा उसके कारण उर्दू को हटा देना अहितकर सिद्ध होगा। इसी विचार से उन्होंने अपने समकालीन लल्लूलाल की भाँति उर्दू से संबन्ध-विच्छेद करते हुए भी उसके सिखाये चटपटे मुहावरों को अपने गद्य की भाषा में रख छोड़ा।

तब भी वे लिखते समय यह ध्येय कभी नहीं भूले कि हिन्दी में स्वतंत्र रीति से गद्य लिखने की परिपाटी चलानी है। इसका प्रमाण एक बात से मिलता है कि उन्होंने व्रजभाषा के 'कबहीं' और 'भये' को शायद कभी भी 'कभी' और 'हुए' नहीं लिखा। उपसंहार में सदल मिश्र के गद्य के विषय में यह कहना पर्याप्त होगा कि उनकी भाषा गठीली है। उसमें वह ढीलापन नहीं है जो लल्लूलाल की भाषा में है। इसके सिवाय सदल मिश्र का गद्य यथार्थ में गद्य कहलाने योग्य है, क्योंकि उसमें वह रसप्लाव तथा शाब्दिकता नहीं है जो 'प्रेमसागर' में सब कहीं मिलती है। वह इसी निश्चित उद्देश्य से लिखा गया है कि उसके द्वारा सब तरह के साधारण भाव सरलता तथा सजीवतापूर्वक व्यक्त हो

सकें। मिश्र जी के गद्य के किसी भी अंश को ज़ोर से पढ़िए, आपको स्वरों को मिलाकर गाने का कभी भी प्रोत्साहन न होगा जैसा 'प्रेमसागर' के पढ़ते समय सम्भव है वाचक को हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि सदल मिश्र की भाषा में वे बहुत से गुण हैं जो समीचीन गद्य के लिए आवश्यक हैं। इस कारण उन्हें हिन्दी-गद्य के आदिम निर्माताओं में ऊँचा स्थान देना होगा।

---

## नासिकेतोपाख्यान

राजा रघु ऐसे कहते हुए वहां से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा गिड़गिड़ा कहने कि महाराज! जो यह सत्य है तो अब ही लोग भेज लड़के समेत झट उसको बुला हो लीजिए क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है। कब मैं सुन्दर बालक सहित चन्द्रावती के मुँह, कि जो बन के रहने से भोर के चन्द्रमा सा मलीन हुआ होगा, देखोंगी। देखो, यह कर्म का खेल, कहां इहां नाना भांति भोग विलास में वो फूलन्ह के बिछौने पर सुख से जिसके दिन रात बीतते थे, सो अब जंगल में कन्दमूल खा कांटे कुश पर सोकर स्यारों के चहुँदिश डरावन शब्द सुनि कैसे बिपत्ति को काटती होगी।

राजा बोले कि पिता माता से प्राणी का एक जन्म ही तो होता है

और सुख दुख जो पूछो तो जब जैसा बदा तब तैसा, क्या राजा क्या प्रजा सब ही बड़े छोटे को होता है ।

इतने में जहां से सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं, समाचार सुनि जुड़ाईं, मगन हो हो नाचने गाने बजाने लगीं वो अपने अपने देह से गहना उतार उतार सेवकों को देने लगीं, और अगणित रुपया अन्न वस्त्र राजा रानी के ब्राह्मणों को बोला बोला दान दिया । आनंद बधावा बाजने लगा । हर्षित हो नरेश ने वहां से सभा में जा ऋषि से कहा कि महाप्रभु आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है । इस आनन्द का कुछ वारापार नहीं । अब निश्चिन्त हो यहां बिराजिये, कन्या मँगा आप को मैं दूंगा ।

ऐसे कह अमृत पदार्थ भोजन करा अति आदर से मुनि को टिकाया वो तुरन्त सेवकों के सहित पालकी भेज नाती समेत बेटी को बन से मँगा लिया । गले लगाकर सब रनिवास ने भेंट किया । बालक गोदी में ले मतारी लड़की को घर में बैठा रो रो बन की बात पूछने लगा । भाई, गोतिया, हित मीत नगर के लोग देखने आए । भीतर बाहर नृप के मंदिर में मारे भीड़ के उथल पुथल होगया । तब नृप ने पंडितों को बुला दिन बिचार बड़ी प्रसन्नता से सब राजा व ऋषियों को नेवत बुलाया । लगन के समय सबों को साथ ले मण्डप में जहां सोनन्ह के थम्भ पर मानिक दीप बरते थे, जा पहुँचे । मोतिन्ह से पूरा हुआ चौक में रतन जड़ा पीढ़ा रखवा उस पर बर कन्या दोनों को पटम्बर वो बगलों में हीरे की माला पहिरा बैठाया और वेद बिधि से ब्याह आरम्भ किया । ब्राह्मण सब बेद पढ़ने लगे । भांति भांति के बाजन लगे बजने, वो कथक गाने, हर्षित हो

राजा ने कन्यादान कर सहस्त्र हाथी, लाख घोड़े वो गौ असंख्य बासन भूषण, वस्त्र, रुपैया, जँवाई को यौतुक दिया। फिर हाथ जोड़ बिनती किया कि सुनिए महाराज! आपने निपट हमको सनाथ किया। मेरे घर में ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जिससे मैं तुम्हारी पूजा करूँ। देखिये सागर को जल से, सूर्य को दीप से पूजते हैं। तिन्हको क्या उनसे आनन्द होता है? नहीं, महात्मा लोग आदर मान ही से संतुष्ट होते हैं।

इतनी कह ऋषि के चरण पर गिर पड़े। अति प्रसन्न हो मुनि उठा पीठ ठोंक आशीश दे बोले कि धन्य हो राजा रघु! क्यों न हो। मुँह पर कहां तक बड़ाई करें।

भगवान ने तुमको बड़ो बुद्धि दी है। ईश्वर करे यों ही सदा फूले फले रहो। और यह हमारे यौतुक को हाथी, घोड़े, द्रव्य तुम्हारे ही घर में रहैं, क्योंकि बन के बसने वाले तपस्वियों को इनसे क्या काज।

ऐसे कह धन छोड़ सबसे मिल नासिकेत समेत भार्या ले उद्दालक मुनि वहां से अपने आश्रम पर आये।

---

# लल्लूलाल

[ १७६३—१८२५ ]

—:o:—

लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों को हिन्दी-गद्य के जन्म-दाता कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके पहले हिन्दी में किसी प्रकार का गद्य लिखा ही नहीं गया। हाँ, यह निस्सन्देह सत्य है कि इन दोनों ने गद्य लिखे जाने का प्रचार बढ़ाने में पूरी सहायता दी और हिन्दी में साहित्यिक गद्य के अच्छे नमूने तैयार किये।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में दिल्ली और मेरठ वाली खड़ी-बोली अथवा उर्दू तथा ब्रजभाषा में उत्तरी भारत की व्यापक भाषा बनने के लिए परस्पर खींचातानी होने लगी थी। मुग़लों के शासन-काल में उर्दू नाम की मिश्रित भाषा को सरकारी भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था, परन्तु मुग़ल ऐश्वर्य का ह्रास होने के उपरान्त जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा अँगरेज़ी शासन की जड़ जमने लगी और साथ ही साथ उर्दू के पैर भी धीरे धीरे उखड़ने लगे तब यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि एक ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय जो उर्दू की मिश्रित शब्दावली से मुक्त हो और जिसमें यथासम्भव संस्कृत-जनित शब्दों का ही आधिक्य हो।

इस उद्देश्य से लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिखा। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का उल्था मात्र है। परन्तु इसी अनुवाद-द्वारा उन्होंने हिन्दी की धारा कहाँ से कहाँ मोड़ दी।

अब उनके गद्य-निर्माण के प्रयत्न पर विचार करना है।

लल्लूलाल ने यथाशक्ति उर्दू शब्दों को अपने गद्य में स्थान नहीं दिया। यह केवल दो तीन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है उन्होंने 'उन्होंने' के स्थान में 'विन्होंने' जान बूझकर लिखा है। एक जगह उर्दू शब्द 'सामान' आने ही को था, परन्तु वह तोड़ मरोड़ कर समान में परिवर्तित किया गया है। मतलब यह है कि खड़ी बोली अथवा पश्चिमीय हिन्दुस्तानी-भाषा के शब्दों तथा मुहावरों को निकालने से लल्लूलाल के गद्य में एक प्रकार का मार्दव सा आगया है। उदाहरण के लिए इस वाक्य को लीजिये :—

"इतनी बात के सुनते ही कृष्ण ने कदम्ब पर चढ़ ऊँचे सुर से ज्यों बंशी बजाई तो सुन ग्वाल बाल और सब गायें मूंज बन को फाड़ कर ऐसे आनि मिलीं जैसे सावन भादों की नदी तुंग तरंग को चीर समुद्र में जा मिले।"

दिल्ली के आसपास की फ़ारसीरंजित उर्दू में यही वाक्य भिन्न रीति से लिखा गया होता। 'इतनी', 'चढ़', 'सुर', 'बंशी', 'आनि मिलीं' इन सब के स्थान में 'इस', 'चढ़कर', आवाज़, 'बांसुरी', तथा 'आमिलीं', इन पदों का व्यवहार होता। यद्यपि

'गौवें', के स्थान में खड़ी बोली ( उर्दू ) की 'गायें' का प्रयोग हुआ है, तथापि वास्तव में इस वाक्य का सब ढाँचा संस्कृत अथवा शुद्ध ब्रज-भाषापूर्ण हिन्दी का है। ज्ञात होता है कि लेखक एक ऐसी शैली का निर्माण करना चाहता है जिसमें संस्कृत, ब्रजभाषा तथा सरल बोलचाल की उर्दू की सहायता से जनता के काम का, बोलचाल तथा साहित्यिक उपयोग के लिए एक उपयुक्त भाषा तैयार हो जाय।

इस नये गद्य में सब से बड़ी बात यह है कि यह वस्तुतः पद्यमय है कहीं कहीं तो उसकी पद्यात्मिकता यहाँ तक बढ़ी है कि दो वाक्यों में तुकसाम्यता भी है। उदाहरण के लिए 'वर्षा शरद ऋतु वर्णन' का यह भाग लीजिए :—

"इस धूम धाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा। तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था तिसका भोग कर लिया।"

इसके सिवा इस गद्य की शब्दावली तथा वाक्यरचना साधारण गद्य की सी कदापि नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शब्द तथा वाक्य अलग ही अलग झूलता है, उसमें वह पारस्परिक ऐक्य नहीं है जो गद्य में आवश्यक होता है। लल्लूलाल के गद्य का एक खंड कहीं से ले लीजिए और उसको ज़ोर से पढ़िए तो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जावेगा कि उसकी ठनक

कानों पर ताँबे या चाँदी के सिक्के की सी नहीं पड़ती वरन् उसमें तारों से उत्पन्न हुई एक सूक्ष्म ध्वनि होती है।

उनके गद्य में अनुप्रासों की भरमार है।

"ग्रीष्म की अति अनीत देख नृप पावस प्रचंड पृथवी के पशु पक्षी जीव जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया।"

इसी अंश में 'अ', 'प', 'च', 'ल', 'द'—इन वर्णों की पुनरावृत्ति के कारण माधुर्य आगया है। इस प्रकार के अनुप्रास के उदाहरण सब कहीं 'प्रेमसागर' में मिलेंगे।

लल्लूलाल के गद्य में वर्णन-प्रसंग भी ध्यान देने योग्य है। यह माना कि उनका 'प्रेमसागर' श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवादमात्र है और इससे उसकी भाषा की जितनी विशेषतायें अच्छी या बुरी हैं वे सब भागवत की भाषा की छायामात्र हैं। परन्तु यह भी निर्विवाद है कि चूँकि अनुवादक ने अनुवाद करते समय एक खास तरह के गद्य के लिखने की प्रथा चलाने का उद्देश्य अपने सामने रखा था, इसलिए उनकी भाषा स्वाभाविक नहीं। उसमें एक प्रकार की बनावट है। अस्तु, अपने गद्य को अधिक ग्राह्य बनाने की नियत से 'प्रेमसागर' के लेखक ने वर्णन-स्थलों में भाषा-चमत्कार दिखाने का प्रयत्न किया है। ऊषा के रूप-वर्णन में जिन जिन मुहावरों का प्रयोग लल्लूलालजी ने किया है उनमें उन्होंने अपनी शब्द-संचय-शक्ति की पराकाष्ठा पहुँचा दी है।

उनके गद्य में इन शाब्दिक आडम्बरों के अतिरिक्त एक बात और है। उन्होंने विशेषकर 'प्रेमसागर' की वाक्य-रचना इस ढँग से की है कि जिससे भाषा का प्रवाह मंद प्रतीत होता है। उसमें वह द्रुति नहीं है जो श्रीबालमुकुन्द गुप्त, द्विवेदीजी, प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य गद्य-लेखकों में है।

सारांश यह है कि लल्लूलालजी की शैली गद्य-पद्य-मय है। उनकी भाषा में आडम्बर-पूर्णता है, और साथही साथ रमणीयता, मार्दव तथा माधुर्य भी कूट कूट कर भरे हैं। हिन्दी-गद्य के इतिहास में हम उन्हें आधुनिक खड़ी बोली के गद्य का पिता न कहकर यह कहेंगे कि आजकल जिस प्रकार के पद्य-मय तथा आवेश-पूर्ण (Emotional) गद्य के लिखने की प्रणाली चली है उसके लिखनेवाले लल्लूलाल के वंशधरों में से हैं।

इस विचार से उनकी गद्य-शैली साधारण काम के लिए उपयुक्त नहीं है; और गद्य की उपयोगिता इसी में होती है कि उसको चाहे जिस प्रयोग में लावें वह हर जगह सुचारु रूप से कार्य्य-सम्पादन कर सके। यही एक कसौटी है जिस पर रखने से किसी भी प्रकार का गद्य क्यों न हो, उसकी उपयोगिता प्रकट हो सकती है। लल्लूलाल की शैली इस परख पर ठीक नहीं उतर सकती उसके लिए यही कह देना काफ़ी होगा कि उन्होंने पहले पहल हिन्दी-गद्य का साहित्यिक प्रयोग किया था।

---

(१)

# वर्षा—शरद्—ऋतु वर्णन

श्रीशुकदेव मुनि बोले कि—महाराज ! ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप-पावस प्रचंड पशु, पत्ती, जीव, जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बाजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थीं, सोई शूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर कड़खेतों की सी भांति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी। इस धूम-धाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा, तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग भर लिया। कुछ गिर शीतल हुए और गर्भ रहा उसमें से अठारह भार पुत्र उपजे, सो भी फल फूल भेंट ले ले पिया को प्रणाम करने लगे। उस काल वृन्दावन की भूमि ऐसी सुहावनी लगती थी कि जैसे शृंगार किये कामिनी और जहां, तहां नदी, नाले, सरोवर भरे हुए तिन पर हंस, सारस शोभा दे रहे, ऊंचे ऊँचे रूखों की डालियाँ झूम रहीं, उनमें पिक, चातक, कपोत, कीर बैठे कोलाहल कर रहे थे और ठांव ठांव सूहे कुसुम्भे जोड़े पहरे गोपी, ग्वाल झूलों पर झूल झूल ऊँचे सुरों से मलारें गाते थे। उनके निकट जाय जाय श्रीकृष्ण, बलराम भी बाल—लीला कर कर अधिक सुख दिखाते थे।

---

## (२)

# ऊषा–वर्णन

महाराज ! ऐसे मन ही मन शोच विचार कर बाणासुर महादेव जी के सम्मुख जाय हाथ जोड़, शिर नाय बोला कि — हे त्रिशूलपाणि ! त्रिलोकीनाथ ! तुमने जो कृपाकर सहस्र भुजा दीं सो मेरे शरीर पर भारी भईं, उनका बल अब मुझसे संभाला नहीं जाता। इसका कुछ उपाय कीजै, सोई महाबली युद्ध करने को मुझे बताय दीजै। मैं त्रिभुवन में ऐसा पराक्रमी किसी को नहीं देखता जो मेरे सम्मुख हो युद्ध करै। हां दयाकर जैसे आपने मुझे महाबली किया तैसे ही अब कृपा कर मुझसे लड़ मेरे मन की अभिलाषा पूरी कीजै तो कीजै, नहीं तो और किसी बली को बताय दीजै जिससे मैं जाकर युद्ध करूँ और अपने मन का शोक हरूँ। इतनी कथा कह श्रीशुकदेव जी बोले कि — महाराज ! बाणासुर से इस भांति की बातें सुन श्रीमहादेव जी ने बिलखाय मन हीं मन इतना कहा कि मैंने तो साधु जान के बर दिया अब यह मुझी से लड़ने को उपस्थित हुआ। इस मूर्ख को बल का गर्व भया, यह जीता न बचेगा। जिसने अहंकार किया सो जगत् में आन बहुत न जिया। ऐसे मन हीं मन महादेव जी कह बोले कि — बाणासुर ! तू मत घबराय, तुझ से युद्ध करने वाला थोड़े ही दिन के बीच यदुकुल में श्री कृष्णावतार होगा, उस बिन त्रिभुवन में तेरा सामना करने वाला कोई नहीं। यह बचन सुन बाणासुर अति प्रसन्न हो बोला, नाथ ! वह पुरुष कब अवतार लेगा, और मैं कैसे जानूंगा कि वह वहां उपजा है ? हे राजा ! शिव जी ने एक ध्वजा बाणासुर को

देके कहा कि इस बैरख को ले जाय अपने मन्दिर के ऊपर खड़ी कर दे। जब यह ध्वजा आप से आप टूट कर गिरे, तब तू जानियो कि मेरा रिपु जन्मा। महाराज! जब शंकर ने उसे ऐसे कहा समझाय, तब बाणासुर ध्वजा ले निज घर को चला शिर नाय। आगे जाय ध्वजा मन्दिर पर चढ़ाय दिन दिन यही मनाता था कि कब वह पुरुष प्रगटे और मैं उससे युद्ध करूँ। इसमें कितने एक बर्ष बीते। उसकी बड़ी रानी, जिसका बाणावती नाम था तिसे गर्भ रहा और पूरे दिनों एक लड़की हुई। उस काल बाणासुर ने ज्योतिषियों को बुलाय बैठाय के कहा कि इस लड़की का नाम और गुण गिन कर कहो। ज्योतिषियों ने उस लड़की का नाम ऊषा धर के कहा कि महाराज! यह कन्या गुण रूप शील की खान महाजान होगी। इस बात के सुनते ही बाणासुर ने अति प्रसन्न हो पहिले बहुत कुछ ज्योतिषियों को दे बिदा किया; पीछे मंगलामुखियों को बुलाय मंगलाचार करवाय, पुनि ज्यों ज्यों वह कन्या बढ़ने लगी त्यों त्यों बाणासुर उसे अति प्यार करने लगा। जब ऊषा सात बर्ष की भई तब उसके पिता ने शोणितपुर के निकट कैलाश था यहां कई एक सखी सहेलियों के साथ उसे शिव पार्वती के पास पढ़ने को भेज दिया। ऊषा गणेश, सरस्वती को मनाय, शिव पार्वती के सम्मुख जाय हाथ जोड़ शिर नाय बिनती कर बोली कि हे कृपासिन्धु! शिव-गौरी! दयाकर मुझ दासी को विद्या-दान कीजै, ऊषा के अति दीन बचन सुन शिव पार्वती जी ने उसे प्रसन्न हो विद्या का आरम्भ करवाया। वह नित प्रति जाय जाय पढ़ पढ़ आवै। इसमें कितने एक दिनों के बीच सब शास्त्र पढ़ गुण विद्यावती हुई, और सब यंत्र बजाने लगी। एक दिन ऊषा पार्वती जी के साथ मिल

कर बीणा बजाय सांगीत की रीति से गाय रही थी कि, उस काल शिव जी ने आय पार्वती से कहा कि हे प्रिये ! मैंने जो कामदेव को जलाया था तिसे अब श्रीकृष्ण जी ने उपजाया। इतना कह महादेव जी गिरजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय नीर में न्हाय न्हिलाय अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने, निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय बजाय तराडव नाच नाच सांगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय शिव को लगे रिझाने। उस समय ऊषा शिव गौरी का सुख देख देख पति के मिलने की अभिलाषा कर मन ही मन कहने लगीं कि मेरा भी कन्त होय तो मैं भी शिव पार्वती की भांति आनन्द करूँ। पति बिन कामिनी ऐसी शोभा हीन है जैसे चन्द बिन यामिनी। महाराज ! जो ऊषा ने मन ही मन इतनी बात कही तो अन्तर्यामिनी श्री पार्वती जी ने ऊषा की अन्तर्गति जान उसे अति हित से निकट बुलाय प्यार कर समझाय के कहा कि बेटी ! तू किसी बात की चिन्ता मन में मत कर, तेरा पति तुझे स्वप्ने में आय मिलेगा तू उसे ढुँढ़वाय लीजो। ऐसे बर दे शिवरानी ने ऊषा को विदा किया, वह सब विद्या पढ़ बर पाय दराडवत कर अपने पिता के पास आई। पिता ने एक मन्दिर अति सुन्दर निराला उसे रहने को दिया। और यह कितनी एक सखी सहेलियों को ले वहां रहने लगी और दिन दिन बढ़ने। महाराज ! जिस काल बाला बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छबि छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आंखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग-

मीन खंजन खिसाय रहे। नाक की निकाई निहार तिल फूल मुरझाय गया। ऊपर के अधर की लालों लख बिम्बाफल बिलबिलाने लगा; दांत की पांति निरख दाड़िम का हिया दड़क गया। कपोलों की कोमलता देख गुलाब फूलने से रह गया। गले की गोलाई देख कपोत कलमलाने लगे। कुचों की कोर निरखि कमलकली सरोवर में जाय गिरी। उसकी कटि की कृशता देखि केशरी ने बनबास लिया। जांघों की चिकनाई देख केले ने कपूर खाया; देह की गुराई निरख सोने को सकुच भई और चम्पा मुँह चोर हुआ। कर पद के आगे पद्म की पदवी कुछ न रही। ऐसी वह गजगामिनी, पिकबयनी, नवबाला यौवन की सरसाई से शोभायमान भई, जिसने इन सब की शोभा छीन ली।

---

# हरिश्चन्द्र के समय
# से
# आज तक

# राजा शिवप्रसाद
## [ १८२३—१८९५ ई० ]

———:o:———

प्रत्येक भाषा के गद्य के इतिहास में प्रायः दो प्रकार की प्रवृत्तियों का समय समय पर आघात-प्रतिघात हुआ करता है। गद्य-लेखकों के दो संप्रदाय हुआ करते हैं, जो मौक़ा पाकर तथा जनता की रुचि-वैचित्र्य का पता लेकर अपने सिद्धान्तों की धूम मचाते रहते हैं। यदि किसी समय अधिकांश लेखक भाषा की शुद्धता का विचार उन्नत रख कर ऐसा गद्य लिखते हैं जिसमें अन्य भाषाओं के शब्द तथा मुहावरे ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते और इस प्रकार जिसकी वेश-भूषा में ऊपर से नीचे तक देशीपन होता है; कालान्तर में या उसी समय दूसरे प्रकार के लेखकों का झुंड तैयार देख पड़ता है। ये लेखक शुद्ध गद्य के पक्षपातियों के सिद्धान्तों के ठीक उलटे चलते हैं और स्वयं ऐसी शैली का अनुसरण करते हैं जिसमें भावों को प्रभावपूर्ण तथा विशद रीति से व्यक्त करने के उद्देश्य से इस बात का विचार बिलकुल नहीं रखा जाता कि जो शब्द प्रयुक्त हों वे अपनी भाषा के हों अथवा अन्य भाषाओं से उधार लिये गये हों।

हिन्दी-गद्य की विकास-धारा में भी इन दो प्रकार की लेखन-प्रणालियों का संघर्षण लल्लूलाल के समय से होता आ

रहा है। स्वयं लल्लूलाल ने अपनी पुस्तकों की भाषा में से फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी, अथवा यों कहिए कि उत्कृष्ट उर्दू, को यथाशक्ति हटाने का प्रयत्न किया था। परन्तु उनकी इस संकुचित प्रवृत्ति का उत्तर उनके समकालीन सदल मिश्र ही ने दिया। मिश्र जी ने एकदम हिन्दी-गद्य का रुख़ संस्कृत तथा ब्रजभाषा की ओर से बोलचाल की खड़ी बोली की ओर कर दिया। सैयद इंशाअल्लाहखाँ ने भी इस बात में उनको अच्छा योग दिया। इंशा ने लल्लूलाल की ब्रजभाषा की मिठास के बदले में उर्दू का चटपटापन लेकर हिन्दी-गद्य को एक नई दिशा में प्रेरित किया।

राजा शिवप्रसाद को भी हम सैयद इंशा तथा सदल मिश्र का समकक्ष इस अर्थ में कह सकते हैं कि वे भी इस मत के घोर परिपोषक थे कि हिन्दी-गद्य को संस्कृत के साँचे में ढालना केवल अवाँछनीय ही नहीं है, वरन् हानिकारक भी है। हिन्दी-गद्य के मध्यकालीन धुरन्धरों में हम राजा साहब को भी स्थान देते हैं। उन्होंने कतिपय स्पष्ट सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखकर गद्य लिखने में हाथ डाला था। 'भाषा का इतिहास' शीर्षक लेख में उन्होंने गद्य-शैली पर अपने विचार निर्भीक होकर प्रकट किये हैं। उनके कहने का सारांश यह जान पड़ता है कि संस्कृत तथा फ़ारसी दोनों को अत्यधिक परिमाण में हिन्दी-गद्य में मिश्रित करना हेय है, क्योंकि ऐसा करने से आप एक ऐसी भाषा का जन्म देंगे जो सर्वसाधारण के लिए बहुत ही क्लिष्ट तथा दुरूह

होगी और फल यह होगा कि हिन्दी-गद्य के ग्रन्थों का जनता में प्रचार होना मुश्किल हो जायगा। फिर यह होगा कि गद्य जहाँ है वहा बना रहेगा, उसकी उन्नति रुक जावेगी और वह अपांग सा हो जावेगा। राजा साहब का यह ध्येय था कि चूंकि हिन्दी और उर्दू दिन दिन अपने अपने कट्टर पक्षपातियों के संकुचित विचारों के कारण एक दूसरे से अलग हो रही थीं, उनके बीच में किसी न किसी तरह पुल बनाया जावे। इस पुल के बनाने का काम स्वयं उनके हाथों से प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा बहुतेरे तत्सम शब्दों को ऐसी कारीगरी से एक दूसरे के कन्धे से कन्धा मिला कर रखना शुरू किया कि पढ़ने वाले को उनके अत्यन्त रसीले गद्य में आज भी कोई बात ज़रा भी नहीं खटकती। उदाहरणार्थ, 'संस्कृत की पुस्तकें तलाश होने लगीं', 'कविताई को रौनक़ दी' इस प्रकार के अनेक वाक्यांश मिलेंगे जिनमें उन्होंने हिन्दी और उर्दू का संयोग किया है।

इस सम्बन्ध में राजा साहब की गद्य-शैली की कुछ विशेषताओं पर विचार करना है। अभी कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद का मुख्य उद्देश्य हिन्दी और उर्दू को मिलाने का था। इतना और भी कहना है कि ऐसा करते हुए भी उनका झुकाव उर्दू की ओर अधिक रहा है, क्योंकि यदि उनके गद्य का एक पृष्ठ भी ध्यान से पढ़ा जाय तो यह प्रतीत होता है कि उनको उर्दू शब्दों तथा मुहावरों पर अधिक अधिकार था।

कहीं कहीं पर तो उन्होंने आवश्यकता से अधिक फ़ारसीपन भर दिया है। तब भी यह मानना पड़ता है कि उनके गद्य में एक विशेष प्रकार का लालित्य है। कारण यह है कि जिस बात को वे कहते हैं उसे रोचक बनाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ते; इंशा की भाँति छोटी से छोटी घटना को घुमा फिरा कर कहना राजा साहब ख़ूब जानते हैं। इसी वाग्विस्तर (Periphrasis) के गुण की उपस्थिति से उनका गद्य एक उत्तम श्रेणी के गद्य का नमूना समझा जाता है। इस रोचकता का सर्वोत्तम उदाहरण उनके 'इतिहासतिमिरनाशक' से उद्धृत 'औरंगज़ेब की फ़ौज' के वर्णन में मिलेगा।

राजा साहब के गद्य में और भी कुछ विशेषतायें हैं। उसकी भाषा वास्तव में परिष्कृत है और उससे नागरिकता टपकती है। उसमें ग्रामीणता का पूर्णरूपेण अभाव है; पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त के गद्यमें जो चोज़ तथा मसख़रापन कूट कूट कर भरा है तथा उसमें जिस प्रकार लोकोक्तियों और चुटकुलों की भरमार है वह सब राजा शिवप्रसाद के गद्य में खोज करने पर भी नहीं मिल सकता। इसके सिवाय पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सा पाण्डित्य-प्रदर्शन राजा साहब नहीं जानते। वे अपने गद्य से केवल दो काम लेते हैं। एक तो उसके द्वारा वे अपने भाषा-विषयक निश्चित सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं अर्थात् मिश्रित लेखन-शैली का प्रचार करते हैं। दूसरे उससे वे अपनी वर्णना-

त्मक शक्ति का परिचय देते हैं। वास्तव में इस वर्णन-शक्ति की प्रगल्भता का श्रेय राजा साहब की उर्दू-फ़ारसी की विद्वत्ता को ही है।

उनकी गद्य-रचना के विषय में दो बातें और उल्लेख्य हैं। उनके समय में वाक्यों तथा वाक्य-समूहों को एक दूसरे से विभक्त करने की प्रथा का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। लेखक-गण लिखते समय विराम आदि के चिन्हों का विचार न करते थे; आदि से अन्त तक एक ही साथ लिखते चले जाते थे। राजा साहब ने भी उसी परिपाटी का अनुसरण किया है। शायद वे स्वयं इस बात में उर्दू का अनुकरण करते रहे हों, क्योंकि उर्दू में सिवाय आड़ी लकीरों के और कोई भी विराम-चिन्ह प्रायः नहीं प्रयुक्त होते। उन्होंने सदैव केवल गद्य की भाषा की ओर ही ध्यान दिया, पद-निर्माण, वाक्यरचना आदि वैयाकरणिक बखेड़ों को हाथ में नहीं लिया। इन बातों का निश्चय उनके बाद के गद्य-लेखकों ने किया है।

एक बात राजा साहब के गद्य में अजीब सी है। 'निदान' शब्द का वे बेतरह प्रयोग करते हैं। शायद इसका अर्थ यह हो सकता है कि उस समय तक हिन्दी में पैराग्राफ़िंग का चलन न था, इससे पूर्वापर का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक प्रसंग समाप्त हो जाने पर दूसरे का सूत्र प्रारम्भ करते समय उस शब्द से काम लेना उन्होंने आवश्यक समझा हो।

अन्त में, राजा शिवप्रसाद को हम उन निर्माताओं में

परिगणित कर सकते हैं जिन्होंने किसी निर्दिष्ट दिशा में हिन्दी-गद्य की धारा को घुमाया है, और जिनके प्रचलित किये हुए साहित्यिक सम्प्रदाय अब भी स्थित हैं। राजा साहब के अनुयायियों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे महत्वपूर्ण है जिसका विवरण दूसरे स्थल पर दिया जावेगा। द्विवेदी जी ने राजा साहब की गिनती 'अवतारी' पुरुषों में की है।

---

( १ )

## औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन

निदान अब ज़रा औरंगज़ेब की फ़ौज पर निगाह करनी चाहिये ज़रा इसके सर्दारों के घोड़ों को देखना चाहिये दुम और यालें बिल्कुल रंगी हुई सोने चाँदी के साज़ सिर से पैर तक लदे हुए कलगियाँ बहुत लंबी लंबी पैरों में झाँझनें बंधी हुई मोटे इतने कि जितने लम्बे शायद उसी के क़रीब क़रीब चौड़े और फिर चारजामे उन पर मखमली ज़र दोज़ी बड़े भारी दोनों तरफ़ लटकते हुए सवार घोड़ों से भी ज़ियादा देखने के लाइक़ हैं कोई अपने से ज़ियादा भारी दगला और ज़िरह बकतर पहने हुए कोई घेरदार जामा और शाल दुशाले लपेटे हुए लेकिन चेहरे ज़र्द रात के जागे नशे में चूर या दवा खाते पीते दस क़दम घोड़ा चला घोड़े को पसीना आया सवार बेहोश होगया अगर दूर चलना पड़ा दोनों बेदम होकर गिर पड़े जैसे सरदार वैसेही उनके पियादे और सवार लशकर में जहाँ दस सिपाही तो सौ बनिये दूकानदार भांड़ भगतिये रंडी छोकरे नौकर ख़िदमत-

गार खानसामां रसद काहे को मिल सकती डेरे डंडे ऐश इशरत के साज़ सामान इतने कि कभी अच्छी तरह बारबर्दारी की तदबीर न हो सकती तलवार पीछे रह जाय मुज़ाइका नहीं पर तंबूरा साथ रहना चाहिये दुश्मन वार किये जाय परवा नहीं पर चिलम न जलने पावे उस वक्त का एक फ़रासीसी इस फ़ौज की ख़ूब तारीफ़ लिखता है वह लिखता है कि तनखाहें बहुत बड़ी बड़ी और चाकरी कुछ भी नहीं न कोई पहरा चौकी देता है न दुश्मन से मुक़ाबला करता है और बड़ी से बड़ी सज़ा हुई तो एक दिन की तनख़ाह कट जाती है जिमेली करेरी ( Gemelli Carreri ) ने मार्च सन १६९५ ई० में औरंगज़ेब की छावनी गलगले में देखी थी वह लिखता है कि दस लाख से ऊपर आदमी थे और डेढ़ कोस में तो केवल बादशाह और शहज़ादों के डेरे खड़े थे इनको काम पड़ा उन मरहटों से जो अँगरखा जाँघिया एक पेची पगड़ी पहने कमर कसे हाथ में भाला दक्खनी घोड़ों पर सवार तीस कोस तो हवा खाने को घूम आते थे न थकते न मांदे होते थे जौ बाजरे की रोटी पयाज के साथ उनका खाना था और घोड़े का ज़ीन तकिया ज़मीन बिछौना और आसमान शामियाना था।

[ 'इतिहास-तिमिरनाशक' से ]

# स्वामी दयानन्द सरस्वती

( १८२४—१८८३ )

——:o:——

स्वामी दयानन्द के गद्य के विषय में विशेष कुछ कहने के पूर्व दो बातों का स्मरण रखना पड़ता है। एक तो यह कि वे काठियावाड़ के निवासी थे और उनकी मातृभाषा गुजराती थी। दूसरी बात यह है कि स्वामी जी एक युगपरिवर्तनकारी मत के प्रवर्तक थे और उनका जीवन उसके सिद्धान्तों के प्रचार में ही बीता। देश में भ्रमण करते हुए जगह जगह बड़े दिग्गज पंडितों से शास्त्रार्थ करने में ही वे लगे रहे।

इन्हीं दो बातों से स्वामी जी की लेखन-शैली की तालिका मिल जाती है।

प्रारम्भ से ही स्वामी जी का अधिकांश समय वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में व्यतीत हुआ और बड़े बड़े विद्वानों के सहवास में रहने तथा समय समय पर उनसे अपने मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने से उन्हें संस्कृत में लिखने पढ़ने तथा बोलने का अभ्यास हो गया। बाद को, जब देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उन्हें पर्यटन करना पड़ा, शास्त्रार्थ में नित्य सम्मिलित होकर खंडन-मंडन करने की आदत सी उन्हें बनानी पड़ी। इसके सिवाय

जनसाधारण तक अपने विचार पहुँचाने के अभिप्राय से उन्हें व्याख्यान भी खूब देने पड़े। तात्पर्य यह है कि स्वामी जी प्रधानतः संस्कृतज्ञ थे, क्योंकि वेदों का नया भाष्य करने के लिए उन्हें शुरू से ही संस्कृत पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ी थी। हिन्दी में भी उन्हें काफ़ी अभ्यास प्राप्त करना पड़ा था। बात यह थी कि स्वामी जी की नस नस में देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता के भाव भरे थे, और उन्हें अपने वैदिक मत के प्रचार के लिए एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना अनिवार्य था जिसके द्वारा समस्त देश के अधिकांश लोगों तक उनका नया सन्देश पहुँच सके। एवं, उन्हें आभास हो गया था कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त है और, हो न हो, किसी समय उसी को राष्ट्र-भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा। तभी स्वामी जी ने अपना मुख्य ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी में लिखा।

'सत्यार्थप्रकाश' की मुहावरेदार भाषा को देख कर कुछ लोगों को सन्देह होता है कि वह स्वामी जी का लिखा हुआ नहीं है, किन्तु उनके बतलाये हुए भाव किसी अन्य लेखक ने अपने ढंग से लिखे हैं। यह इसलिए कहा जाता है कि स्वामी जी वस्तुतः एक संस्कृतज्ञ थे और साथ ही साथ दूसरे प्रांत के निवासी थे। इसलिए उस तरह की चटकीली, मुहावरेदार भाषा लिखना उनके लिए कम सम्भव हो सकता है।

इस भाषा-विषयक सन्देह को स्वामी जी के लिखे हुए पत्रों

की भाषा से आधार मिल जाता है। आगे जो पत्र दिये गए हैं उनकी हिन्दी में कुछ विशेषतायें हैं।

पत्रों के लेखक की संस्कृतमयता का पता यों लगता है कि उनमें कई शब्दों का लिंग-विचार संस्कृत के अनुसार किया गया है, जैसे 'पुस्तक' शब्द जो संस्कृत में नपुंसक लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग है, उसका प्रयोग यों किया गया है। "यद्यपि मैंने सब पुस्तक गण-पाठ का नहीं देखा है।" हिन्दी-व्याकरण के नियमों के अनुसार यही वाक्य "मैंने सब पुस्तक गण-पाठ की नहीं देखीं" लिखा जाता।

इसके सिवाय स्वामी जी बहुधा तद्भव शब्दों को छोड़कर तत्सम शब्दों का ही प्रयोग करते थे। जैसे 'पुराने' के लिए 'पुराणे' तथा 'सब' के स्थान में 'सर्व' लिखा करते थे।

उनके गद्य की संस्कृतता का प्रमाण और भी मिलता है। अन्य प्रांतीय लेखक होने से खड़ी बोली अथवा मुहावरेदार मिश्रित हिन्दी से सुभिज्ञ अथवा सम्यक् अभ्यस्त न होने के कारण वे संस्कृत की कुछ धातुओं के मूलरूप ही व्यवहृत करते थे। जैसे 'किया है' की जगह 'करा' है तथा आज्ञाप्रदर्शक क्रिया 'रखना' की जगह 'धरना' लिखते हैं।

स्वामी जी के इस प्रकार संस्कृत-मय गद्य में भाषा की द्रुति बड़ी मन्द प्रतीत होती है। उसमें उस सौन्दर्य्य का अभाव रहता है जो अभ्यस्त लेखकों की भाषा में होता है।

अभी जिन पत्रों की भाषा के सम्बन्ध में संकेत किया जा

चुका है उन्हीं से यह ज्ञात होता है कि लेखक को हिन्दी पर स्वाभाविक अधिकार प्राप्त नहीं है।

फिर भी स्वामी जी के संस्कृत-मय गद्य में कई बातें उल्लेख्य हैं। एक तो वे जो कुछ लिखते हैं वह बड़ा ओजपूर्ण तथा प्रभावशाली होता है, या यों कहिए कि उससे स्वामी जी के आमर्ष-युक्त स्वभाव तथा मानसिक शक्ति का परिचय मिलता है। वैसे भी प्रसिद्ध है कि वे बड़े तिग्म-प्रकृति पुरुष थे, और उनकी वक्तृत्वशक्ति भी अद्वितीय थी। मुन्शी समर्थदान जी के नाम उन्होंने जो पत्र लिखा था उसमें पंडित ज्वालादत्त शर्मा को 'विक्षिप्त' आदि भाव-पूर्ण विशेषणों से भूषित किया है तथा उनकी लिखने की असावधानता की 'घास काटने' से तुलना की है। इन सब बातों से प्रकट होता है कि एक शक्तिपूर्ण गद्य-शैली में लिखने का उन्हें पूरा अभ्यास था। यह दूसरी बात है कि उनकी भाषा में कभी वैयाकरणिक शैथिल्य होता था, जो उनके लिए गुजराती होने के कारण स्वाभाविक ही था।

स्वामी जी के गद्य में हास्य और व्यंग दोनों की खासी मात्रा रहती है। वास्तव में यदि 'सत्यार्थप्रकाश' स्वयं उनका लिखा हुआ न भी हो, तो भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके कथनोपकथनों में जो रोचकता है तथा उसमें जो भाव हैं उनको प्रेरक शक्ति केवल-मात्र स्वामी जी से मिली होगी। पं० भीमसेन शर्मा अथवा पं० ज्वालादत्त शर्मा अकेले 'सत्यार्थप्रकाश' की भाषा को सजीव बनाने में कदापि समर्थ न हो सकते थे।

हिन्दी-गद्य के इतिहास में स्वामी दयानन्द तथा आर्य-समाज सदैव स्मरणीय रहेंगे। हिन्दी का प्रचार सारे देश में करने वालों में स्वामी जी का पहला स्थान है। आर्य-समाज का प्रवर्तन करके उन्होंने लोगों के हृदयों में 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' तीनों के प्रति प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा की। अपने नये सुधारक मत को देशव्यापी बनाने के उद्देश्य से हिन्दी में ही उन्होंने सामाजिक पुस्तकें लिखीं। सच्चे प्रचारक की भाँति उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा लेखों में बड़ी सुबोध तथा रोचक भाषा का प्रयोग किया। हिन्दी-गद्य को अपनी अनिश्चितता की दशा में जब कि उर्दू उस पर रेढ़ मार रही थी, स्वामी जी तथा उनके अनुयायियों के हाथ से एक सुचारु रूप धारण करने का अच्छा मौक़ा मिला। सब से बड़ा लाभ यह हुआ कि अभी तक लेखक, जिस निरुद्देश्य रीति से, आँखें बन्द किये, गद्य लिखते रहे थे उसका लोप हुआ और आर्य-समाज से प्रचार-प्रधान मत के द्वारा, केवल लोगों के दिलों में असर करने की नियत से, तत्कालीन गद्य-लेखकों की भाषा में ओज, शाब्दिक बिशदता (Precision) और रोचकता का समावेश हुआ।

## ( १ )

## हिमालय-यात्रा

मैं कुछ दिन तक अकेला हृषीकेश में रहा, इस अवसर में एक ब्रह्म-

चारी और दो पहाड़ी साधू भी आ मिले, फिर हम सब के सब वहां से स्थान टेहरी को चले गये। यह स्थान विद्या की वृद्धि के कारण साधुओं और राज-पंडितों से पूर्ण और प्रसिद्ध था, इन पंडितों में से एक दिन एक पंडित ने अपने यहां मेरा निमंत्रण किया, और नियत समय पर एक आदमी मेरे बुलाने के लिये भेजा, उसके साथ मैं और ब्रह्मचारी दोनों उसके मकान पर पहुंचे।............

तत्पश्चात् मैं कुछ दिन तक स्थान टेहरी में ही रहा और इन्हीं पंडित साहब से मैंने कुछ पुस्तकों और ग्रन्थों का हाल जो मैं देखना चाहता था दरयाफ़्त किया, और यह भी पूछा कि ये ग्रन्थ इस शहर में कहां कहां पर मिल सकते हैं, यह सुन पंडित साहब ने संस्कृत व्याकरण के कोष (जो बड़े बड़े कवियों के बनाये हुये) ज्योतिष और तंत्र आदि की पुस्तकों का नाम लिया। इनमें से तंत्र की पुस्तकें मेरी देखी हुई नहीं थीं इस लिये उनसे माँगी और उन्होंने शीघ्र थोड़ी सी पुस्तकें उसी प्रकार की ला दीं। उनके खोलते ही मेरी निगाह एक ऐसे विषय पर पड़ी कि जिसमें बिलकुल झूंठी बातें, झूंठे तरजुमे और झूंठे अर्थ थे। देख कर मेरा जी कांपने लगा।

इसके बाद मैं श्रीनगर को गया और वहां केदारघाट पर एक मंदिर में निवास किया। इस जगह पर एक गंगागिर नामक साधू थे जो कभी कभी दिन के समय अपने पहाड़ से (जो कि एक जंगल में था) नहीं उतरता था, मेरी मुलाक़ात हुई और मुझको मालूम होगया कि यह एक अच्छा विद्वान् है, थोड़े दिन बाद मेरी और उसकी मित्रताई भी होगई।

तात्पर्य कि जब तक मेरा और उसका साथ रहा, योगविद्या और

उम्दा बातों की आपस में बातचीत होती रही और प्रति दिन के तर्क वितर्कों से यह बात खूब साबित हो गई कि हम दोनों साथ ठहरने के लायक़ हैं और मुझे तो उसकी मुहब्बत ऐसी अच्छी लगी कि मैं दो महीने से अधिक उसके साथ रहा।

आगे चल कर उत्तर की तरफ़ एक पहाड़ पर, जो कि शिवपुरी नाम से प्रसिद्ध है गया। यहां मैंने शीत काल के चार मास व्यतीत किये, फिर उस ब्रह्मचारी और दोनों साधुओं से पृथक् होकर एकाकी निडर निस्संदेह केदारघाट गया, फिर गुप्तकाशी में पहुँचा थोड़े ही दिन बाद केदारघाट को ( कि जिसे मैं दुनिया की सब रहतूतों से अच्छा समझता था ) लौट आया और यहां ब्राह्मण पुजारियों और केदारघाट पंडितों के साथ रहा किया। तब तक मेरे पूर्वोक्त साथी अर्थात् एक ब्रह्मचारी और दोनों साधु भी आ मिले। यहां के पंडितों के काररवाइयों को मैं सदैव देखता और उनमें जो बातें याद रखने के लायक़ थीं ध्यान में देता रहा। जब इन बातों में से मैं बख़ूबी जानकार होगया तब मेरे दिल में कुर्वजवार पहाड़ों की सैर करने की इच्छा हुई ( जो सदैव बर्फ़ से ढके रहते थे ) कारण कि उन महात्मा पुरुषों के दर्शन करूं जिनका जिकर मैं सुनता चला आता था और कभी आज तक मुलाक़ात नसीब न हुई थी। निदान मैंने अपने मनमें पुख़्ता इरादा कर लिया कि चाहे कुछ हो उक्त महात्मा की खोज अवश्य करूंगा इसलिये कि जैसा मैं इन्हें सुनता हूँ वैसे हैं या नहीं।

पहले पहल उस भयानक कठिन मार्ग को मैंने पहाड़ी लोगों से पूछा जो कि वे मार्ग का जानते हों वा न जानते हों। फिर और और लोगों से पूछा निदान मार्ग का पता ठीक न लगा और २० दिन तक हैरान परेशान

इधर उधर घूमता फिरता जहाँ से फिरा उसी जगह पर पहुँच गया। इस अवसर में मेरे साथी भी मुझसे अलग हो गये थे। बाद इसके मैं तुङ्गनाथ की चोटी पर चढ़ गया वहां पर मैंने एक मंदिर पुजारी और मूर्तों से भरा हुआ पाया। उसी दिन वहां से उतर आया। वहां पर मुझको दो रास्ते मिले जिनमें से एक पश्चिम को और दूसरा नैऋत्य को जाता था। तब मैं उस राह को जो जंगल की तरफ़ की थी झुक पड़ा। कुछ दूर चल कर मेरा ठहरना एक ऐसे घने जंगल में हुआ कि जहां की चट्टानें खंड मंड तथा नाले भी बिना पानी के और जिसके आगे रास्ता भी नहीं। जब मैं ऐसी जगह घिर गया तब अपने मन में विचार किया अब यहां से नीचे उतरना चाहिये या और ऊपर चढ़ना चाहिये।

पस चोटी की ऊँचाई तथा रात की सी अँधेरी के कारण मुझे ज्ञात हुआ कि चोटी पर पहुँचना सम्भव नहीं। लाचार मैं घास और सूखी झाड़ियों को पकड़ कर नाले के नीचे किनारों पर पहुँचा और एक चट्टान पर खड़े होकर जो चारों तरफ़ निगाह की तो सिवाय भयानक पहाड़ियों टीला और उन विकट जंगलों के कि जहां मनुष्यमात्र का निर्वाह कठिन है और कुछ भी न देख पड़ा।

सूर्य भी उस समय अस्त होने को था इस कारण मुझे बड़ी चिंता हुई कि इस सुनसान वीरान जंगल में बिना पानी और ऐसे पदार्थ के जो जल सके मेरी क्या दशा होगी। निदान मुझको उस विकट जंगल में ऐसी ऐसी जगहों में घूमना पड़ा कि जहाँ के बड़े बड़े कांटों में उलझ उलझ कर मेरे कपड़ों की धज्जियाँ उड़ गईं और मेरा शरीर भी घायल हुआ तथा पांव भी लँगड़े होगये। हैरान परेशान बड़े दुःख और संकट के साथ उस मार्ग

को पूरा करके पहाड़ के नीचे पहुँचा तब अपने तईं प्रसिद्ध मार्ग को पाया। उस समय रात को अँधियारी सब तरफ़ छाई हुई थी। इस कारण अनुमान से मुझे रास्ता ढूँढ़ना पड़ा, लेकिन मैंने प्रसिद्ध मार्ग से अलग न होने का खूब ख्याल रक्खा। आखिरकार में मैं एक ऐसी जगह में पहुँचा जहाँ मुझको कुछ झोपड़े नजर पड़े। वहां के आदमियों से पूछा तो मालूम हुआ कि रास्ता ऋषीमठ को जाता है। यह सुन मैं आगे बढ़ा और उक्त मठ में रात को विश्राम किया। प्रातःकाल मैं फिर गुप्त काशी को लौट गया, जहाँ से उत्तर को चला था। लेकिन देशाटन का शौक़ फिर मुझे ऋषीमठ को ले गया इस लिये कि वहां की गुफाओं और उनके रहने वालों के वृत्तान्तों का जानकार हो जाऊँ। पस मुझे ऋषीमठ के देखने में अच्छा अवसर मिला जो कि जाहलपरस्त और पाखण्डी साधुओं से भरा हुआ था। यहां के बड़े महंत ने मुझे अपने चेला करने का इरादा किया और इस बात की दृढ़ता के लिये यह लालच दिखाया कि हमारी गद्दी के तुम्हीं मालिक होगे और लाखों रुपये की दौलत तुम्हारे पास होगी। तब मैंने उनको लापरवाही से साफ़ जवाब दिया कि जो मुझे दौलत की चाह होती तो मैं अपने बाप की रियासत जो तुम्हारे इस स्थल और माल व दौलत से कहीं बढ़ कर थी क्यों कर छोड़ता। इसके सिवाय यहां भी मैंने घर, धन, दौलत तथा सर्व सुखों और लाभों का परित्याग किया। न तो मैं उसके लिये तुम्हें कोशिश करते देखता हूँ और न तुममें उस अर्थसिद्ध करने की विद्या है। यहां फिर मेरा रहना आपके पास कैसे हो सके। यह सुन महंत ने पूछा कि तुम्हारा अर्थ क्या है कि जिसके लिये तुम इतना परिश्रम कर रहे हो तब मैंने जवाब दिया कि मैं सत्ययोग विद्या और मोक्ष ( जो बिना आत्मा की

पवित्रता और सत्य न्यायाचरणों के नहीं प्राप्त हो सकता है ) चाहता हूँ और जब तक यह अर्थ सिद्ध न होगा तब तक बराबर अपने देश वालों का उपकार जो मानुषी धर्म है करता रहूँगा। यह सुन महंत ने कहा कि यह बहुत अच्छी बात है परन्तु अब तुम कुछ दिन हमारे पास ठहरो। इस बात का मैंने कुछ भी उत्तर न दिया क्योंकि मैं जान गया कि यहाँ तुम्हारी इच्छा पूर्ति न होगी।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं वहाँ से जोशीमठ रवाना हुआ और वहाँ कुछ दिनों दक्षिणी महाराष्ट्रों और संन्यासियों के साथ रहा जो संन्यासाश्रम के चौथे दरजे के सच्चे साधू थे।

## ( २ )

## समर्थदान को पत्र

मुन्शी समर्थदान जी, आनन्दित रहो ! ज्वालादत्त जो भाषा बनाता है·········ऐसा न हो कि पोपलीला घुसेड़ डाले। जैसी हमारी संस्कृत है उसी के अनुकूल और कुछ न करे·········

तुम थोड़ी सी भाषा देख लिया करो, यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है··········यद्यपि मैंने सब पुस्तक गणपाठ का नहीं देखा परन्तु भूमिका के पहिले पृष्ठ में दृष्टि पड़ी तो ( दूर २ ) के स्थान में ( दर २ ) अशुद्ध छपा है। ऐसी भाषा को तुम भी देख सकते हो और यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता किन्तु घास ही काटता है। इसके नमूने के लिये हम एक पत्र भेजते हैं जिसकी उसने भाषा बनाई है और बड़ी भूल करी है कि जिसका पदार्थ है कुछ और भाषा कुछ और बनाई है················।

थोड़े दिन के पश्चात् पुराणे बहुत से पत्र इसके भाषा बनाये भेजेंगे उसमें इसके दोष सैकड़ों दीख पड़ेंगे।

अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसी कि पहले बनाता था, जैसी की प्रतिदिन उन्नति करनी चाहिये। यह प्रति दिन गिरता जाता है। अब के भाषा में कई पद छोड़ दिये हैं कहीं अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है और ( च ) का अर्थ और करना चाहिये यह ( भी ) कर देता है इत्यादि............सत्यार्थप्रकाश में कोई ऐसा अनुचित शब्द निकाल कर जो हमारे आशय से विरुद्ध न हो वह शब्द उसके स्थान में धरना और हमको लिखके सूचित करना कि यह शब्द धरे हैं।

# बालकृष्ण भट्ट

[ १८४४—१९१४ ]

——:o:——

अपने 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा पं० बालकृष्ण भट्ट ने लगभग ३२ वर्षों तक हिन्दी की अनवरत सेवा की। जब हिन्दी पढ़ने वाले लोगों में उत्साह की इतनी कमी थी कि केवल आठ आने या अधिक से अधिक एक 'रुपया वार्षिक मूल्य देकर मासिक पत्रिकाओं को मँगाते रहना ही उनके लिए भार गुज़रता था, ऐसी अवस्था में बराबर ३२ वर्षों तक 'हिन्दी-प्रदीप' ऐसे उच्च कोटि के पत्र को चलाते रहना खेल नहीं था। पंडित प्रताप-नारायण जब तक 'ब्राह्मण' को निकालते रहे तब तक उन्हें सदैव चन्दे के लिए ग्राहकों से झींकते ही बीता; नादिहिन्दों का मज़ाक़ बना कर, उनसे गिड़गिड़ा कर, उनसे 'हरिगंगा' कह कर, सब तरह से हार गये। जब एक भी न चली और उन्हें स्वयं अपने पास से ही उलटा देना पड़ा तब उन्हें 'ब्राह्मण' को बंद कर देना पड़ा।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के इस अध्यवसाय से पता लगता है कि वे कितने प्रगाढ़ साहित्य-प्रेमी थे, तथा वे अपनी धुन के कितने पक्के थे।

हम अभी कह चुके हैं कि १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में हिन्दी में बड़े बड़े लेखकों में से प्रत्येक ने एक न एक पत्र-पत्रिका का आश्रय लिया था। इसके दो उपयोग थे। एक तो जिस पत्र-पत्रिका में कोई लेखक लेख लिखता था, उसके द्वारा उसकी ख्याति पठितसमुदाय में होती थी और दूसरे उसके आश्रय से उसकी लेखन-शैली भी क्रमशः पुष्ट होती थी।

बालकृष्ण भट्ट जी का 'हिन्दी-प्रदीप' एक विशेष श्रेणी का पत्र था। वह प्रायः गद्य-मय होता था। उसमें उत्कृष्ट प्रकार के हास्य-पूर्ण तथा गम्भीर साहित्यिक निबन्ध होते थे और वे अधिकतर भट्ट जी की लेखनी से ही निकलते थे। अन्य लेखक उसमें बहुत कम लिखते थे। इसके सिवाय 'हिन्दी-प्रदीप' में कविता कम रहती थी।

स्थूलरूप से कह सकते हैं कि 'हिन्दी-प्रदीप' में तीन प्रकार की सामग्री रहती थी। प्रत्येक अंक का अधिकतर भाग साहित्यिक निबन्धों (Literary essays) से भरा रहता था, शेष में सामयिक सामाजिक अथवा राजनैतिक घटनाओं वा समस्याओं पर लेख रहते थे। कभी कभी प्राचीन संस्कृत-साहित्य से चुनी हुई सूक्तियाँ तथा हँसी के चुटकुले रहते थे।

अतएव, यह स्पष्ट है कि भट्ट जी अपने पत्र-सम्पादन के दो ध्येय रखते थे। अपने समकालीन 'ब्राह्मण' आदि अन्य पत्रों की तरह उनका सब से प्रधान उद्देश्य तो यही रहता था कि पठित समुदाय की रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर प्रवृत्त हो।

इसीलिए शिक्षित लोगों के मनोरंजन के हेतु वे हास्यमय कहानियाँ तथा उपन्यासादि प्रकाशित करते थे। उपन्यासादि को क्रमानुसार 'प्रदीप' के अंकों में प्रकाशित करके वे स्थिर रखते थे।

उनका दूसरा उद्देश्य हिन्दी में गम्भीर या विदग्धसाहित्य को उत्तेजित करने का था। तभी तो वे बड़े गहन विषयों पर रोचक निबन्ध लिखते थे और औरों को उस ओर उत्साहित करने का प्रयत्न करते थे।

सारांश यह है कि भट्ट जी 'प्रदीप' में केवल ग्राहकों की संख्या बढ़ाने की ही नियत से क्षणिक मनोविनोद की वस्तुयें प्रस्तुत न करते थे हिन्दी की साहित्यिक वृद्धि करना उनका एकमात्र अभिप्राय था। वे स्वयं एक स्थल पर 'प्रदीप' के दीर्घ जीवन-काल के कार्य का सिंहावलोकन करते हुए कह गये हैं कि :—

"पाठक! इस बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छाप दिये जायें तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय...।"

उनके भिन्न भिन्न प्रकार के निबन्धों का उल्लेख करके यह प्रसंग समाप्त होगा। हम उनके निबन्ध पाँच कक्षाओं में वर्गीकृत करते हैं।

(१) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर।

'परिश्रम', 'नीयत', 'प्रेम और भक्ति', 'बातचीत' आदि पर लेख लिख कर उन्होंने अपनी मननशीलता का परिचय दिया है।

उनके साहित्यिक लेख तो बहुत से हैं।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के 'आँसू', 'बाल्यभाव', 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'बातचीत' आदि कतिपय निबन्धों को हम अंगरेज़ी के लेखक चार्ल्स लैम्ब (Charles Lamb) के उत्तमोत्तम निबन्धों के साथ रखने में तनिक भी न हिचकेंगे। वास्तव में भट्ट जी की भाषा में वही सुबोधता है, वही स्वाभाविकता है तथा वही रस है जो लैंब में मिलते हैं। जिस प्रकार लैंब 'All Fools day', 'Poor relations' आदि लेखों में छोटी सी बातों को लेकर बड़ी लम्बी काल्पनिक उड़ान लेते हैं, उसी प्रकार भट्ट जी भी उपर्युक्त लेखों में बड़े ऊँचे पहुँच जाते हैं। एक बात और है कि भट्ट जी के अधिकांश निबन्धों में उसी घनिष्ठता अथवा व्यक्तित्व की छाप है जो लैंब में है जिसका उल्लेख सैयद इंशा तथा पं० प्रतापनारायण के सम्बन्ध में अभी किया जा चुका है। लिखते समय पं० बालकृष्ण भट्ट अपना हृदय-कपाट खोल कर बैठते थे। पाठकों से अपने मन के भाव छिपाना उन्हें न आता था। तभी तो 'आँसू' के उद्भव की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन रात आँखों से आँसू टपकता है। क्या जाने बङ्गाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर भर रहा है?"

## भट्ट जी का गद्य

भट्ट जी का यह निश्चित मत था कि "प्रोज़ ( गद्य ) हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक प्रेमसागर सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ और है ही नहीं जिसे हम इसके साहित्य के भाण्डार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्यरचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।"

वास्तव में भट्ट जी का यह कहना ठीक है कि १९वीं शताब्दी के पहले का गद्य साहित्य बहुत ही कम है। पर इसे एकदम से 'पोच' या जघन्य कहने में थोड़ा सा संकोच अवश्य होता है। तिस पर फिर 'प्रेमसागर' को दरिद्र रचनाओं में परिगणित करना तो और भी आश्चर्यजनक है। यह सब कुछ मानते हुए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिखकर हिन्दी-गद्य को अधिक उन्नत नहीं किया, प्रत्युत उसकी भाषा से उर्दू की छाया को यथाशक्ति हटाकर तथा मुहावरों का तिरस्कार करके एक प्रकार से वर्षों तक उसके विकास को रोक दिया। तो भी निष्पक्ष होकर यह स्वीकृत करना होगा कि 'प्रेमसागर' चाहे साहित्यिक इतिहासवेत्ताओं की विचारकोटि से व्यर्थ ही क्यों न हो, परन्तु जिन्हें भाषा के माधुर्य तथा सजीव-वर्णन शैली की रुचि तथा परख है वे कदापि उसे इस दृष्टि से तुच्छ न समझेंगे।

पंडित बालकृष्ण स्वयं एक साहित्यज्ञ थे; भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था; हिन्दी-गद्य को विविध-रूप-संपन्न तथा समीचीन बनाने की उनकी हार्दिक भावना थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' का उद्घाटन किया था। वे इस प्रकार के 'साहित्यिक व्यसनी' लोगों में से न थे जो बिना किसी स्पष्ट सिद्धान्त के लेखक बन बैठते हैं।

एवं, यह स्वाभाविक सा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'प्रेम-सागर' की साहित्यिक महत्ता को अधिक न समझ कर उसे 'दरिद्र' कह डाला।

ऊपर जो भट्ट जी के लेखों से अवतरण दिया गया था उससे उनका गद्य-विषयक एक और सिद्धान्त का स्पष्टीकरण होता है। ऐसा अनुमान होता है कि उनकी साहित्यिक आत्मा को इस बात से क्लेश होता था कि उर्दू के अत्यधिक प्रचार से शुद्ध हिन्दी को धक्का पहुँच रहा था। अतएव उनके भाषा-विषयक विचारों की विवेचना करते समय हम उन्हें उन शुद्धि-वादियों की श्रेणी में रख सकते हैं, जिनमें पंडित गोविन्द-नारायण मिश्र, पंडित श्रीधर पाठक तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय भी हैं। यह बात दूसरी है कि उनके गद्य की भाषा प्रायः मिश्रित है और उसकी रोचकता का श्रेय बहुत कुछ उर्दू-पन को है जो मुहावरों के रूप में उसमें विद्यमान रहता है। तात्पर्य केवल इतना है कि जब हिन्दी-गद्य के विषय में भिन्न भिन्न लेखकों के सिद्धान्तों की परीक्षा की जावेगी, तब भट्ट जी

शुद्ध संस्कृत शैली के पक्षपातियों के साथ ही रक्खे जावेंगे।

बालकृष्ण जी असल में एक बड़े संस्कृतज्ञ थे और इसी-लिए शायद शुद्ध संस्कृतमिश्रित भाषा के इतने समर्थक थे। परन्तु कोरे संस्कृत पंडितों की तरह उन्होंने अपने गद्य-लेखों की भाषा जटिल तथा नीरस नहीं बनाई। एक सरस हृदय साहित्यकार होने के कारण वे समयानुकूल अपनी भाषा में उर्दू, फ़ारसी सब कहीं से उपयुक्त शब्द और मुहावरे चुन चुन कर एकत्र करते थे। पंडित प्रतापनारायण तथा सैयद इंशा की भाँति उनका भी यही प्रयत्न रहता था कि जो कुछ भी लिखा जाय वह ऐसी भाषा में हो जिससे पढ़ने वाले की रुचि उसकी ओर बढ़े और जिससे उसमें व्यक्त किये हुए भाव उसके हृदय में तत्काल ही अंकित हो जावें। इसीलिए उनके लेखों में हास्यरस का समावेश पर्याप्त परिमाण में रहता था। यही नहीं, गम्भीर से गम्भीर विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्ध इस हास्य से रिक्त नहीं हैं। सारांश यह कि उन्होंने अपनी भाषा में कभी भी दुरूहता नहीं आने दी। भाव तथा भाषा दोनों की विशदता पर वे सदैव ध्यान रखते रहे।

इस बात का एक बड़ा अच्छा प्रमाण मिलता है। लिखते लिखते जहाँ कहीं उन्हें बड़ी खोज करने पर भी हिन्दी में किसी अँगरेज़ी शब्द का पर्यायवाची शब्द न मिलता था, और जब वे अच्छी तरह समझ लेते थे कि जो भाव व्यक्त करना उनको अभीष्ट था, उसको पूर्ण रीति से स्पष्ट करने में अमुक अँगरेज़ी

शब्द ही समर्थ ज्ञात होता था, तब वे निस्संकोच उसी को प्रयुक्त कर देते थे। जैसे 'दिल और दिमाग' शीर्षक लेख में 'इनटेलेक्ट' और 'फीलिंग' और 'बातचीत' नामक लेख में 'स्पीच्'।

यही नहीं, कभी कभी उनके लेखों के शीर्षक तक अँग्रेज़ी में होते थे। उदाहरणार्थ "Are the nation and individual two different things?" इससे जान पड़ता है कि भट्ट जी 'शुद्ध हिन्दी' के परिपोषक होते हुए भी कभी पुराने संस्कृत पंडितों के दुराग्रह के वश में नहीं पड़े थे। अपने भावों को स्पष्टतया प्रकट करने के अर्थ वे शब्दों की उपयुक्तता का बड़ा ध्यान रखते थे; किसी बात को यदि बिना किसी भाषा के शब्द के आश्रय के बिना व्यक्त करना असम्भव समझ लेते थे तो उसे बेधड़क प्रयोग करते थे। आजकल अँगरेज़ी पढ़े हुए लेखकों के लेखों में जो कोष्टकबन्दी होती है उसका आविष्कार भट्टजी ने ही किया था।

इसके सिवाय इसी ध्येय के सम्पादन में बालकृष्ण जी अक्सर भावोपयुक्त नये नये शब्द तथा मुहावरे भी गढ़ते थे। उदाहरण के लिए उनका 'गतांक' शब्द का लाक्षणिक अथवा सालंकार प्रयोग लीजिए।

आजकल अँगरेज़ी पत्रों ने 'back-number' शब्द को राजनैतिक अर्थ में प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया है, और उन लोगों को यह उपाधि दी जाती है जो पुराने ढर्रे या संकुचित-

विचार वाले होते हैं। ठीक इसी अर्थ में भट्टजी 'गतांक' शब्द को वर्षों पहले गढ़ चुके थे।

इसी प्रकार भट्टजी के शाब्दिक आविष्कार की साहस-पूर्णता उनके मुहावरों से ज्ञात होती है।

'हमारी परिवर्तन-विमुखता' शीर्षक लेख में दो मुहावरे हमें विशेष जँचे हैं। भारत की परिवर्तन-विमुखता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "(हम) कितने सौ वर्ष कलेवा कर गये, वही गजी की धोती और गाढ़े की मिरजई छोड़ कोई दूसरे प्रकार के वस्त्र को न निकाल सके।" सौ वर्ष कलेवा करने वाली बात बड़ी चुभती हुई है। इस असाधारण मुहावरे का प्रयोग भट्ट जी के हाथ से हुआ है, और लोगों को शायद ही यह सूझता।

इन सब बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बाल-कृष्ण भट्ट पुरानी लीक पीटने वाले गद्य-लेखक न थे, उन्होंने नये नये शब्द तथा मुहावरे भी गढ़े थे पंडित प्रतापनारायण यद्यपि भट्टजी के समकक्ष थे, तथापि उनके सब गुणों का वर्णन करने के उपरान्त यह कहना पड़ता है कि वे एक उद्भावनापूर्ण गद्य लेखक न थे। उनके लेखों में जो रोचकता है, उनकी भाषा में जो सजीवता है, उन सब का मूल यही है कि उन्होंने घरेलू मसलों तथा हास्य और व्यंग का खूब प्रयोग किया है। यदि पता लगाइए कि पंडित प्रतापनारायण ने कितने नये शब्द अथवा मुहावरों की सृष्टि की तो शायद ही कुछ मिलें। वे

केवल हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत के प्रस्तुत शब्द-भांडार से सजीव से सजीव, रोचक से रोचक शब्द तथा मुहावरे निकाल कर अपने लेखों में उनका प्रदर्शन करते थे।

पंडित प्रतापनारायण के संबन्ध में कहा जावेगा कि उनका पांडित्य जो कुछ भी था उनके लेखों में उतराता हुआ नहीं देख पड़ता, किन्तु ऐसे ही कभी कभी शेरों तथा श्लोकों आदि के रूप में निकल आता है। इसके विपरीत पंडित बालकृष्ण भट्ट के लेखों में विद्वत्ता का प्रदर्शन होता है, उनकी संस्कृतज्ञता सदैव टपकती है। वास्तव में भट्टजी के लेखों में एक प्रकार की साहित्यिक सुगंध होती है जो पंडित प्रतापनारायण में बहुधा नहीं मिलती। इस विद्वत्ता के विचार से भट्टजी पंडित महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी की श्रेणी में हैं। दोनों को संस्कृत-गद्य-शैली के पोषकों में गिनना उचित है।

---

## ( १ )
## आँसू

मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खज़ाने के माफ़िक़ है। जैसा कभी कोई नाजुक वक़्त आ पड़ने पर संचित पूंजी ही काम देती है उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रगट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं तब आँसू ही उन उन भावों को प्रगट करने में सहायक होता है। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब

किसी दिली दोस्त से मुलाक़ात होती है तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अंग अंग ढीले पड़ जाते हैं, बाष्प-गद्गद् कण्ठ रुँध जाता है; जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की ख़ुशी को प्रगट करने के लिये एक एक शब्द मानों, बोझ सा मालूम होता है। पहिले इसके कि शब्दों से वह अपना असीम आनन्द प्रकट करै सहसा आँसू की नदी उसकी आँख में उमड़ आती है और नेत्र के पवित्र जल से वही अपने प्राणप्रिया को नहलाता हुआ उसे बग़लगीर करने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्य देव के नाम-संकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति का दर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उनके चरणकमलों का अभिषेक न किया उस दाम्भिक को भक्ति के आभासमात्र से क्या फल? सरस कोमल चित्तवाले अपने मनोगत सुख दुःख के भाव को छिपाने की हज़ार हज़ार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई उनके चित्त की गहराई को न थहा सके पर अश्रुपात भाव-गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है*। मोतीसी आँसू की बूंदें जिस समय सहसा नेत्र से झरने लगती हैं उस समय उसे रोक लेना बड़े बड़े गम्भीर प्रकृतिवालों की भी शक्ति के बाहर होता है। भवभूति ने जिनको प्रकृति का चित्र अपनी कविता में खींच देना ख़ूब मालूम था, कई ठौर पर अश्रुपात का उत्तम वर्णन किया है, जिससे

---

*देखिये रहीम :—

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, मन दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकार्यो गेह सों, कस न भेद कहि देइ॥

—सम्पादक

यही आशय निकलता है यथा —

"अयन्ते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्ता मणिसरा ।
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ॥
निरुद्धोप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया ।
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥"

यदि सृष्टिकर्ता अत्यन्त शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता तो वज्रपात सम दारुण दुःख के वेग को कौन सम्हाल सकता । इस भावार्थ का पोषक भवभूति का नीचे यह श्लोक बहुत उत्तम है :—

"पूरोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥"

अर्थात् बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है तो बाँध तोड़ उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है — इसी तरह अत्यन्त शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य को अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है । बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है ।

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चामात्र सुन जोश आजाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता की उमंग में भरा हुआ युद्धयात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है । विदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबावालों के आँसू के एक एक बूंद की क्या क़ीमत है यह वही जान सकता है । वह शसपंज में पड़ आगे को पाँव रख फिर हटा लेता है । वीर और करुणा—ये दो विरोधी रस अपनी ओर से उमड़ उमड़ कर उसे किंकर्तव्यतामूढ़ किये रहते हैं ।

आँख से आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्यपुरुषों के आता है जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया । निठुर निर्दयी मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना नहीं जाना, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी । प्रकृति में चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा सम्बन्ध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट्ट पहिचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं। तो निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं उनकी बैल सी बड़ी बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख के सीधे सम्बन्ध को बिहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है । यथा :—

"कोटि यतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न।
कहे देत चित चीकनों, नई रुखाई नैन ॥
दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत अचेत।
हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हँसि देत ॥"

मृतक के लिये लोग हजारों लाखों खर्च कर आलीशान रौज़े, मक़बरे, क़ब्रें संगमरमर या संगमूसा की बना देते हैं; क़ीमती पत्थर, मानिक, ज़मर्रुद से आरास्ता उन्हें करते हैं; पर वे मक़बरे क्या उनकी रूह को राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू के क़तरे टपकाकर पहुंचाते हैं ।

इस आँसू में भी भेद है । कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं । अक्षर उनके मुंह से पीछे निकलेगा, आँसुओं की झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी । स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानों

रोना उनके गिरो रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आँसू को रोकनेवाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहां हरदम रहता है; तब इनके आँसू का क्या ठिकाना! सत्वशली धीरज वालों को आँसू कभी आता ही नहीं। कड़ी में कड़ी मुसीबत में दो चार क़तरे आँसू के मानों बड़ी बरकत हैं। बहुत मौक़ों पर आँसू ने गज़ब कर दिया है। सिकन्दर का क़ौल था कि मेरी माँ की आँख के एक क़तरा आँसू की क़ीमत मैं बादशाहत से भी बढ़ कर मानता हूँ। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से २१ बार क्षत्रियों का संहार कराया। कितने ऐसे लोग भी हैं जिन्हें आँसू नहीं आता। इस लिये जहाँ पर बड़ी ज़रूरत आँसू गिराने की हो तो उनके लिये प्याज़ का गट्टा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गई। प्याज़ ज़रा सा आँख में छू जाने से आँसू गिरने लगता है।

"किसी को बैगन बावले किसी को बैगन पत्थ"

बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ़ में दाखिल है। हमारे लिये आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन रात आँसू टपकता है ज्यों ज्यों आँसू गिरता है त्यों त्यों बीमारी कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें हम कर चुके आँसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे कपारे में आकर भर रहा है। आँख से तो आँसू चलाही करता है, आज हमने लेख में भी आँसू ही पर क़लम चला दी, पढ़ने वाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

[ 'साहित्यसुमन' से ]

( २ )

## चन्द्रोदय

अँधेरा पाख बीता उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हँसिया की तरह उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानों कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचण्ड ताप से दुखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा ने क्या सूर्य का काम तमाम किया जिससे रक्त बह निकला, अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्तआभा है ? इस्लाम धर्म के मानने वाले नये चन्द्र की बहुत बड़ी इज़्ज़त करते हैं सो क्यों? मालूम होता है इसी लिये कि दिन दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा मानों सबक़ देता है कि रमज़ान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय। तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामन्त्र है; या अन्धकार महाराज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है; अथवा शृङ्गार रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुञ्जी है; या तारामौक्तिकों से गुथे हार के बीच का यह सुमेर है; अथवा जंगम जगत् मात्र को डसने वाले अनंग भुजंग के फन पर का चमकता हुआ मणि है; या निशानायिका के चेहरे की मुस्कराहट है; या सन्ध्यानारी के काम–केलि के समय में उसकी छाती पर लगा हुआ नखक्षत है; अथवा जगज्जेता

कामदेव की धन्वा है; या तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।

इसी प्रकार दूज से बढ़ते बढ़ते यह चन्द्र पूर्णता को पहुंचा। यह पूनों का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? यह गोल गोल प्रकाश का पिण्ड देख भाँति भाँति की कल्पनायें मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है; या उसके कान का कुण्डल अथवा फूल है; या रजनी रमणी के लिलार पर बुक्के का सफ़ेद तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चन्द्र मानों त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुन्द के सफ़ेद फूलों का गुच्छा है। कामवल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ यह कबूतर है, अथवा आकाशरूपी बाज़ार में तारारूपी मोतियों का बेचने वाला सौदागर है। कूई की केलियों को विकाशित करते मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अन्धकार को निगलते चन्द्रमा सीढ़ी दरसीढ़ी शिखर के समान आकाशरूपी विशाल पर्वत के मध्य भागमें चढ़ा चला आरहा है। क्षपा-तमस्काण्ड का हटाने वाला यह चन्द्रमा-ऐसा मालूम होता है मानों आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है जिसमें बीच बीच जो कलंक की कालिमा है सो मानों भौंरे गूंज रहे हैं। अथवा सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है, या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल गृह है, या आका[illegible]-गंगा के तट पर विहार करने वाला हँस है जो सोती हुई कुइयों को जगाने को दूत बन कर आया है; या देव-नदी आकाश-गंगा का पुण्डरीक है या चाँदनी का अमृत-कुंड है; अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं वे सब गौएं हैं उनके झुण्ड में यह सफ़ेद बैल है; या

यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व दिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये शान धरने का सफ़ेद गोल पत्थर है या सन्ध्या-नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय से पहिले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है सो मानों फागुन में इस रसिया चन्द्र ने दिगंगनाओंके साथ फाग खेलने में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशायोगिनी ने तारा-प्रसून-समूहसे कामदेव की पूजाकर यावत् कामीजनों को अपने वश में करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण बुका उड़ाया है; अथवा स्वच्छ नीले जल से भरे आकाश-हौदा में कालमहागणक ने रात के नापने को एक घटीयंत्र छोड़ रक्खा है; अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगीमात्र को कामाग्नि ने झुलसाने को यह दिनमणि है, कंदर्प-सीमन्तिनी रतिदेवी की छप्पेदार करधनी का टिकड़ा है; या उसी में जड़ा चमकता हुआ सफ़ेद हीरा है; या सब कारीगरों के सरताज आतशबाज़ की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है; अथवा महापथगामी समयराज के रथ की सूर्य और चन्द्रमा-रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है जो चलते चलते घिस गयी है। इसी से बीच में कलाई देख पड़ती है; अथवा लोगों की आँख और मन को तरावट और शीतलता पहुँचाने वाला यह बड़ा भारी बर्फ़ का कुण्ड है, इसी से वेदों ने परमेश्वर के विराट-वैभव के वर्णन में चन्द्रमा को मन और नेत्र माना है; या काल-खिलाड़ी के खेलने का सफ़ेद गेंद है समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिसमें कहीं कहीं नीलिमा बाक़ी रह गई है; या तारे-रूपी मोतीचूर के दानों का यह बड़ा भारी पनसेरा लड्डू है; अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने

के लिए यह बिल्लौर की गोल दवात है; या खड़िया मिट्टी का बड़ा भारी ढोंका है; या काल खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है; या रजत का कुण्ड है; या आकाश के नीले गुम्बज में संगमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमन्त में हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है सो मानों यह तपस्या कर रहा है जिसका फल यह चित्रा के संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनो के दिन पावेगा; जब इसकी द्युति फिर दामिन सी दमकेगी। इसी से कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है :—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।"

[ 'साहित्यसुमन' से ]

---

( ३ )

# संसार कभी एक सा न रहा

सूर्य चन्द्रमा पृथ्वी तथा दूसरे २ ग्रह और उनके उपग्रह आदि यावत् भगण सब अपनी २ कक्षा में चलते हुए कभी एक क्षण के लिये स्थिर नहीं रहते तब इस दृश्य जगत् को संसार "चलने वाला" कहना उचित ही है। स्थिर पदार्थ चाहे चिर काल तक एक रूप में रहे भी पर जो चलने वाले हैं वे एक ही प्रकार के और एक ही रूप में सदा क्यों कर रह सकते हैं। जो कल था सो आज नहीं है, जो आज है सो कल न होगा। छिन छिन में नये गुल खिलते हैं लड़के से जवान हो गये, जवान बूढ़े हो जाते हैं। वह प्यारी प्यारी मुग्धमुखच्छवि जिसे देखते ही आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है, जिसके धूल–धूसरित स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग

प्रत्यंग के दरस परस को भाग्यहीन जन तरसते हैं "चिरात्सुतस्पर्श रसज्ञतां ययौ" उसका सब रँग ढँग जवानी के आते ही अथवा यों कहिये पौगंड बीत जाने पर किशोर अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और होगया। बाल्यावस्था की मुग्धमाधुरी अकृतिम सरलता और सिधाई में सयानपन और कुटिलाई जगह करने लगी; स्वभाविक सोंन्दर्य्य में बनावटी सलोनापन आ समाया; नई नई सजावट की ओर जी झुक पड़ा। एक पैसे की शीरीनी और छदाम के मिट्टी के खिलौने में जहाँ ब्रह्मानन्द का सुख मिलता था तहाँ दो चार आनों की गिनती ही क्या है रुपयों की बात चीत आने लगी। लड़कांई का उदार समभाव और सन्तोष कहीं एक बात में भी न रह सका। तृष्णा, लालच, हिर्स, दोस्ती या दुश्मनी की बाजार गरम हुई; विषमभाव और मन की कुटलाई ज्ञान शक्ति बढ़ने के साथ ही साथ नित नित अधिक होती गई। होले २ पूर्ण तरुनाई तक पहुंच नीचे को खिसकने लगे गदहपच्चीसी को नाघ चेहलसाली को भी डांक अधेड़ की गिन्ती में आगये। बस अब खिसके सो खिसके। बाल चांदी होने लगे सौ २ तरह पर खिजाब मर पुराने ठिकरे पर नई कलई की भांति पहिले का सा कुदरती रंग फिर लाया चाहते हैं। किचकिचाते हैं, बार बार सोचते हैं कि नई जवानी और चढ़ती उमर का जोश तरोताजा हो जाना। बालों ही के सफ़ेद हो जाने के ग़म में डूबे बैठे थे कि दांत जो हीरे की दमक को भी दबाते हुए मोतियों की लड़ियों की तरह सोह रहे थे कगारे पर की रूख की भांति एक एक कर गिरने लगे, मुख के भीतर थोड़ी थोड़ी दूर पर मानो विन्ध्यपर्वत का एक एक खड्डसा खड़ा कर दिया गया। उधर नेत्र ने भी जवाब दिया, चश्मे की हाजत हुई। दिमाग़ कमज़ोर पड़ गया हाज़िज़ा

दुरुस्त न रहा। जो बात पहिले एक बार कहने या सुनने से अक़िल की सराय में मानो सदा के लिये टिकसी गई थी उसे रूठे पाहुने की भाँति बार २ बुलाते हैं, घोखते रहते हैं, पर सिवाय उचट जाने के बुद्धि में किसी तरह ठहरती ही नहीं। इतने में कान भी मान लाये। मुँह पर सिकुड़न आने लगी। हाड़ों को छोड़ छोड़ कर माँस और चिमड़ी ठौर ठौर इकट्ठी हो हो शरीर समथर मैदान में जगह जगह टीले से खड़े हो गये। अस्तु योंही होते होते साठ सत्तर अस्सी पहुंचे दिन करीब आय गये। मुँह बाय रह गये। "राम राम सत्य हैं दो चार दिन नित्य हैं।" "अहन्य हनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरं। शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्–" संसार कभी एकसा न रहा हमारा यह सिद्धान्त अब आया मन में। ख़ैर अब आगे बढ़िये। पञ्चभूतात्मक पञ्चप्राण वाले जीव जो इस चल और असार संसार में एक से न रहे तो कौन अचरज है जब अटल और सदा के लिये स्थिर बड़े बड़े पहाड़ सैकड़ों कोस के मैदान और जंगल भी काल पाय और के और हो जाते हैं—"पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमभवत्तत्र सरितां। विपर्यासं जातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्"

उत्तर चरित्र में भवभूति कवि लिखते हैं कि दण्डकवन में पहिले जो सोते थे वे नदियों के प्रवाह के कारण अब पुलिन बन गये। घने और विरले जंगलों में उलट पुलट हो गई। जहाँ घना जंगल था वहाँ अब कहीं कहीं दो एक पेड़ रह गये और जो बिलकुल पट पर मैदान था वह घने जंगल में बदल गया इत्यादि। तो निश्चय हुआ कि परिवर्त्तन जिसके हमारे पुराने बुड्ढे अत्यन्त विरुद्ध हैं इस अस्थिर जगत का एक मुख्य धर्म या गुण है वही नये लोग इस परिवर्त्तन पर अनमन न होकर चिढ़ते नहीं;

वरन् इसे तरक्की की एक सीढ़ी मानते हैं। हमारे अभागे से भारत में परि-
वर्त्तन की यहां तक लोग बुरा समझते हैं कि दिन दिन अत्यन्त गिरी दशा
में आकर भी परिवर्त्तन की ओर नहीं मन दिया चाहते। यह हमारी परि-
वर्त्तन विमुखता ही का कारण है।

---

# भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[ १८५०-१८८४ ]

---

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में हरिश्चन्द्र एक बड़े स्रोत के समान हैं। जिस प्रकार किसी स्रोत से निकल कर बहुत सी धारायें भिन्न भिन्न दिशाओं में बहती हैं, ठीक उसी प्रकार बाबू हरिश्चन्द्र की प्रखर प्रतिभा की ज्योति तथा उनकी अद्वितीय सहृदयता के प्रभाव से अनेक साहित्य-प्रेमियों का जन्म हुआ। अब भी जब कि उनको संसार से उठे हुए इतना समय हुआ है उनकी संचारित की हुई शक्ति हिन्दी-प्रेमियों को उत्साहित कर रही है।

भारतेन्दु के चारों ओर जिनके विषय में 'लाखन खरचि बर आखर खरीदे हैं' वाली बात प्रसिद्ध है एक प्रकार का प्रकाश-पुंज सा एकत्रित हो गया है। लोगों की यहाँ तक धारणा हो गई है कि आजकल हिन्दी-साहित्य की जो कुछ उन्नति तथा जो कुछ भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति होती देख पड़ती है उस सब की नींव हरिश्चन्द्र रख गये थे। यह बात अधिकांश में है भी ऐसी ही। कविता और नाटक का तो भारतेन्दु ने विशेष रूप से पुनरुज्जीवन किया था। इसके सिवाय उन्होंने जनसाधारण की रुचि निस्सन्देह एकदम से उर्दू की ओर से

हटा कर हिन्दी की ओर प्रेरित की थी।

परन्तु हिन्दी-गद्य को आधुनिक परिमार्जित स्वरूप देने में उन्होंने कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। गद्य में छोटी-मोटी जो पुस्तकें भी उन्होंने लिखी हैं, उनका महत्व यह देखते हुए कुछ भी नहीं है कि उनकी भाषा में उस चमत्कार का सर्वथा अभाव है जो अन्यत्र उनकी कृतियों में मिलता है। सच तो यह है कि कविता और नाट्यकला को अलंकृत करने के लिए ही उन्होंने अवतार लिया था। अस्तु, यह बात ध्यान में रख कर कि नाटकों के सिवाय जो कुछ उन्होंने गद्य में लिखा है उसमें टकसालीपन नाममांत्र को भी नहीं है। उनकी गद्य-शैली पर संक्षेप से विचार करना है। अधिक विवरणपूर्वक प्रस्तावना (नं० २) में उसका उल्लेख हो चुका है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'काश्मीर-कुसुम', 'वैष्णवसर्वस्व', 'चरितावली' आदि जो निबन्ध भारतेन्दु ने गद्य में लिखे थे, उनको लिखते समय उनका यह ध्येय कदापि नहीं रहा होगा कि उनमें वे अपना शैली-चातुर्य दिखावें। वे उन्होंने केवल धार्मिक आवेश तथा देशप्रेम के भावों से प्रेरित होकर लिखे थे। स्वयं वैष्णव होने के कारण तथा वैष्णव धर्म में भक्ति रखते हुए उन्होंने 'वैष्णव-सर्वस्व' लिख डाला। इसी प्रकार सूरदास, जयदेव, कबीर आदि महापुरुषों की संक्षिप्त जीवनियाँ भी उन्होंने लिखी थीं। यह कहना अनुचित न होगा कि शायद बिना कविता का सहारा लिए ही जहाँ कहीं उन्हें गद्य लिखना पड़ा है वहाँ

नीरसता का अनुभव होने से उनकी भाषा शुष्क सी हो गई है। यही कारण है कि नाटकों में और विशेषकर 'भारतदुर्दशा' में कवितामयी अथवा अभिनयापेक्ष परिस्थिति में अनेक गद्य के बड़े सुंदर नमूने मिलते हैं।

जैसा कि प्रस्तावना में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है, हरिश्चन्द्र का सर्वोत्तम गद्य ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों की ओर झुका है। 'करें' के स्थान में 'करैं', 'संग', आदि अन्य बहुत से प्रयोग इस बात के उदाहरण हैं।

बनारस के आसपास की पूर्वीय हिन्दी की छाया भी उनके गद्य की क्रियाओं, लिंगों तथा कारक-चिन्हों से प्रकट होती है। जैसे "जिन लोगों ने केवल उत्तम उत्तम वस्तु चुन कर एकत्र किया है।" खड़ी बोली से इस प्रकार का व्याकरण कोसों दूर है।

कभी कभी उनकी भाषा क्लिष्ट संस्कृत से पूर्ण होती है जैसे कि उनके 'नाटक' शीर्षक लेख में मिलती है। वह संस्कृतता ऐसे स्थलों पर ही मिलती है जहाँ कि उन्हें गम्भीर विषयों पर लिखना होता है। बात यह जान पड़ती है कि अपनी गद्य-शैली को विषयानुसार बदलने की सामर्थ्य उनमें कम थी। केवल सुगम विषयों पर तथा कथनोपकथन लिखने में ही उनका पूर्ण अधिकार था। ऐसा गद्य लिखना जिसके प्रतिपाद्य विषय से तथा जिसकी भाषा से कविता कोसों दूर जाती हो, भारतेन्दु की रसीली प्रकृति के विरुद्ध पड़ता था। तभी प्रायः

मननशील विषयों के उपयुक्त उनका गद्य नहीं है।

उनके गद्य में नागरिकता है। ग्रामीण मुहावरों तथा भावों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि यद्यपि उनके नाटकों का गद्य बड़ा मुहावरेदार तथा रोचक है, तथापि ढूँढ़ने पर भी उसमें सिवाय तुलसीकृत रामायण की उपयुक्त पंक्तियों, कुछ शिष्ट समाज में प्रचलित लोकोक्तियों तथा उर्दू, फ़ारसी की चलती हुई शेरों के, कोई भी ऐसे मुहावरे न मिलेंगे जिनसे भारतेन्दु के गद्य का संबंध किंचित्‌मात्र भी ग्राम्य भाषा से अथवा तत्कालीन वाग्धारा से प्रकट हो सके।

---

( १ )

## महाकवि जयदेव

जयदेव जी की कविता का अमृतपान करके तृप्त चकित मोहित और घूर्णित कौन नहीं होता, और किस देश में कौन ऐसा विद्वान् है जो कुछ भी संस्कृत जानता हो और जयदेव जी की काव्य-माधुरी का प्रेमी न हो। जयदेव जी का यह अभिमान कि अंगूर और ऊख की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है बहुत सत्य है। इस मिठाई को न पुरानी होने का भय है न चींटी का डर है। मिठाई है पर नमकीन है।—यह नई बात है। सुनने पढ़ने को बात है पर गूँगे का गुड़ है। निर्जन में, जंगल, पहाड़ में जहां बैठने को बिछौना भी न हो वहां गीतगोविन्द सब आनन्द-सामग्री देता है, और जहां कोई मित्र, रसिक, भक्त, प्रेमी न हो वहां यह

सब कुछ बन कर साथ रहना है जहां गीत-गोविन्द है वहीं बैष्णव-गोष्ठी है; वहीं रसिक-समाज है, वहों वृन्दावन है, वहीं प्रेम सरोवर है, वहीं भाव-समुद्र है, वहीं गोलोक है, और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द है ।...

---

( २ )

## नाटक रचना-प्रणाली

नाटक-रचना में शैथिल्य-दोष कभी न होना चाहिए, नायक नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना-उद्देश्य नहीं है । जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्यप्रणाली सन्दर्शन करके दर्शक लोग पूर्व पूर्व कार्यविस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता । जिन लोगों ने केवल उत्तम उत्तम वस्तु चुन कर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ हैं वहा काव्यामोदी रसज्ञमण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं । कालिदास, भवभूति और शेक्स-पियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं । कोई सामग्री नहीं है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयंगम करके नाटक-रचयिता को सूक्ष्मरूप से ओत-

ओत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिए। जो अनालोचित मानव प्रकृति है, उनके द्वारा मानव जाति के सब अन्तर्भाव विशुद्धरूप से चित्रित होंगे, वह कभी संभव नहीं है। इसी कारण से कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और शेक्सपियर के 'मैकबथ' और 'हेमलेट' इतने विख्यात होके पृथ्वी के सर्वस्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देश में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करै; तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुनै तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करै। यह न करने से मानव प्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य हैं उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय वाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

# पं० भीमसेन शर्मा

[ १८५४-१९१७ ]

[ पं० भीमसेन जी स्वामी दयानन्द सरस्वती के विश्वस्त शिष्यों में से थे, तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादक थे। बहुत वर्षों तक वे स्वामी जी के साथ ही साथ रहे थे और प्रचार-कार्य में उनकी पूरी सहायता करते रहे। एक बार किसी कारण उन्होंने अचानक आर्य-समाज त्याग दिया और कट्टर सनातनधर्मी बन गये जो अन्त तक वे रहे। हिन्दी-गद्य के उन थोड़े से सहायकों में पं० भीमसेन शर्मा की गणना है, जो धार्मिक पक्षपात के आवरण से घिर कर विस्मृति के अन्धकार में पड़ गये हैं और जिनके कार्य की ठीक ठीक विवेचना अभी तक नहीं हो पाई। कई वर्ष तक वे प्रयाग से 'प्रयाग-समाचार' तथा 'आर्य-सिद्धान्त' निकालते रहे थे जब वे आर्यसमाज में ही थे। बाद को वे इटावे से 'ब्राह्मण-सर्वस्व' नामक सनातनधर्मी पत्रिका का सम्पादन करते रहे। ]

पं० भीमसेन अपने समय के धुरन्धर विद्वान् थे। स्वामी दयानन्द के साथ रहते रहते उन्हें वैदिक साहित्य का अधिक अध्ययन करने का अवकाश मिला होगा। परन्तु वे कोरे संस्कृतज्ञ ही न थे। आर्यसमाज के किसी भी विद्वान् प्रचारक तथा परि-पोषक ने एकान्त में बैठे बैठे अपनी विद्वत्ता की जुगाली करने में समय नष्ट नहीं किया, वरन् सदैव उसी के द्वारा सर्वसाधारण में सद्भावों की चर्चा तथा वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित

करने का निरन्तर प्रयत्न किया। अस्तु, पं० भीमसेन शर्मा ने स्वामीदयानन्दके साथ रह कर तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तोंका उद्घाटन तथा प्रस्फुरण अपनी आँखों से स्वामी जी की अध्यक्षता से देखते हुए संस्कृत के साथ साथ हिन्दी को भी अपनाना सीखा। स्वामी जी का लिखने-पढ़ने का काम भी वे बहुत कुछ करते थे। इस प्रकार, क्योंकि स्वामी जी के ही द्वारा उनकी रुचि हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुई, इसी लिए उनके गद्य में भी उन्हीं की सी संस्कृतता है।

पं० भीमसेन शर्मा का गद्य राजा शिवप्रसाद के विपरीत दिशा में झुका हुआ है। वे एक स्थल पर कह चुके हैं कि "जो जाति स्वतन्त्र भाषा का अभिमान रखती हो......उस जाति के लिए अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती।" अर्थात् वे मिश्रित भाषा के घोर विरोधी थे। वे उन लोगों में से थे जो हिन्दी को देववाणी की कन्या मानते हैं, और जो फ़ारसी, उर्दू आदि अन्य विदेशीय भाषाओं के मिश्रण से चिढ़ते हैं। वे कहते हैं कि "संस्कृत-भाषा के अक्षय भांडार में शब्दों की न्यूनता नहीं है। हमको चाहिए कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृत के सहारे से यथोचित करें। जिन लोगों को जिन विशेष प्रचरित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि नहीं है तो उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का वहाँ प्रयोग करना चाहिए।"

पं० भीमसेन जी ने इस प्रकार के कई उर्दू शब्दों को जो हिन्दी में घुल मिल से गये हैं संस्कृत का रूप देकर नये सिरे से गढ़ने का प्रयत्न किया था। 'शिकायत' और 'चश्मा' के स्थान में उन्होंने 'शिक्षायत्न' और 'चक्ष्म' अथवा 'चक्ष्मा' को प्रयोग करने की अनुमति दी थी। यही नहीं, व्याकरण की रीति से ऐसे प्रयोगों को सिद्ध करने की उन्होंने चेष्टा भी की है।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी के शब्द-कोश को समृद्ध करने के लिए भीमसेन जी सिद्धान्ततः इस बात पर ज़ोर देते थे कि नये नये भावों को व्यक्त करने के लिए जो शब्द गढ़े जावें वे जहाँ तक सम्भव हो सीधे संस्कृत से ही लाये जावें। अभी कुछ वर्ष पूर्व जब सब लोग एक स्वर से यह कह रहे थे कि हिन्दी शुद्ध रखना चाहिए, और यही नहीं वैज्ञानिक कोश के निर्माण के जोश में जब 'ओषजन', 'हिद्रजन' आदि शब्द ज़बरदस्ती बनाये जा रहे थे तब तक ऐसी हवा चल उठी थी कि जिसके वेग में पड़कर हिन्दी-गद्य की विकास-धारा उलटी ओर घुमाई जा रही थी। पं० भीमसेन शर्मा उस शुद्धिवाद के बड़े समर्थक थे। यह कहना तो अनुचित है कि ('सिफ़ारिश' के बदले) 'क्षिप्रआशिष्' ('साहिब' के बदले) 'साहब' ('आह्वेन सह वर्तते सत्सम्बन्धे तन्निर्णयाय यः प्रवर्तते स साहबः'), ('दुश्मन' के बदले) 'दुःशमन' आदि विचित्र गढ़न्तें उनके सनक-मात्र की द्योतक हैं, किन्तु कुछ भी हो उन्होंने एक बड़ा मनोरंजक भाषा-विषयक प्रयोग किया था। परन्तु उनके बनाये हुए इस प्रकार

के शब्दों में से एक का भी अभी तक प्रचार नहीं हो पाया। इससे साफ़ जान पड़ता है कि भीमसेन जी का वह प्रयत्न निष्फल हुआ है।

---

## संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति

यदि संसार में कोई ऐसा वस्तु समझा जा सकता है कि जो जातीय गौरव तथा जातीय अभ्युत्थान का अवलम्ब हो तो कह सकते हैं कि विदेशी भाषाओं से ऋण लेकर केवल स्वदेशी भाषा और अपनी लिपि है। आत्म गौरव का संस्कार जागे बिना जातीय अभ्युत्थान का होना असम्भव है और जहां की भाषा अपने देश के उपकरणों से संगठित नहीं हैं वहां आत्म-गौरव के संस्कार का आविर्भाव होना असंभव है। क्योंकि ऐसी दशा में संसार यही कहेगा कि "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा"। जहां आत्मगौरव का अभाव है उस देश वा जाति का जातीय अभ्युत्थान होना भी असंभव सा ही जानो। क्योंकि जब आत्म-गौरव का संस्कार मन वा अन्तःकरण में जागता है तभी वाणी और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले उच्च कर्त्तव्य-पालन द्वारा जाति का अभ्युत्थान होता है।

जो मनुष्य ऐसे वंश में उत्पन्न हुआ है जिसमें गौरव का कुछ चिन्ह भी नहीं, न कोई वैसा कर्त्तव्य-पालन है उसका उत्थान होना सम्भव नहीं है। क्योंकि जन्मान्तरीय संस्कार स्वच्छ होने पर भी उन संस्कारों के उद्बोधक निमित्त कारण उस जाति में प्राप्त नहीं हैं, इसी कारण ऐसे साधनहीन वंशों में उच्च कोटि के विचारवान मनुष्यों का सदा ही अभाव

दीखता है। विचार का स्थान है कि मेवाड़ के महाराणा वीरों ने म्लेच्छों के समक्ष शिर नहीं झुकाया तथा अन्य सभी राजाओं ने शासक यवनों की अधीनता स्वीकार की। इसका कारण वंशपरम्परागत आत्मगौरव ही था और है क्योंकि इक्ष्वाकु महाराजा के सूर्यवंश का आत्मगौरव परम्परा से चला आता है कि जिस आत्मगौरव ने चिरकालावधि प्रातःस्मरणीय श्रीमान् महाराणा प्रतापसिंह के अयोग्य पुत्र महाराणा अमरसिंह के दुर्बल हृदय पर भी वीरता की चिनगारियां विकीर्ण करदीं थीं। अतएव हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम भारतवासी लोग अपनी भाषा को अपने स्वदेशीय उपकरणों से संगठित करें कि जो जातीय अभ्युत्थान का प्रधान साधन है।

यद्यपि इस उक्त विचार पर यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि संसार में ऐसी भी जातियां विद्यमान हैं कि जिनकी भाषा अन्य अनेक देशीय भाषाओं का अवलम्ब करके बनी हैं और वे इस समय राजराजेश्वर हैं तो फिर नाना भाषाओं से शब्दों को चुन चुन कर हम लोग भी अपनी भाषा की पूर्ति क्यों न करलें? निस्सन्देह यह प्रश्न कुछ जटिल है, तथापि विचार के चक्षुओं से आलोचना करने पर विदित होता है कि राज-राजेश्वर हो जाने पर भी वे लोग मनुष्योन्नति की चरमसीमा से बहुत दूर हैं जो उन्नति के शिखर तक पहुंच भी नहीं सकते। वेदादि शास्त्रों के मन्तव्यानुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार मानव जाति की उन्नति के विषय हैं। वेदादि शास्त्रों को न मानने वाले ईसाई, मूसाई आदि भी इन चार से भिन्न कोई अन्य विषय सिद्ध कर नहीं सकते। इन चार में से साम्प्रतिक उन्नत जातियों में धर्म और मोक्ष दो विषयों के तत्वज्ञान का तो सर्वसम्मत अभाव है। भारतवासी द्विज भी धर्म और मोक्ष साधनों से

पूर्वापेक्षा अधिकांश गिरे होने पर भी उन्नत जातियों की अपेक्षा अब भी धर्म और मोक्ष साधनों में अधिकतर सम्पन्न हैं यह बात उन्नत जातियों के निष्पक्ष लोग भी जानते और मानते हैं। तीसरे कामसुख की सीमा साक्षात् इसी मानव शरीर से स्वर्गीय दिव्य सुखों का अनुभव करना वा योगाभ्यास के द्वारा अष्ट सिद्धियों सम्बन्धिनी कामनाओं की प्राप्ति से होने वाले आनन्द का अनुभव करना है। साम्प्रतिक उन्नत जातियां इस तीसरी कामोन्नति से वंचित हैं यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। यद्यपि वर्त्तमान के भारत-वासी द्विज भी इस उन्नति से अधिकांश पतित हैं तथापि उन्नत जातियों की अपेक्षा अब भी हम लोग स्वर्गादि से कम वंचित हैं। अब रह गयी चौथी एक अर्थोन्नति, सो यह सर्वसम्मत है कि जो इस अर्थोन्नति में हम भारतवासी लोग अधिकतर अधःपतित हो गये हैं और वर्त्तमान की अन्य उन्नत जातियां इसी अर्थोन्नति में हमसे बहुत आगे बढ़ गयीं हैं, और इस समय के प्रायः सभी लोग इसी उन्नति को उन्नति समझते हैं। इस अर्थो-न्नति की सीमा भूमण्डल भर का एक चक्रवर्ती राजा होना है। जिस जाति वा जिस धर्म वालों का भूमण्डल पर चक्रवर्ती राज्य होजाता है उस जाति वा धर्म वालों का पूर्ण अर्थोन्नति मानी जाती है। वर्त्तमान ईसाई आदि जातियों में किसी को भी सीमापर्यन्त अर्थोन्नति अब तक कभी नहीं हुई और हमारा विश्वास है कि ऐसी जातियों की सीमापर्यन्त अर्थोन्नति कभी आगे भी नहीं हो सकती क्योंकि पूर्ण धर्मात्मा होने से धर्म के द्वारा मनुष्य की सीमा अर्थोन्नति हो सकती है इसी से पूर्ण धर्मात्मा राजा ही चक्रवर्ती हो सकता है। और वर्त्तमान की उन्नत जातियों में से किसी में भी धर्मा-चरण की प्रधानता होना असम्भव है। इसलिये हमको अपनी सर्वांगपूर्ण

भाषा के द्वारा धर्मादि चारों विषयों में सीमापर्यन्त उन्नति के शिखर तक पहुंचने का पूरा पूरा उद्देश्य मन में रखना चाहिये।

इसी ऊपर के लेखानुसार मानना चाहिये कि जातीय अभ्युत्थान केवल राजनैतिक उन्नति पर ही पर्यवसित नहीं है किन्तु इसके साथ ही साथ सामाजिक और धर्मादि विषय पर निर्भर है। जिन जातियों की भाषा खिचड़ी के तुल्य है वे भी जातियां धर्म के और समाज के संगठन में पराधीन हैं और अनेक भाषाओं के शब्दों से अपनी भाषा पूर्ण करने की शैली उन जातियों को अवश्य सफलता प्राप्त करा सकती है कि जो किसी समय सर्वथा जंगली जातियां रही हों और जिनने ऐसे ही सहारे से अपनी उन्नति की हो। जिनमें अपना पूरा पूरा अवलम्ब नहीं है उनको भिक्षावृत्ति के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है? परन्तु उनमें अपनी स्वतन्त्र भाषा का अभिमान उन्नति के मार्ग में चलाने वाला नहीं होता और उनकी भाषा का जीवन भी संकट से ग्रस्त रहा करता है क्यों कि वैसी भाषा गिरगट के तुल्य रंग बदला करती और प्रत्येक सहस्र वर्ष में मृतप्राय हो जाती है। और जो जाति स्वतन्त्र भाषा का अभिमान रखती हो उस जाति के लिये अपनी भाषा की खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती। यदि किसी पर राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक विप्लव का आरोप किया जावे कि इस जाति के राजनैतिकादि बल नष्ट भ्रष्ट हो जावें तो इस विप्लव का प्रधान साधन यही हो सकता है कि जाति की भाषा और लिपि के अधःपतन का उपाय कार्य में परिणत किया जाय अर्थात् उस को अन्यदेशीय भाषा वा शब्दों के तथा लिपि के अधीन किया जावे। तब ऐसी दशा में उस आत्मविश्वास का तिरोभाव क्रमशः

होते होते नाना प्रकार के विप्लव आ घुसेंगे। इसका परिणाम यही होगा कि उसका नाम केवल इतिहास में ही उल्लेख योग्य रह जावेगा किन्तु उनका पता कुछ भी नहीं रहेगा। पाँच भौतिक शरीर की विद्यमानता से ही जातीय जीवन समझा नहीं जाता किन्तु जिस जाति में भाषादि के स्वकीय उपकरण नहीं हैं समझना चाहिये कि वह जाति जीवित नहीं है किन्तु मृत है।

वर्त्तमानकालिक हिन्दी-जगत् में उदारता का एक नवीन प्रवाह बहने लगा है कि हम अपनी भाषा की श्रीवृद्धि नाना भाषाओं के सहारे से करें। उन महाशयों का कथन है कि हिन्दी जब राष्ट्रभाषा है [ उसे चाहें अन्य प्रान्तीय राष्ट्रभाषा मानें वा न मानें ] तब यह संस्कृत वा अन्य किसी भाषा को अधीनता क्यों स्वीकार करे? सो उन महाशयों का यह विचार पूर्वोक्त कारणों से ठीक वा उचित नहीं है तथा, द्वितीय, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि संस्कृत का अनुसरण करने वाली अन्यान्य बंगादि भाषाओं से हमारी भाषा बहुत भिन्न वा दूर हो जायगी और इसका परिणाम यह होगा कि बंगादि अन्य प्रान्त वाले हिन्दी भाषा को फ़ारसी, अरबी आदि विदेशीय भाषाओं के तुल्य म्लेच्छ भाषा समझने लगे क्यों कि वे लोग अपनी अपनी भाषा को संस्कृतोन्मुख करने में प्रवृत्त हो चुके हैं और हिन्दी को अन्य देशीय भाषाओं के संयोग से खिचड़ी करने का प्रयत्न किया जाय तो काल पाकर अन्य प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का बड़ा अन्तर पड़ जायगा। हिन्दी को वैदिक म्लेच्छ भाषा कहने के कुछ कुछ चिन्ह अभी से दीखने भी लगे हैं। अतएव हमको अभी से सतर्क हो जाना चाहिये और इस समय हमारा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि हम लोग

अपनी हिन्दी-भाषा को संस्कृत की ओर झुकाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देवें ।

संस्कृत-भाषा के अक्षय भाण्डार में शब्दों की न्यूनता नहीं है, हमको चाहिये कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृत के सहारे से यथोचित करें, यदि ऐसा हो तो भिक्षावृत्ति के अवलम्बन की आवश्यकता कुछ नहीं होगी। यदि हम लोग संस्कृत के धातुप्रत्ययों के संयोग से नवीन शब्द बनाने का कष्ट न उठाना चाहें तो संस्कृत भाषा की आत्मीयकरण-शक्ति ऐसी है कि जिसके सहारे अन्य भाषा के शब्दों में से आवश्यकतानुसार अधिकांश को तद्वत् अथवा समीप्य रूप के सहारे मिला सकते हैं और वे शब्द संस्कृत धातुप्रत्ययों से सिद्ध होने के कारण संस्कृत ही कहे माने जा सकते हैं। समाचारपत्रों के सम्पादकादि अनेक महाशयों ने अब तक ताज़ीरात-हिन्द के स्थान में भारतीय दण्डसंग्रह, कचहरी का न्यायालय, मुक़दमा का अभियोग, गवाह का साक्षी, मुद्दई व मुद्दालह का वादी-प्रतिवादी सज़ा का दण्ड इत्यादि अनेक संस्कृत शब्दों के लिखने बोलने का प्रारम्भ कुछ काल से कर दिया है और यह व्यवहार भी दिन दिन वृद्धिगत होता ही जाता है। हम सहर्ष ऐसे प्रचार का अनुमोदन करते और उन प्रचारक महाशयों को धन्यवाद देते हैं। तथा एक द्वितीय प्रकार यह है कि जैसे हम कहते मानते हैं कि जैसे संस्कृत वार्दल शब्द का रेफ उड़ जाने से लोक में बादल कहने लगे। वार नाम जल का है उसके दल नाम खण्ड बादल कहाते हैं। यही अर्थ अब भी बादल शब्द से समझा जाता है। इसी से वार्दल का अपभ्रंश बादल, कपाट का अपभ्रंश किवाड़, भित्ति का भीत, गृह वा गेह का घर, कुटी का कुरी, चतुष्काष्ठ का चौखट, चतुष्कोणी का चौकी, शिरोधर का सरदल, चतुष्कोण का चौका, कर्ण का

कान, नासिका का नाक, अक्षि का आंख, हस्त का हाथ, पाद का पांव इत्यादि अपभ्रंश हुए हैं। वैसेही जिन लोगों को जिन विशेष प्रचरित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि यदि नहीं है तो उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिए अति संक्षेप से थोड़े से उदाहरण हम दिखाते हैं।

जैसे-शिकायत शब्द अन्य भाषा का है परन्तु हिन्दी-भाषा में विशेष रूप से प्रचलित हो गया है। यदि इस पद के स्थान में उपालम्भ शब्द का प्रयोग करने की रुचि नहीं है और यह इच्छा है कि इसी अर्थ का बोधक इसी से मिलता हुआ संस्कृत-शब्द हो तो वैसे शब्द भी संस्कृत-भाषा की अद्भुत शक्ति होने से हम को प्राप्त हो सकते हैं जिनका स्वरूप अर्थ दोनों मिल सकते हैं जैसे–शिक्षायत्न वा शिक्षायत्ति। जिस मनुष्य की शिकायत की जाती है उसको कुछ शिक्षा व दण्ड देने वा दिलाने का अभिप्राय होता है कि जिससे वह आगे वैसा न करे इससे शिकायत शब्द के स्थान में शिक्षायत्न शब्द का प्रयोग उचित है। चश्म, चश्मा शब्द के स्थान में उपचक्षु शब्द का व्यवहार करना यदि नहीं रुचता तो उसका शुद्ध संस्कृत शब्द चक्ष्म व चक्ष्मा भी हो सकता है। तब शिकायत तथा चश्मा शब्दों को बोलते लिखते हुए भी शिक्षायत्न का अपभ्रंश शिकायत को मानना और चक्ष्मा शब्द का अपभ्रंश चश्मा को मान लेना चाहिए क्योंकि दर्शनार्थ चक्षिङ धातु से चक्ष्मा बनेगा, देखने का का साधन चक्ष्मा कहा जायगा। मन आशा का अपभ्रंश मंशा पद को मानना उचित है। ग्रसु ग्लसु अदने। धातु के घञ् प्रत्यय करने पर

ग्लास पद सिद्ध होता है। ग्लसन्ति जलंग्वादन्ति येन स ग्लासःपात्रम्। इसी ग्लास शब्द को कुछ बिगाड़ के गिलास बोलने लगे ऐसा मानना चाहिए। साहब शब्द भी संस्कृत है आहवनाम संग्राम वा विग्रहमात्र का है।

लड़ाई झगड़े का निर्णय करने में प्रवृत्त रहने वाला मनुष्य साहब कहावेगा। उसी का अपभ्रंश साहिब वा साहेब मानना चाहिए। सिफ़ारिश-क्षिप्राशिष् अर्थात् जिस क्रिया से शीघ्र ही कार्य सिद्धि की आशा हो वह क्षिप्राशिष् कहा सकती है। उसी को बिगाड़ के सिफ़ारिश शब्द अपभ्रंश बन गया ऐसा मान लेने पर कुछ हानि नहीं है।

दुकन्दार तथा द्विकन्दार दोनों शब्द संस्कृत हो जाते हैं यदि निन्दितार्थ में शब्द का प्रयोग इष्ट हो कि ग्राहकों को लोभ परायण होकर ठगनेवाले विक्रेता का नाम है, क्रेता विक्रेता दोनों सुख का नाश करने वाले द्विकन्दार कहावेंगे। ऐसे अर्थ में दुकन्दार शब्द का अपभ्रंश मान लेना चाहिये। यदि सत्यभाषण द्वारा उचित लाभ लेने अच्छी वस्तु देने वाला विक्रेता प्रशस्तार्थबोधक लेना अभिष्ट हो तो दुक नाम ठगई के दुःख को नष्ट करने का विक्रेता दुकन्दार कहावेगा। तब यह अपभ्रंश नहीं माना जावेगा। उस पूर्वोक्त दशा में दुकन्दार अपभ्रंश माना जायगा। तारापः जिस जलाशय में मनुष्यादि तर सकें जिसमें तरने योग्य अप् नाम जल हो वह तारापः कहावेगा। उसका अपभ्रंश तालाब हो गया। अपो जलं तापयतीति—अप्तापः सूर्यः। इसी अप्ताप शब्द का अपभ्रंश आफ़ताब होगया ऐसा मानना अनुचित कुछ नहीं है।

न्यायालय में न्यायाधीश के समक्ष अज नाम ईश्वर को साक्षी करके

किया कथन अजहार कहाता अथवा जिस कथन में अपने मनका भावहरण नाम गोपन न किया जाय किन्तु अपने हृदय का सभी भाव प्रकाशित कर दिया जाय वह अजहार कहाता है। उसी का अपभ्रंश इजहार होगया जानों, इजहार के स्थान में यदि हम अजहार बोलें वा लिखें तब भी व्यवहार में किसी प्रकोर की बाधा नहीं हो सकती अर्थात् हमको अजहार शब्द संस्कृत मानकर इजहार को उसी का अपभ्रंश मान के व्यवहार करना उचित है। किन्तु इजहार को अन्य भाषा का शब्द मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम दुश्मन शब्द को अपने लिखने बोलने के व्यवहार में लाना चाहें तो उसे दुःशमन संस्कृत शब्द का अपभ्रंश मानकर व्यवहार करना अच्छा है क्योंकि दुःख के साथ उस शत्रु का शमन किया जा सकता है। यदि हम निजात शब्द को अपने व्यवहार में लावें तो उसको नजात का अपभ्रंश मान लेना चाहिये क्योंकि निजात नाम मुक्ति का है। न जायते नोत्पद्यते प्राणी य थामवस्थायांसा नजाता। जिस दशा में फिर जन्ममरण नहीं होता वही अवस्था नजात शब्दवाच्य मुक्ति जानो।

यदि हम आसमान शब्द को अपने व्यवहार में लावें तो आसमान शब्द का अपभ्रंश मानें। आसमन्तात्समानानमेवरूपं यदस्ति सर्वत्र विद्यते न च घटादिषु विकृतं भवति तदासमानम्। जो सब घटादि पदार्थों में एक ही रूप रहता, जिसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता वह आसमान नाम आकाशका है उसी का अपभ्रंश आसमान होगया जानो। बन्ध धातु से उर प्रत्यय करने पर बन्धुर शब्द बनेगा। जिस समुद्र तट पर जहाज बांधे जावें वह स्थान बन्धुर हुआ उसी का अपभ्रंश बन्दर शब्द को मान लेना चाहिये। अथवा स्तुति अर्थवाले वदिधातु से औणादिक अर प्रत्यय

करने पर प्रशस्त कार्य साधक स्थान का नाम बन्दर हो सकता है।

हमने जो उदाहरणार्थ शब्दों के संस्कृत-रूप यहां दिखाये हैं उससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उन उन अंग्रेज़ी फ़ारसीके शब्दोंके स्थान में हमारे लिखे ही शब्द मान लिये जावें किन्तु कोई महाशय इससे भी अच्छे अन्वर्थ संस्कृत-शब्दों का अन्वेषण उन उन विदेशी शब्दों के स्थान में करें यह हो सकता है पर उसकी रीति यही होगी। आज हम इस बिचार को यहीं समाप्त करते हैं।

---

तो आरम्भ से ही आनन्दमय जीवन बिताने के पक्ष में रहे थे। ग्रन्थ के बाद ग्रन्थ घोंटना, तथा दुनिया से सम्बन्ध तोड़ कर, अकेले बैठे बैठे विद्वत्ता के नशे की झोंक में बड़ी बड़ी भीम-काय पुस्तकें लिखने में सारी जवानी गँवा देना तथा शुष्क जीवन बिताना प्रतापनारायणजी की समझ में नहीं आता था।

वे स्वयं 'प्रेम-धर्म' के अनुयायी थे। वह उन्हें सदैव मस्त रहने तथा चैन से जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाया करता था।

एक बार की बात है कि कानपुर में पंडित दीनदयालु जी शर्मा 'व्याख्यान-वाचस्पति' के आदेशानुसार सभा की गई और एक सनातन-धर्म-सभा की स्थापना की योजना हुई। कई लोगों के व्याख्यान हो चुकने के बाद पं० प्रतापनारायण जी की बारी आई। उन दिनों में वे सनातन-धर्मी बन गये थे। ख़ैर, भँड़ैती में प्रवीण तो थे ही, वे जान बूझ कर घर से अपने रूमाल को इलायची के तेल से भिगो लाये थे। जब खड़े होकर हिन्दू-धर्म की पतित अवस्था पर करुणाजनक वक्तृता देना आरम्भ किया, तब आँखों में आँसू लाने के लिए उन्होंने वही इलायची के तेल से भीगा रूमाल लगा लिया। फिर क्या था, आँखें बाहर से तो ढबढबा आईं, श्रोताओं ने आँसुओं की उत्पत्ति का रहस्य न जानकर स्वयं सचमुच में रोना शुरू कर दिया।

वे एक प्रेमी जीव थे, और प्रेमी लोग समदर्शी होते ही हैं।

अपने समकालीन हिन्दी-लेखकों में शायद मिश्र जी भारतेन्दु से ही इस बात में टक्कर लेते हैं। उनको तो वे अपना गुरु, मित्र, उपास्यदेव सभी कुछ मानते थे। पं० प्रतापनारायण जी का जीवन एक प्रकार से हरिश्चन्द्र-मय था। भारतेन्दु की जातीयता, उनकी सहृदयता, मनमौजीपन उनसे सीख कर उन्होंने अपना शिष्यत्व खूब निबाहा था। एक बार एक महाशय ने वीर-पूजा भावों से प्रेरित होकर पंडित प्रताप-नारायण जी को बड़ा स्नेहमय पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने 'ब्राह्मण' में हमारा 'उत्साह-वर्द्धक' शीर्षक एक मज़ेदार छोटा सा लेख लिखा था। वे कहते हैं कि, "यदि लोग हमको भूल जायँगे तो यहाँ की धरती अवश्य कहेगी कि हममें कभी कोई ख़ास हमारा था। आज जहाँ हमको यह सोच है कि हाय! कानपुर के हम कौन हैं? वहां इस बात का हर्ष भी है कि बाहर वालों की दृष्टि से हम निरे ऐसे वैसे नहीं हैं। बाजे बाजे लोग हमें श्रीहरिश्चन्द्र का स्मारक समझते हैं? बाजों का ख़याल है कि उनके बाद उनका सा रंग ढंग इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमण्ड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था, उसी का एक प्याला हमें भी दिया गया है"............

वे उस श्रेणी के लोगों में से नहीं थे जो 'जल में रहैं मगर से बैर' वाले मसले को चरितार्थ करते हैं अर्थात् संसार में रह कर समाज से ३६ बन कर रहते हैं। प्रत्युत पं० प्रतापनारायण

जी का जीवन एक प्रकार से निरा सार्वजनिक था क्योंकि उनका अधिकांश समय सभी प्रकार के शहरवालों-भले-बुरे, शरीफ़-गुंडों की संगति में व्यतीत होता था। जो एक दिन वे गोरक्षिणी सभा में करुणाजनक व्याख्यान देते थे, तो दूसरे दिन ही उसी मुँह से फक्कड़पने की बातें उच्चारण करते देखे जाते थे।

जिस समय पंडित प्रतापनारायण स्फुरित हुए थे उस समय हिन्दी-साहित्य में एक अभूतपूर्व ज्योति फैली थी। उस समय अनेक सुलेखकों का जन्म हुआ, जिनके द्वारा नाटक, निबन्ध, काव्य आदि भिन्न भिन्न साहित्यिक अंगों की वृद्धि हुई। एक बात उल्लेख्य है कि उस समय के प्रत्येक धुरन्धर साहित्य-सेवी ने अपने अपने निश्चित क्षेत्र में कार्य करने के लिए एक न एक पत्रिका निकाली और उसके द्वारा जनता तक अपने सिद्धान्तों की धूम मचाई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कवि-वचन-सुधा', बदरीनारायण की 'आनन्द-कादम्बिनी', बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी-प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' तथा श्री द्विवेदी जी की 'सरस्वती' का प्रकाशन इसी युग में हुआ। इन सभी पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी की अच्छी खासी चर्चा हुई।

पंडित प्रतापनारायण ने केवल साहित्यिक चर्चा को उत्ते-जित करने ही के उद्देश्य से 'ब्राह्मण' का उद्घाटन किया था। किन्तु उसके द्वारा जन-समुदाय में देश-भक्ति के भावों को

उत्पन्न करना तथा सामाजिक सुधार की ओर उनकी प्रवृत्ति करना भी उनका उद्देश्य था। तभी तो 'ब्राह्मण' के पन्ने गोरक्षा, स्वदेशीवस्तु-प्रचार, कान्यकुब्ज-कुरीति-निवारण आदि विषयक लेखों से भरे पड़े हैं।

परन्तु यह होते हुए भी 'ब्राह्मण' ने साहित्यिक सेवा सब से अधिक की है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पंडित प्रताप-नारायण और 'ब्राह्मण' का स्थान हिन्दी-गद्य के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण रहेगा।

'ब्राह्मण' का मुख्य ध्येय हिन्दी की ओर रुचि उत्पन्न करना था। १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब हरिश्चन्द्र आदि के उद्योगसे साहित्यिक पुनरुज्जीवन का आविर्भाव हुआ, उस समय की हिन्दी-जनता की मानसिक क्षमता अधिक पुष्ट न हो पाई थी। केवल राजनैतिक आन्दोलन के झोंके में मातृ-भाषा की ओर प्रेम के भाव प्रकट होने लगे थे। तुलना-त्मक समालोचना, शोध आदिक उच्च अध्ययन के उपकरणों का निर्माण तब तक हिन्दी में बहुत कम हुआ था। अस्तु, सबसे प्रथम यह विचार प्रत्येक साहित्यिक सेवी के चित्त में उन्नत रहा होगा कि इसके पूर्व कि साधारण प्रकार के साक्षर लोगों में विदग्ध साहित्य की ओर रुचि पैदा की जाय, इस बात की परम आवश्यकता थी कि उन्हें उसकी ओर प्रेरित करने के लिए एक सुगम साहित्य बनाया जाय। इस तरह के सुगम साहित्य बनाने का तथा उसके प्रचार करने

का श्रेय पंडित प्रतापनारायण को है। उनके बाद पंडित बालकृष्ण भट्ट का नाम आता है।

इस दिशामें काम करनेकी नियत से मिश्रजी अपने 'ब्राह्मण' के प्रत्येक अंक में 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'भौं', 'जवानी की सैर', 'वृद्धि', 'तिल', 'भलमंसी' आदि सुबोध विषयों पर सरल तथा हास्यपूर्ण भाषा में निबन्ध लिखते रहते थे, जिन्हें मामूली शिक्षा पाये हुए लोग भी समझ सकते थे, तथा आनंद ले सकते थे।

इस ढंग के हल्के लेखों में 'किस पर्व में किसकी बनि आती है' शीर्षक लेख बड़ा रोचक है। उदाहरण के लिए उसका कुछ अंश दिया जाता है :—

"पित्र-पक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते कुढ़ते सूख जाते होंगे कि हाय! हम सभा करते लेकचर देते मरते हैं पर पोप जी देश भर का धन खाये जाते हैं।"

"तथा माघ के महीने का, महीना कनौजियों का काल है पानी छूते हाथ, पाँव गलते हैं पर हमें बिना स्नान किये फल फलहरी खाना भी धर्मनाशक है!!" पर जिस 'ब्राह्मण' में इस प्रकार की हँसी के लतीफ़े रहते थे, उसमें गम्भीर लेख तथा कवितायें भी रहती थीं। अभी कह चुके हैं कि 'ब्राह्मण' का उद्देश्य प्रधानतः नैतिक था। इस बात की पुष्टि में हम मिश्र जी के 'हमारी आवश्यकता', 'नारी', 'देव-मंदिरों के प्रति हमारा

कर्तव्य' 'खुशामद' आदि लेखों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं ।

'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में वे साफ़ साफ़ शब्दों में 'ब्राह्मण' के नैतिक उद्देश्य का उल्लेख यों करते हैं :—

"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये यद्यपि उनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वागजाल में फँसी हुई ढूँढ़ निकालने योग्य । अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिये प्रयोजनीय हैं, तथा हास्यपूर्ण न हो के सीधी सीधी भाषा में हों । हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें निरस समझ के छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें वरंच उनके लिए तन से धन से कुछ न हो सके तो बचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहा करें ।"

अतः मनोरंजन-पूर्ण शिक्षा देना ही 'ब्राह्मण' का काम रहा था ।

'ब्राह्मण' की साहित्यिक सेवा के विषय में पं० प्रताप-नारायण जी ने उसके अन्तिम अंक में 'अन्तिम भाषण' शीर्षक लेख में पाठकों से बिदाई लेते समय कहा है :—

"यह पत्र अच्छा था अथवा बुरा, अपने कर्तव्यपालन में योग्य था वा अयोग्य यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है । पर, हाँ इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दी-पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी ।"

पंडित प्रतापनारायण ने कई तरह से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि की है। परन्तु गद्य के लिए उन्होंने जो कुछ किया है वह सचमुच युगपरिवर्तनकारी है।

हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप-नारायण के पहले हिन्दी में वास्तविक गद्य था ही नहीं। जो था भी वह भट्ट जी के शब्दों में 'कस और पोच था'।

राजा शिवप्रसाद ने अपने गद्य की मिश्रित भाषा द्वारा हिन्दी-उर्दू के बीच में अच्छा 'पुल' बाँधा था। एक प्रकार से उन्होंने हिन्दी-गद्य को क्लिष्टता तथा दुरूहता के गर्त में गिरने से बचाया था और यथासम्भव उसमें रोचकता का समावेश करके उसको अपने पैरों खड़ा किया।

प्रतापनारायण तथा बालकृष्ण भट्ट दोनों ने फ़ारसीपन को गद्य में उस परिमाण में रखना उचित न समझा जितना कि राजा साहब जोश में आकर रख गये थे। इसके बदले प्रताप-नारायण ने ग्रामीणता, हास्य तथा व्यंग का ख़ूब समावेश किया। उन तीनों गुणों के रासायनिक संयोग से एक प्रौढ़, सुबोध, रोचक तथा सजीव शैली की सृष्टि हुई। यह सर्वमान्य मत है कि किसी भाषा के गद्य को लचीला तथा उत्कृष्ट बनाने के लिए उसमें हास्य और व्यंग इन दोनों उपादानों की आवश्य-कता होती है। इनके बिना गद्य निरा शुष्क और परिमिति-प्रयोग रहता है।

साथ ही साथ ग्रामीणता अथवा घरेलूपन का सम्मिश्रण

करके प्रतापनारायण ने हिन्दी-गद्य में एक खास तरह की सजीवता सदा के लिए डाल दी। इस गुण का संचार उन्होंने ग्रामीण लोकोक्तियों तथा स्थिरोपयुक्त पद्य-पंक्तियों के बहुप्रयोग द्वारा किया है। उनके किसी भी पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हिन्दी-लेखक की भाषा में इस प्रकार का घरेलूपन नहीं मिलता। केवल सैयद इंशा की शैली उनकी शैली से मिलती जुलती है। हम इसी विचार से तथा हास्यपूर्णता के कारण प्रतापनारायण मिश्र का वर्गीकरण इंशा के साथ करते हैं। दोनों की तुलना करने पर ज्ञात हो जावेगा कि दोनों की भाषा में समान रूप से विचित्रता, हास्य तथा घनिष्टता पाई जाती है। इंशा के सम्बन्ध में अभी कहा जा चुका है कि उनके एक पृष्ट भी पढ़ने वाले को तुरन्त यह जिज्ञासा होती है कि लेखक के विषय में जितना अधिक ज्ञान हो उतना ही अच्छा तथा उससे मन मिल जाता है। यही बात पंडित प्रतापनारायण के गद्य के विषय में भी घटित होती है। पंडित जी की भाषा में तथा उनके विचारों में एक प्रकार का अवर्ण-नीय रस है, एक प्रकार की घनिष्टता है, जिससे प्रत्येक सहृदय वाचक को उनके साथ वार्तालाप करने का सा आनन्द आता है।

अभी कहा जा चुका है कि उनके गद्य में विचित्रता सी है। इसका पता उनके लेखों के शीर्षकों से ही लग जाता है। 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'मरे का मारैं

शाहमदार', 'भौं', 'इसे रोना समझो चाहे गाना' आदि लेख इसके प्रमाण हैं। उनकी भाषा में भी विचित्रता होती थी। इसके मूल कारण उनके हास्य तथा व्यंग हैं। 'दशहरा और मुहर्रम' शीर्षक लेख का एक अवतरण इस वैचित्र्य का अच्छा उदाहरण होगा।

"यह तो समझिए यह देश कौन है ? वही न ? जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से खाली नहीं है, जहाँ धर्मग्रन्थ में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृंगार-रस में भी भ्रू-चाप और कटाक्ष-बाण, तेगी-अदा व कमाने-अब्र का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानों सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान से कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भाँति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है पर क्या कीजिये, अवसर न मिलने ही से 'बाँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गये तोंदिआय'।"

इस प्रकार विचित्र शीर्षकों को लेकर पंडित प्रतापनारायण ऐसी चलती-फिरती भाषा में लेख लिखते थे तथा बीच बीच में प्रसंगोपयुक्त न जाने कहाँ से ऐसी बातें ले आते थे जिनका ख़याल साधारण पाठक को कभी न हो सकता था। आश्चर्य और मनोविनोद ये दो अनुभव वाचकों को प्रतापनारायण के गद्य-लेखों को पढ़ने से प्राप्त होते हैं।

पर यह सब मानते हुए कि पंडित प्रतापनारायण हिन्दी-

गद्य के धुरन्धर उन्नायकों में से हैं, हम उन्हें एक असावधान लेखक कहेंगे। पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तथा बालकृष्ण भट्ट इन दोनों के लेखों से कहीं भी एक पृष्ठ लीजिए और उसको मिश्र जी के किसी लेख के सामने रखिए तो ज्ञात हो जावेगा कि वह एक 'असावधान लेखक' थे।

प्रतापनारायण के गद्य में विरामादि के चिन्हों का प्रायः अभाव है। उनके सब वाक्य एक दूसरे से गुम्फित रहते हैं और पढ़ते समय बड़ी एकाग्रता तथा सावधानी की आवश्यकता होती है। इस बात में वे राजा शिवप्रसाद से मिलते जुलते हैं।

प्रतापनारायण की 'स्पेलिंग' भी अक्सर चिन्त्य होती है। जैसे 'रिषि', 'रिचा' आदि। उनकी सन्धियाँ कहीं कहीं व्याकरण की रीति से अनुचित होती हैं; जैसे 'जात्याभिमान' आदि।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि पंडित प्रतापनारायण मननशील लेखकों में नहीं गिने जा सकते; 'उपरोक्त', 'राजनीतक', 'जात्याभिमान', 'सम्वत्' आदि जो वैयाकरणिक अनौचित्य बड़े से बड़े हिन्दी-लेखकों के हाथ से अज्ञानवश अभी तक कभी कभी निकल जाते हैं उनसे मिश्र जी भी न बचे थे। उन्होंने हिन्दी-गद्य को सजीव बनाकर छोड़ दिया; उसे भाषा तथा व्याकरण के विचार से परिष्कृत बनाने का प्रयत्न

मिश्र जी ने न किया। यह काम श्री द्विवेदी जी के कन्धों पर आ पड़ा।

हिन्दी-गद्य के प्रति प्रतापनारायण ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलित होते ही गद्य-विकास को एकदम बड़ी सहायता मिली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से बड़े बड़े लेखकों का जन्म हुआ, उनमें से लगभग प्रत्येक ने अपनी लेखन-कला को पल्लवित करने के उद्देश्य से तथा जनता में हिन्दी का प्रचार करने के लिए अपनी अपनी पत्र-पत्रिकायें निकालनी शुरू कीं।

इन पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग की पुष्टि हुई अर्थात् हिन्दी में उस प्रकार के साहित्यिक निबन्धों के लिखने की परिपाटी चल पड़ी जिस प्रकार के निबन्ध अँग्रेज़ी में ऐडीसन ( Addison ), स्टील ( Steele ) तथा बाद को लैम्ब ( Lamb ) आदि ने लिखे हैं।

इन निबन्धों के लिखने का श्रीगणेश प्रथम पंडित प्रताप-नारायण तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट ने ही किया। इन दोनों के निबन्ध भिन्न भिन्न प्रकार के होते थे। प्रतापनारायण के लेख अधिकांश में हल्के विषयों पर होते थे। सांसारिक जीवन के गाम्भीर्य को सह्य तथा आनन्दमय बनाने के लिए ही उन्होंने आजन्म परिश्रम किया था। एवं, अपने लेखों में भी उनका यही ध्येय रहता था कि उनको पढ़कर लोगों का मनोरंजन

हो। साथ ही साथ उनके निबन्धों में अदृश्यरूप से हास्य-विनोद के साथ साथ नैतिक शिक्षा भी रहती थी।

प्रतापनारायण सदैव मखौलपन ही न करते थे। उनके बहुत से निबन्ध जैसे 'शिवमूर्ति', 'काल', 'स्वार्थ', 'सोने का डंडा और पौंड़ा', 'हरि जैसे को तैसे हैं', आदि काफ़ी गम्भीर विषयों पर लिखे गये हैं।

इन दोनों प्रकार के निबन्धों में दो बातें उल्लेख्य हैं। एक तो वे सदैव लिखते समय जन-साधारण का वेष धारण कर लेते थे। काफ़ी विद्वान होकर भी उस समय वे विद्वत्ता-प्रदर्शन करना गर्ह्य समझते थे। दूसरी बात यह है कि उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की छाप है। तभी तो उनके लेखों का प्रभाव पढ़नेवालों पर बहुत गहरा पड़ता है। यही बात पंडित बाल-कृष्ण के निबन्धों में भी है। पर उनके अधिकतर लेखों में प्रतापनारायण की सी घनिष्टता नहीं है। उनमें पांडित्य-प्रदर्शन करने की भी प्रवृत्ति है। द्विवेदी जी के लेख भी इसी प्रकार के होते हैं। इन तीनों लेखकों की गद्य-शैली की विवेचना करते समय भी यही कहना पड़ता है कि पंडित प्रतापनारायण मिश्र का गद्य असंस्कृत तथा घरेलू है और द्विवेदी जी तथा भट्ट जी का गद्य परिष्कृत तथा साफ़-सुथरा है।

---

( १ )

# घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं

घर की मेहरिया कहा नहीं मानती, चले हैं दुनिया भर को उपदेश देने, घर में एक गाय नहीं बाँधी बँध जाती गोरक्षणी सभा स्थापित करेंगे, तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है बने हैं देशहितैषी, साढ़े तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नहीं कर सकते देशोन्नति पर मरे जाते हैं कहां तक कहिये हमारे नौसिखिया भाइयों को 'माली-खूलिया' का अजार हो गया करते धरते कुछ भी नहीं हैं बक बक बाँधे हैं। जब से शिक्षा कमीशन ने हिन्दी को हंट ( शिकार ) किया तब से एडीटर महात्मा और सभाओं के मेम्बरों के दिमाग़ों में फ़ितूर पड़ गया है जिसे देखो सर्कार ही पर खार खा रहा है न जाने सर्कार का यह क्या बनाये लेते हैं, अरे भाई पहले तो अपना घर तो बांधो लाला मसजिद पिरशाद सिड़ीवासितम को समझाओ कि तुम्हारे बुज़ुर्गों की बोली उरदू नहीं है लाला लखमीदास मारवाड़ी से कहो कि तुम हिन्दू हो लाला नीचीमल खन्ना से पूछो तुम लोग संकल्प पढ़ते समय अपने को वर्मा कहते हो कि शेख ? पं० युसुफ़नरायण कश्मीरी से दरयाफ़्त करो कि तुम्हारे दशों संस्कार (मुण्डनादिक) वेद की रिचाओं से हुए थे कि हाफ़िज़ के दीवान से ?' इसके पीछे सर्कार हिन्दी के दफ़्तर न करदे तो 'ब्राह्मण' के एडीटर को होली का गुण्डा बनाना। क्या सर्कार जानती नहीं है कि हिन्दुस्तान की बोली हिन्दी ही है क्या सर्कार से छिपा है कि यहां हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान दशमांश से भी कम हैं क्या शिक्षाकमीशन वाले अँगरेज़ जो

दुनियां को चरे बैठे हैं वे न समझते थे कि हिन्दी से प्रजा का बड़ा उपकार होगा पर हां जहान्दी हज़रत तो बुरा कौन बने ? फूट के लतिहल आलस्य के आदी ख़ुशामद के पुतले हिन्दू नाराज़ ही होकर क्या कर लेंगे बहुत होगा एक बार रोके बैठ रहेंगे बस उरदू बीबी को कौन मुआ उठा सकता है ? कुछ दिन हुए सर्कार ने हर जिले के हाकिमों से पूंछा था कि हिन्दी के प्रेमी अधिक हैं कि उर्दू के आशिक़ जियादा हैं पर हमारे यहां के कई एक धरम मूरत धरमा औतार कमिश्नरों ने कहा "म्हा तो जाणों कोयना हिन्दी कैसी और उरदू कोण ? जैसी हजूर की मरजी होय लिख भेजो" सच भी है सातो विद्यानिधान, कालाकुत्ता कलकत्ता समझने वालों को शहर का बंदोबस्त मिला है और बिचारे क्या कहते ? भला ले इन्हीं लच्छनों से नागरी का प्रचार होगा ? यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने क़ाग़ज़ पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो जिन हिंदुओं के यहां मौलवी साहब बिसमिल्ला कराते हैं उनके यहां पंडितों से अक्षरारंभ कराये जाने का उपकार करो चाहे कोई हँसे कोई धमकावै जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उरदू की लुलू देने में सन्नद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़े ख़ुशामद करो दाँत निकालो पेट दिखाओ मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने परो किसी भांति हतोत्साह न हो हिम्मत न हारो जो मनसाराम कचियाने लगें तो यह मंत्र सुनादो

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्ननिहिताः विरमन्ति मध्याः
विघ्नै सहस्र गुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तम जनाः न परित्यजन्ति ।"

बस फिर देखना पाँच सात बरस में फ़ारसी छार सी उड़ जायगी ? नहीं तौ होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करेंगे "पीसैं का चुकरा गावैं का छीताहरन", "घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बांधैं"। हमारी भी कोई सुनैगा ? देखैं कौन माई का लाल पहिले सिर उठाता है।

[ 'ब्राह्मण' से ]

---

## ( २ )

## बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ़ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल बात का वर्णन करते किन्तु इन दोनों विषयों में हमें एक बात कहने का भी प्रयोजन नहीं है हमतो केवल उसी बात के ऊपर दो चार बात लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे सम्भाषण के समय मुख से निकल निकल के पर हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है सच पूछिये तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि अशर-फ़ुलमखलूकात-कहलाती है शुकसारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उचरित कर सकते हैं इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आद्रित समझे जाते हैं फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है हाँ बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैं तौ भी इसका सम्बन्ध उसके साथ लगाये रहते हैं वेद ईश्वर का वचन है क़ुरान-

शरीफ़ कलामुल्लाह है होली बाइबिल वर्ड आफ़ गाड है यह वचन कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं जो प्रत्यक्ष में मुख के बिना स्थित नहीं कर सकती पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलम्बियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली बात मान रक्खी है यदि कोई न माने तो लाखों बातें बना के मानने पर कटिबद्ध रहते हैं यहाँ तक कि प्रेमसिद्धान्ती लोग निरवयव नाम से मुंह बिचकावेंगे "अपाणिपादो जवनो गृहीता" पर हठ करने वाले को यह कहके बातों में उड़ावेंगे कि "हम लंगड़े लूले हमारा प्यारा तो कोटि काम सुन्दर श्याम वर्ण विशिष्ट है" निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिगराम शिला है जो उसकी श्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास का आरम्भ करने वाले को आंखे मूंदने पर जो कुछ पहले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिल्कुल काला रंग है सिद्धान्त यह कि रंग रूप रहित को सब रंग रंगिन एवं अनेक रूपसहित ठहरावेंगे किन्तु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेमरस से सिंचित करने वाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मज़े से अपने को वंचित न करने देंगे ! जब परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही ? हम लोगों के तो 'गात मांहि बात करामात है' नाना शास्त्र पुराण इतिहास काव्य कोश इत्यादि सब बात ही के फैलाव हैं जिनके मध्य एक एक बात ऐसी पाई जाती है जो मन बुद्धि चित्त को अपूर्व दशा में लेजाने वाली अथच लोक परलोक में सब बात बनाने वाली है यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसा है पर बुद्धि दौड़ाइये तो ईश्वर की भांति इसके भी अगणित ही रूप पाइयेगा बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात,

सुहानी बात, लगती बात इत्यादि सब बात ही तो हैं ? बात के काम भी इसी भांति अनेक देखने में आते हैं प्रीति, बैर, सुख, दुःख, श्रद्धा, घृणा, उत्साह, अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही यहीं घर बैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत बात ही बतला सकता है डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहां की जो बात हो जान सकते हैं इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं, "बातहि हाथी पाइये बातहि हाथी पाँव" बात ही से पराये अपने और अपने पराये हो जाते हैं मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्पव्ययी कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय शान्ति शोक कुमार्गी सुपथगामी अथच सुपंथी कुराही इत्यादि बन जाते हैं बात का तत्व समझना हर एक का काम नहीं है और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना ऐसों वैसों का साथ नहीं है बड़े बड़े विज्ञवरों तथा महा महा कवीश्वरों के जीवन बात ही के समझने और समझाने में व्यतीत हो जाते हैं सहृदयगण की बात के आनन्द के आगे सारा संसार तुच्छ जचता है बालकों की तोतली बातें, मंदिरियों की मीठी मीठी प्यारी प्यारी बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं की प्रभावशालिनी बातें, जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण खण्ड कहना चाहिये क्योंकि कुत्ते बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के तूतू पूसी पूसी इत्यादि बातें कह दो तो

भावार्थ समझ के यथा सामर्थ्य स्नेह प्रदर्शन करने लगते हैं फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान की बात का असर न हो बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं हाथी के दाँत की भांति उनके मुख के एक बार कोई बात निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती हमारे परमपूजनीय आर्य्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते हैं कि 'तन तिन तनय धाम धन धरनी, सत्य संध कहँ तृन सम बरनी' अथच 'प्रानन ते सुत अधिक है सुत ते अधिक परान, ते दूनों दशरथ तजे वचन न दीन्हों जान' इत्यादि उनकी अक्षर समबद्धा कीर्ति सदा संसार पट्टिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी पर आजकल के बहुतेरे भारत कुपुत्रों ने यह ढंग पकड़ रक्खा है 'मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता है' आज और बातें हैं कल ही स्वार्थां-धता के वश हुजूरों की मरजी के मुवाफ़िक दूसरी बातें हो जाने में तनिक सी विलंब की सम्भावना नहीं है यद्यपि कभी कभी अवसर पड़ने पर बात के कुछ अंश का रंग ढंग परिवर्तित कर लेना नीति विरुद्ध नहीं है पर कब ? जात्योपकार देशोद्धार आर्यकुलरत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है किन्तु हिन्दोस्तानियों के नाम पर कलंक लगाने को भी सहभागी बनने में घिन लगती है इससे यह रीति अंगीकार कर रक्खी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहै चाहे यह समझे कि बात कहने का भी शऊर नहीं है किन्तु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिये जिनमें कोई न कोई किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे पर खेद है कि हमारी बातें सुनने वाले उंगलियों ही पर गिनने भर को हैं इससे बात बात में बात निकालने का उत्साह नहीं होता अपने जी को

क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को बात का बतबढ़ समझ के बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है।

---

# मुहम्मदहुसेन आज़ाद

—:o:—

'आज़ाद' साहब का गद्य उस समय की याद दिलाता है जब हिन्दी और उर्दू की भाषा में बहुत कम विभिन्नता थी; या यों कहिए कि जिस समय व्रजभाषा और खड़ी बोली के शब्दों को ले लेकर उर्दू अपना अस्तित्व स्थिर कर रही थी। मलिक अम्मन तथा सैयद इंशा आदि तत्कालीन लेखकों की भाषा की तुलना किसी भी अर्थ में आजकल की फ़ारसी मिली हुई उर्दू से करना असम्भव है। सच तो यह है कि शुरू शुरू में मुसलमान लेखकों के मन में यह विचार कभी भी न आया होगा कि आगे चल कर उर्दू नाम की एक अलग भाषा बन जावेगी जो फ़ारसी, अरबी के शब्दों से भरी होगी। जिसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा उत्कृष्ट उर्दू कहते हैं उसकी नींव बाद को कई कारणों से पड़ी। लखनऊ के कवियों तथा अन्य लेखकों ने विशेष कर इंशा की सरल उर्दू को जटिल बनाने में बड़ा योग दिया।

१९वीं शताब्दी के मध्यभाग तक हिन्दी भी उर्दू से मिलने की कोशिश करती रही। अदालती भाषा होने के कारण तथा चिरकाल से बादशाहों तथा नवाबों के दरबारों में सम्मानित होती रहने के कारण उर्दू को हिन्दी के मुक़ाबले में अधिक

गौरव-पूर्ण स्थान मिलता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उर्दू ने काफ़ी दिनों तक हिन्दी को अपनी अनुचरी बना कर रखा और साथ ही साथ अपने और उसके बीच का भेद बढ़ाने के लिए फ़ारसी अरबी तक अपनी जड़ें फैलाईं और क्लिष्टता का आवरण अपने ऊपर डाल लिया।

प्रोफ़ेसर आज़ाद देहली के रहने वाले थे, और इसी लिए उन पर ब्रजभाषा की मधुरता ने अच्छा प्रभाव डाला। देहली-वालों ने वैसे भी उर्दू की सुबोधता की वृद्धि में बड़ा स्तुत्य कार्य किया है, और वे लखनऊवाले लेखकों की दुरूहता का नियमन करते रहे हैं। आज़ाद साहब तो इस बात को मानते थे कि उर्दू ब्रजभाषा की सहायता से ही अपनी ऊर्जितावस्था को पहुँच पाई। इसी से सम्भवतः वे ऐसी भाषा लिखते थे जिसमें ब्रजभाषा की कोमल पदावली का अच्छा समावेश रहता था।

कहा जा सकता है कि आज़ाद के गद्य का शाब्दिक चयन ही ब्रजभाषा से मिलता जुलता नहीं होता, वरन् उसमें जो भावों की सुकुमारता है वह भी उसी की प्रतिच्छाया सी है। मतलब यह है कि चंचलता अथवा चुलबुलापन जो प्राचीन उर्दू में विशेष रूप से रहा करता था और जिसकी पूरी मात्रा सैयद इंशा की भाषा में मिलती है, वह आज़ाद के गद्य में बहुत कम है। उसमें उस चांचल्य के स्थान में एक प्रकार का शान्तिमय मार्दव रहता है। इसके अतिरिक्त आज़ाद के गद्य

में इंशा के चटपटेपन की जगह ब्रजभाषा की मिठास भी है।

आगे उनके 'आबे हयात' से 'भाषा के बाग़ की बहार' शीर्षक जो उद्धरण दिया गया है, उसकी भाषा को शुरू से आख़िर तक देख जाइए, केवल आठ-दस ठेठ उर्दू के शब्दों के अतिरिक्त कोई भी ऐसी ख़ास बात न मिलेगी जिससे उस अवतरण को हम उर्दू में शामिल कर सकें।

हिन्दी-गद्य-संग्रह में आज़ाद के लेखों से वह अवतरण देने का केवल यही अभिप्राय रहा है कि उसमें जैसी सुबोध भाषा है वह इस बात का पक्का प्रमाण है कि उर्दू और हिन्दी वास्तव में इतनी भिन्न भिन्न भाषायें नहीं हैं जितनी कि वे आजकल दोनों ओर के दुराग्रही परिपोषकों के द्वारा बना दी गई हैं। आगे चल कर हिन्दी वालों ने संस्कृत की और उर्दू वालों ने अरबी-फ़ारसी की भरमार करके दोनों भाषाओं को एक दूसरे से विलग कर दिया।

आज़ाद ने 'भाषा के बाग़ की बहार' को दर्शाने में फूलों फलों, झरनों तथा श्मशान के वर्णन करते हुए जिन शब्दों का व्यवहार किया है वे अधिकतर समीचीन हिन्दी-गद्य में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी उर्दू में लिखी हुई भाषा पर हिन्दीपन का गहरा रंग चढ़ा दिया है, जिसके कारण उसे हिन्दीवाले भी सगर्व अपना कर उत्कृष्ट गद्य-साहित्य से परिगणित कर सकते हैं।

---

# भाषा के बाग़ की बहार

भाषा का इंशापरदाज़ बरसात में अपना बाग़ क्योंकर लगाता है। दरख़्तों के झुण्ड छाये हैं। घन के पत्ते, इनकी गहरी गहरी छाँव है। जामुन की टहनियाँ आम के पत्तों में खिचड़ी होरही हैं। खिरनी की टहनियाँ फ़ालसे के दरख़्त में फैली हुई हैं। चाँदनी की बेल कमरख के दरख़्त पर लपटी जाती है, इश्क़पेचा करौंदा पर चढ़ा जाता है, इसकी टहनियाँ लटकती हैं जैसे साँप लहरा रहे हैं। फूलों के गुच्छे पड़े झूम रहे हैं, मेवेदाने ज़मीन को चूम रहे हैं। नीम के पत्तों की सब्ज़ी और फूलों की सफ़ेदी बहार पर है आम के मौर में इससे फूलों की महक आती है। भीनी भीनी बू जी को भाती है। जब दरख़्तों की टहनियाँ हिलती हैं, मौलसिरी के फूलों का मेह बरसता है, फल फलारी की बौछाड़ होजाती है। धीमी धीमी हवा उनकी बू बास में लसी हुई रविशों पर चलती है। टहनियाँ ऐसी हिलती हैं जैसे कोई जोबन की मतवाली अठखेलियाँ करती चली जाती है। किसी टहनी में भौंरे की आवाज़, किसी में मक्खियों की भनभनाहट अलग ही समा बाँध रही है। परिन्द दरख़्तों पर बोल रहे हैं और कलोल कर रहे हैं। हौज़ में चादर इस ज़ोर से गिरती है कि कान पड़ी आवाज़ नहीं सुनाई देती। इससे छोटी छोटी नालियों में पानी लहराता जाता है तो अजब बहार देता है। दरख़्तों से जानवर उतरते हैं, आपस में लड़ते जाते हैं, परों को फर्राते हैं और उड़ जाते हैं। चरिन्द ज़मीन पर चौकड़ियाँ भरते फिरते हैं। एक तरफ़ से कोयल की कूक एक तरफ़ से कोयल की आवाज़। इसी जमघट में आशिक़ मुसीबतज़दा भी कहीं अकेला

बैठा जी बहला रहा है और अपनी जुदाई के दुख को मज़े ले लेकर उठाता है।

बरसात का समाँ बाँधते हैं तो कहते हैं:—सामने से काली घटा झूम कर उठी, अब्र धुवाँधार है। बिजली कूँदती चली आती है। स्याही में सारस और बगुलों की सफ़ेद सफ़ेद क़तारें बहारें दिखा रही हैं। जब बादल कड़कता है और बिजली चमकती है तो परिन्दे कभी दबक कर टहनियों में छुप जाते हैं कभी दीवारों से लग जाते हैं। मोर जुदा झनकारते हैं। पपीहे अलग पुकारते हैं, मुहब्बत का मतवाला चमेली की झुरमुट में आता है तो ठंडी ठंडी हवा लहक कर फुआर भी पड़ने लगी है, मस्त होकर वहीं बैठ जाता है और शेर पढ़ने लगता है।

जब एक शहर की ख़ूबी बयान करते हैं तो कहते हैं:—शाम होते एक मुकाम पर पहुँचा। देखता है कि पहाड़ियाँ हरी भरी हैं। इर्द गिर्द सरसब्ज़ मैदानों में बसे हुए गाँव आबाद हैं। पहाड़ के नीचे एक दरिया में निर्मल जल बह रहा है जैसे मोती की आब। बीचोबीच में शहर आबाद। जब इसके ऊँचे ऊँचे मकानों और बुर्जियों* का अक्स पड़ता है तो पानी में कलसियाँ जगमग जगमग करती हैं। और दूसरा शहर आबाद नज़र आता है। लबेदरिया के पेड़ बूटों और ज़मीन की सब्ज़ी को बरसात ने हरा किया है।

जब उदासी और परेशानी का आलम दिखाते हैं तो कहते हैं कि आधी रात इधर आधी रात उधर जंगल सुनसान, अँधेर बियाबान। मरघट

---

*गुम्बजों

में दूर दूर तक राख के ढेर, जले हुए लक्कड़ पड़े, कहीं कहीं चिता में आग चमकती है। भूतों पलीतों की डरावनी सूरतें और भयानक मूरतें हैं। कोई ताड़ सा क़द लाल लाल दीदे फाड़े लंबे लंबे दाँत निकाले गले में खोपड़ियों की माला डाले खड़ा हँस रहा है। कोई एक हाथी को बग़ल में मारे भागा जाता है, कोई एक काला नाग ककड़ी की तरह खड़ा चबा रहा है। पीछे गुल होता चला आता है कि 'लीजियो, लीजियो! मारियो, मारियो! जाने न पाये!' दम भर में यह भूत, परेत ग़ायब होते हैं, गुल, शोर थमता है। फिर मरघट का मैदान सुनसान है, पत्ते हवा से खड़कते हैं। हवा का सन्नाटा, पानी का शोर उल्लू की हूक, गीदड़ों का बोलना और कुत्तों का रोना, यह ऐसी वहशत है कि पहिले डर भी भूल जाता है। देखो यह दोनों बाग़ ( उर्दू और हिन्दी ) आमने सामने लगे हैं दोनों के रंग ढंग में क्या फ़रक़ है। भाषा का फ़सीह इस्तियारा* की तरफ़ भूल कर भी क़दम नहीं रखता। जो जो आँखों से देखता है और जिन ख़ुश आवाज़ियों को सुनता है या जिन खुशबूइयों को सूँघता है उन्हीं को अपनी मीठी ज़बान से बतकल्लुफ़ बमुबालग़ा साफ़ साफ़ कह देता है।

---

*उपमा

# गोपालराम 'गहमरी'

[ १८५६- ]

——:o:——

श्री श्यामसुन्दरदास जी ने 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' में गोपालराम जी की भाषा-सम्बन्धी यह उक्ति उद्धृत की है कि "भाषा ऐसी नहीं होनी चाहिए कि पढ़ने वालों को अभिधान उलटते उलटते पसीना आ जाय।" उनके मुँह से ऐसी बात बिलकुल स्वाभाविक सी जान पड़ती है। बात यह है कि उनके साहित्यिक जीवन का अधिकतर भाग उपन्यास-लेखन में ही व्यतीत हुआ है, और यह तो स्वयंसिद्ध है कि जो उपन्यास-लेखक दुरूह तथा क्लिष्ट भाषा लिखता है वह कभी सफल नहीं हो सकता है। उसे यदि अपने उपन्यासों का प्रचार जनसाधारण में करना है तो वह उन्हें ऐसी भाषा में लिखेगा कि जो सुबोध तथा रोचक हो। ख़ास कर जिस समय गहमरी जी के साहित्यिक कार्य का श्रीगणेश हुआ था, तब तो हिन्दी-पढ़ने-वालों की संख्या बहुत परिमित थी। उस समय साक्षर लोगों की रुचि गम्भीर साहित्य की ओर थी ही नहीं। यही कारण है कि किशोरीलाल जी गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, काशीनाथ खत्री तथा गोपालराम जी को लिख लिख कर उपन्यासों का ढेर लगाना पड़ा था।

इस प्राक्कथन के उपरान्त गोपालराम जी की गद्य-शैली का विश्लेषण करना है।

इस पुस्तक में हिन्दी-गद्य के जो दो स्थूल विभाग किये गये हैं, उनमें से गहमरी जी को 'विचित्र' गद्य-लेखकों की श्रेणी के अन्तर्गत रख सकते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके लेखों की भाषा का साहित्यिक महत्व अथवा उसकी रोचकता संस्कृत-प्राय शब्दावली के कारण नहीं है वरन् उसके स्वतन्त्र रूप के कारण है जो लेखक ने उसे प्रदान किया है। जैसा वे स्वयं कह चुके हैं, अपनी भाषा को सदैव वे प्रसादगुणसम्पन्न रखने का प्रयत्न करते हैं। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए संस्कृत को छोड़ कर उर्दू, ठेठ देहाती आदि जहाँ कहीं से उन्हें उपयुक्त शाब्दिक सामग्री मिल सकती है, वहीं से उसे ला कर वे जमा करते हैं। कभी कभी ऐसा करते हुए उनकी भाषा में सुबोधता के साथ ही साथ निरी ग्रामीणता आ जाती है। उदाहरण के लिए नीचे दिये हुए उनके 'ऋद्धि और सिद्धि' शीर्षक हास्य-व्यंग-पूर्ण लेख में 'बरहे', 'बुद्धि के बैल' आदि प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं।

परन्तु उनकी भाषा में सजीवता भी होती है। "अगर तुम अपने को कृती कहते हो तो अपना 'कैश बाक्स' दिखाओ।" यही इस सजीवता का अच्छा उदाहरण है।

'चपल चंचला' नामक उपन्यास में कई स्थलों पर गहमरी जी का वर्णन-चातुर्य भली प्रकार ज्ञात होता है। उन वर्णनों

से उनकी ओजपूर्ण गद्य-शैली का भी पता लगता है। केवल हास्यपूर्ण भाषा पर ही उनका अधिकार नहीं है, किन्तु पक्के उपन्यास-लेखक की भाँति गम्भीर से गम्भीर मनोवेगों को व्यक्त करने में भी वे पूरी तरह से समर्थ हैं।

---

## ऋद्धि और सिद्धि

अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग़ है। यदि यह हाथ में है, तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो तो वज्र मूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी० एल० की उपाधि देकर अपने तईं सभ्य समझेगा। तुम्हारी रचना में व्याकरण की चाहे जितनी अशुद्धियां होंगी, साहित्यिक लोग उसे इस समय का आर्ष-प्रयोग या आदर्श लेख कह कर मानेंगे। तुम अकल के रासभ या बुद्धि के बैल हो, तो भी अर्थ के महात्म्य से लोग तुमको विचक्षणबुद्धि-सम्पन्न या प्रतिभा का अवतार कह कर आदर करेंगे। लक्ष्मी की कृपा से तुम्हारे गौरव की सीमा नहीं रहेगी। तुम्हारे चारों ओर अनेक ग्रह, उपग्रह आ जुटेंगे, और तुमको केन्द्र बना कर एक नया "सौर-जगत्" रच डालेंगे। तथा तुम उनके बीच में मार्त्तण्डरूप होकर विराजोगे। विश्वविद्वेषी ख़ुशामदी तुमको घेरे हुए तुम्हारे सुर में सुर मिलावेंगे और जहाँ संयोग से तुमने जम्हाई ली कि चुटकियों का तार बाँध देंगे। तुम्हारे धूर्त आत्मीय स्वजन तुमको पग पग पर ठगा करेंगे। धोखेबाज़ तुम्हारे कृती पुत्र को उल्लू बना कर उससे अनेक हैण्डनोट कटाया करेंगे। तुम्हारे अविद्या-मन्दिर में बड़ी धूमधाम

से बन्दर का व्याह और भूतों के बाप का श्राद्ध होगा।

बरहे पर चलने वाला नट हाथ में बाँस लिये हुए बरहे पर दौड़ने के समय "हाय पैसा हाय पैसा" करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्यदृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर "हाय पैसा-हाय पैसा" करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है। अभी ज्योतिर्विद लोग इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके हैं। क्योंकि अर्थ का खिचाव ही विश्व-ब्रह्माण्ड का मध्याकर्षण है। उनको यह समझने में अभी देर है।

विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु ने साबित किया है कि धातुओं में प्राण है। बस उनकी बुद्धि-गवेषणा की दौड़ यहीं तक है। पर मेरी गवेषणा से यह पक्का सिद्धान्त हो चुका है कि ताँबा, सोना, चाँदी में केवल जीवनी शक्ति ही नहीं, उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जिसके बल से वे सब विश्व-ब्रह्माण्ड को चरखी पर नचा रहे हैं।

काल-महात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्यशाली भगवान् ने तो अब स्वर्ग से उतर कर दरिद्र के घर शरण लिया है। और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। इसी से अब सब के मुँह से अकेले अर्थ की ही अपार महिमा सुनी जाती है। अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है। इस ब्रह्मवस्तु के बिना विश्वसंसार का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैश-बाक्स (Cash Box) में प्रवेश करके संसार को चलाया करते हैं। यही ब्रह्म-पदार्थ व्यक्त और अव्यक्त रूप से सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण-स्वरूप है। जगत् का आधुनिक इतिहास सहस्रमुख होकर इसकी महिमा गाता है। साधकों के हित के लिये अर्थ-नीति शास्त्र में इसकी

उपासना की विधि लिखी गई है। जगत् के सब जीव और सब जातियां ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग द्वारा इस ब्रह्म-वस्तु की साधना करके सिद्धि लाभ करने की चेष्टा करती हैं।

यहां कुछ योगशास्त्र की बात आ पड़ी। बच्चों की पहली पोथी में लिखा है—"बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कह कर जोर से दूसरे का धन हड़प लेने से क्या कहलाता है। यह उसमें नहीं लिखा। मेरी राय में यही कर्मयोग का मार्ग है।

सुना जाता है कि कितने ही नामी लोग चोरी और डकैती करके अपने घर की गहरी नीव जमा गये हैं। उनके अनेक वंशधरों ने इस समय अनेक ख़िताब और तमगे पाये हैं और वे अफसरों के साथ हाथ मिलाया करते हैं। इस तरह कर्मयोग से जो ऋद्धि और सिद्धि मिलती है वह सभी देशों के इतिहास पढ़ने से जानी जाती है।

अर्थ चारों वर्गों में प्रधान वर्ग है। बाक़ी तीन इसी के पीछे पीछे आया करते हैं। इस कारण अब रूपप्रधान वर्ग पाने के लिये ही जितनी बन सके साधना दरकार है। अधिकारी भेद से इन सब साधनाओं के प्रकार-भेद हैं। एक प्रकार की साधना में हजार बार निन्यानवे के धक्के खा सकने पर लखपती हुआ जा सकता है।

निरामिष वैष्णव मत से भी अर्थ की साधना हो सकती है। वैष्णव धर्म मितव्ययी का धर्म है। इसी कारण वैष्णव के देवता तुलसी हैं जिनको पाने में कुछ खर्च की जरूरत नहीं पड़ती। उनके लिये भोग चाहिए एक पैसे का बताशा। विष्णु भगवान् का नाम लेकर चढ़ा देने

से ही हो जाता है। इसमें पुरोहित की दक्षिणा या संकल्प-छुड़ाई देने की जरूरत नहीं।

मनुष्य समाज में ऐसे भी लोग देखे जाते हैं जो खुदा के यहाँ से आये हुए मनीआर्डरों को सब को खर्च कर डालते हैं। अर्थ मानों इन लोगों का रक्त विकार है। इन लोगों को उलूक की तरह आँख रहते भी दिखाई नहीं देता। कान रहते भी यह लोग सुन नहीं सकते।

भारतवासी बहुत दिनों से कर्ममार्ग छोड़ कर भक्तिमार्ग में जा पहुँचे हैं। इस देश के साधारण किरानी से लेकर राजा महाराजा पर्यन्त सभी भक्तिमार्ग के मुसाफ़िर हैं। कोई कोई सजधज कर उपास्यदेव के मन्दिर में रोज़ जाते और साष्टांग प्रणाम कर आते हैं। कोई अंगरेज़ी, संस्कृत या हिन्दी में तरह तरह के स्तव-स्तोत्र कह कर इष्टदेव को प्रसन्न किया करते हैं। किन्तु सभी 'धनं देहि', 'धनं देहि' की रट से कान फोड़े डालते हैं। क्योंकि धन ही सब साधनों की परम-सिद्धि है।

अर्थ सब के लिये कामना की वस्तु है। किन्तु अर्थ है क्या चीज़, यह कोई नहीं समझता। मैंने दैव-गवेषणा द्वारा अद्वैतवाद की सहायता से अर्थ का असल रूप जान लिया है। चराचर विश्व-संसार में अगर कोई एक पदार्थ है तो वह अर्थ है। अर्थ के सिवाय यहाँ और किसी का अस्तित्व ही नहीं है। अगर तुम अपने को कृती कहते हो तो अपना 'कैश बाक्स' खोल कर दिखाओ। यदि तुम्हारे पास धन है तो तुममें मनुष्यत्व हो सकता है। दरिद्र के मनुष्यत्व है, यह बात दुनिया में कोई विश्वास नहीं करता। यदि रूप की बात कहो तो वह तो खाली अर्थ ही अर्थ है। धनी का अन्धा लड़का भी चश्मरोशन कहलाता है। अगर तुम कहो

कि तुम में भलमनसाहत है, मैं तुम्हारा जेब टटोल कर कह दूंगा कि तुम ठीक कहते हो या नहीं । 'अलमति विस्तरेण' । अतएव साबित हुआ कि अर्थ के सिवाय और किसी का अस्तित्व नहीं है । कम समझ द्वैतावादी कह सकते हैं कि अर्थ और भगवान दोनों हैं । पर मैं तो अद्वैतवाद लेकर दुनिया में उतरा हूँ इस कारण मैं दोनों का अस्तित्व नहीं मानूंगा । कहूंगा कि अर्थ ही हैं, भगवान नहीं हैं ।

[ 'गोबरगणेश-संहिता' से ]

# पं० गोविन्दनारायण मिश्र

[ सन् १८५९-१९२३ ]

———:o:———

मिश्र जी ऐसे वंश में उत्पन्न हुए थे जिसमें कई पीढ़ियों से संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् होते आये थे। इसके सिवाय गोविन्दनारायण जी की प्रारम्भिक शिक्षा भी संस्कृतमय परिस्थिति में हुई थी। एवं, यह स्वाभाविक सा था कि ऐसे पाण्डित्यपूर्ण वातावरण में उनकी भाषा में संस्कृत का अत्यधिक समावेश हो। परन्तु साधारण संस्कृत-पंडितों की सी एकपार्श्वता तथा मानसिक संकीर्णता का उनमें लेशमात्र तक न था। कारण यह था कि उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों के बीच में विचरण किया था, उनकी बोल-चाल, रहन-सहन देखी थी जिससे उनका बौद्धिक विस्तार बढ़ा हुआ था। बङ्गाली, मरहठे, गुजराती तथा अन्यान्य लोगों में मिश्रित होते होते उनकी संस्कृत-विद्वत्ता का गुरुत्व हल्का हो गया होगा।

मिश्र जी का गद्य वास्तव में संस्कृतमय गद्य का अच्छा उदाहरण है। यद्यपि सरल और मिश्रित भाषा पर भी उनका अधिकार था, जैसा कि उनकी 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख-माला से ज्ञात होता है, तथापि साधारणतया समासयुक्त लम्बे लम्बे पदों से युक्त गद्य लिखने से ही उनकी आत्मा को

आनन्द मिलता था। उनका यह विचार ही था कि एक ऐसा ग्रन्थ लिखें जो बाण की 'कादम्बरी' के ढंग का हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'कवि और चित्रकार' शीर्षक कई छोटे छोटे निबन्ध लिखे भी थे जो अधूरे पड़े रह गये। इस प्रकार के लिखे हुए मिश्र जी के गद्य में शब्द-संचय बड़ा मनोहर होता है और उसमें प्रायः वह दुरूहता नहीं आने पाती जो इस तरह की संस्कृत में होती है। सबब यह है कि वे केवल शुद्ध संस्कृत शब्द ही ढूँढ़ ढूँढ़ कर नहीं जमा करते हैं वरन् बीच बीच में बोलचाल के सुगम शब्द भी रखते हैं।

इसके अतिरिक्त मिश्र जी की भाषा काव्यमयी सी होती है। उसमें कवितोचित प्रवाह होता है तथा कल्पना की अनुपम छटा रहती है। भिन्न भिन्न शब्दों की तुक-साम्यता के कारण उनके लेखों में एक प्रकार का लय भी उत्पन्न हो जाता है। भाषा की संस्कृतमयता का पता कई बातों से लगता है। एक तो शब्द-चयन से साफ़ जान पड़ता है कि लेखक ने बड़ी खोज के बाद उसे एकत्रित किया है। शब्दों के द्वारा अनुप्रास तथा यमकादि अलंकारों के प्रस्तुत होने से भी संस्कृतता टपकती है। उनका वाक्य-विन्यास भी प्रायः सीदा-सादा नहीं होता। पढ़ने वालों को उसका आशय समझने के लिए बड़ी सावधानी तथा एकाग्रता की आवश्यकता होती है। उपन्यास-प्रेमी और अन्य इसी प्रकार के सुगम साहित्य के प्रेमियों को गोविन्दनारायण जी के विद्वत्तापूरित लेख पढ़ते समय एक तरह की बेचैनी

अथवा असंतोष का अनुभव होता है। मिश्र जी के गद्य का आनन्द प्राप्त करने के लिए गम्भीरता की आवश्यकता होती है। इसी विचार से उनके लेखों को उस श्रेणी के साहित्य में परिगणित करना उचित है जिसको समझने के लिए तथा जिसका रसास्वादन लेने के लिए वाचकों को पहिले से ही रुचि बनानी पड़ती है।

विभक्तियों के सम्बन्ध में आप ने अपना मत 'विभक्ति-विचार' नामक लेख में प्रकट किया है। आप विभक्तियों को संज्ञा-पदों से मिलाकर लिखने के पक्षपाती थे। अभी तक इस विषय में निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है। विभिन्न लेखक विभक्तियों को 'हटाकर' अथवा 'सटाकर' लिखते हैं।

---

१

## कवि और चित्रकार

सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभावसे सबका चित्तचोर सुचारु सजीव–चित्र–रचना–चतुर चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नवरस रसीली नित नवनव भाववर–सरसीली, अनूप रूपसरूप गरबीली, सुजन मनमोहन-मन्त्रकी कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार-साज-सजीली, छवीली कविता-कलपना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अगजगमोहिनी बलाकी सबला, सुभावसुन्दरी अति सुकोमला अबलाकी नवेली, अलवेली, अनोखी पर परम चोखी भी

प्रेम-पोखी, समधिक सुहावनी, नयनमन-लुभावनी भोली रूप-छविको आँखों के आगे परतच्छ खड़ी भी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनोंको लुभाना, तरसाना, सरसाना हरसाना और रिझाना ही है। इनमें पहलेके (चितेरे के) बाहरी साधनोंमें प्रधान मानयन्त्र पट, तूलिका और रंग बिरंगे, गहरे, हलके, सुहाने, जगलुभाते, चुहचुहाते, मनहरन, अनगिनत बरन हैं। परन्तु दूसरे का तो मनचहे विविध विध अर्थभाव गमक-जमक-गमकते मृगमद चन्दन अतरतरसे भी अन्यतर सुन्दर सरस सुबास, बसे लसे विकसे, खिले अध-खिले, रंगबिरंगे, सुविमल प्रफुल्ल सुमनदलसोही विश्वमोही, बरन बरनसे मनहरन वरनात्मक बचन-सुरतरुवर-वन गहन उपजाते संसार भरमें नित नयी स्थायी मनभायी सौरभ सरसाते अधिक अधिक महकाते गिनतीके अड़ता-लीस अक्षरोंकी एक अकेली वर्णमाला ही अतुलनीय अनन्य साधन है। निराली प्रतिभाशाली सबसे परली ऊँचीसे ऊँची श्रेणीकी अपूर्व परमोत्तम असाधारण अनन्य-सुलभ अति विचित्र शैलीकी सर्वत्र सहज फैलनेवाली अपनी अपनी अति पैनी सुतीक्ष्ण तैली बुद्धि ही दोनों की मूल पूंजी हैं।

परन्तु चतुर सुजान विज्ञ विचारवानों के अपक्षपाती सदा अडिग न्याय के ही साथी सूक्ष्म विचारधर्मकी अनमोल तुलापर धरकर तोल देखनेपर नयनमनमोहनी विविध रंग-सोहिनी-आभा छन छन छिटकाते अपनी अनोखी मायासे जग भरमाते, चित्रविचित्र वर्ण-विन्यास-चतुरवर इतर-सकल-कला-कुशलवर चित्रकारका आसन भी, सरसरसभाव-पूर नूपुर-धुन गुनगुनाते मञ्जुलतर पदविन्यासलासबिलास-विलासिनी सहज लीला-वती-कविताकलकलन-चतुर यशस्वीशिरोमनि, अवनि-तलपर समतल-थलअ-चलजलधिरत्नाकर अपार परिपूर छाये, सित फेन सकुचाये, हिमसहिम

शीतल पड़े जहाँ के तहाँ जमाये, अत्र तत्र सर्वत्र बिछायेसे भी न समाये आकाशलों छाये अपने अद्वितीय शोभा-शुभ-सुजस-अमीगुनसे निरंतर अमर नरवर, घर घर सदा सजीव अभिनवतर नवम चिरंजीवसे सुहाये, परम सुघर सुकविवरोंके सर्वप्रथम, सर्वप्रधान, सर्व्वोपरि विराजमान आदि-माननीय, सुर-नर कमनीय निराले आसनों की अनन्यसुलभ गौरव-गरबीली अति चटकीली सुन्दर सजीली गुनगरिमाकी गनतीमें सबसे पहली सर्वश्रेष्ठ श्रेणीकी परम प्रतिष्ठावाली, सजधजमें भी सबसे निराली शोभावाली आदर अनुराग श्रद्धा-भक्ति स्पर्द्धासे सदा पूजनीय , पंक्तिसे नीचे ही बिछाया हुआ मानना पड़ेगा ; क्योंकि अपनी अति तुलतुली परम नरम रेशम सम सुको-मल तुलिकाकी अतुल (लेखनीकी) होने पर तुली हुई लेखलघुता, निपुनई, सुघरई, अचरज में लानेवाली अचूक सचाई, सफ़ाई और जगभायी अनुपम कला-कुशलाईसे दृश्य मात्रकी अविकल ज्योंकी त्यों जैसी थी वैसीही छबिका उतार लाना, और नयनों के आगे ऐनमैन खड़ीसी दरसाना भर ही चतुर चितेरेकी चरम चातुरी है ।

परन्तु बिलबिलाते बिलाते, हाट बाट घाट विपनी, गली गली और बाज़ार बाज़ार दमड़ी धेलेमें बिकते बिकाते, आरति परे बल बल जाते भी बल जाते कूर कपूर चूरकी धूर उड़ाती कास विकास तच्छ घास कुन्द कुन्द करि करिवर लजाती, बिन पानिपके लजाये, जल पाये, जिय हिय दरकाये दारुन दरसे ही सुदूर समुद्रमें जा दुरे मुरि बरबस धरपकर कर परबस पुरनगरडगर परघर घरघर मन्दर अन्दर लाये, आज भी उस चौदहों भुवनव्यापी असह सुजसके पूरे प्रताप तापके मारे हारे दईमारे बिचारे किनारे ताकते, दर विवश दर नाक घिसाते, हा हा खाते मुंह, विदोर

सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकार सुतार तार सुरग्राम अभिराम लसित वीन-प्रवीन-पुस्तिका-कलित मखमलसे समधिक सुकोमल सुविमल अति सुन्दर लाल प्रवालसे लाललाल करपल्लव सुहाती, विविध विद्या-विज्ञान-ज्ञानसभसौरभ सरसाती, विकसे फूले सुहाते मनभाते सुमन प्रकास हास बास बसे अनायास सुगन्धित सित बसन लसनसोहा सुप्रभा बिकसाती, भवपारदा सारदा सरदा, सुविमल मानस-विहारी मुक्ताहारी, नीर-छीर बिचार-चतुर-चूड़ामणि महाकविवर विबुधराज राज-हंस-हिय-सिंहासन-निवासनी भगवती सरस्वती माताके मुंह निहारे, मुंहफट अनियारे प्राणोंसे प्यारे परम दुलारे पुत्र इन सहज अलवेले रंगीले अनोखे रसीले जसीले कविवरोंकी सुमन–मनमोहनी बचन-रचनामें ही विचित्र प्रभावशाली अनुपम अनोखी अतुल बलवाली पर परम कोमल सुभावकी एक ऐसी निराली शक्ति है कि जिसके अतुल बल औ अभावन व प्रभावसे ये सबके अन्तरकी गुप्तसे गुप्त अनदेखी, अछूती, सूक्ष्मसे सूक्ष्म छिपी मनोवृत्तियों को भी अपूर्व अनमोल अनेकों रतन जगमगाते, अनूप रूप लुनाई पलपल पर अधिक अधिक सरसाते, एकसे एक सब बातों में चढ़े बढ़े चमीकरसे भी चटकीले छबीले विचित्र अनमोल अलंकारों से समुचित खचित चितचुभी सुषमा बरसाते, एक ऐसी सुघराईसे नखसिख लों यथोचित सजाते, परम सोभाकी सीम सी समलंकृत कर दरसाते, मार्मिक सुरसिकसमाजके भावग्राही नयनों वा अनुरूप-रूप प्रतिविम्बित होने योग्य चमचमाते सुविमल सुन्दर स्वच्छ सुविशाल अनुपम अयनोंके आगे ललितपदविन्यासवाली संसारसे निराली नित्यनिपुणताकी बँधीताललयसधी मनहर सुघर सुन्दर गतिपर नाचती हुई सी बातकी बात में सामने ला खड़ी कर दिखाते हैं !

उस समय नवरसमय अनुरागरागअलापकलापसरीलीधुनगमक प्रस्तार उतार आरोह तानतरंगअभंग कलकलकूजित हाहा हूहूजित लय तालमय मगन चूमती मदमाती झूमती अनगिन्त अनन्तऊँचीसे ऊँची तान-तरंगों-के लहरभरे भरपूर जोबनसे ऊभरे उमगे चले आते उस अथाह अपरिमेय असीम परावाररहित अपार अति अपूर्व लहरी आनन्दसुधारसकी विचित्र अनंत गहरी लहरों में मनमगन लोटपोट गोते खाते डूबते तरते विवस बह बह जाते रसमुग्ध अनोखे लहरी सुरसिकशिरोभूषण प्रधान सुजान दर्शकों को निःसन्देह आत्मविस्मृति हो जाती है। यथार्थमें उस विचित्र अकथ दशामें गहरा गोता लगानेवाले चिन्ताशील अनुभवीमात्र कुछ कालतक तो अपना आपा ही भूल जाते हैं! सचमुच उस अनन्त अथाह अनोखे नित्य नवरस-सरस सुधानिधि की थाह न पाकर मानो डूब ही जाते हैं! उस अकथ असीम परमानन्द अपार परिपूर अमूल्य रत्नाकरके सदा सब रसभरे छलकते अकूपार अलौकिक सुधाउदधिक अनन्त सरस समधर रस-रसीली लहरों से थकित चकित परिपूर छकित लोटपोट आनन्दमग्न उनके उस सुरस रसभीने रसीले मन भी, अनदेखे अनुभव अनुमाने पर पर-तच्छ से दरसाते अपूर्व लास्यहास्य आदि नृत्यकला विलास हावभाव भरे अंग अंग फड़काते मटकाते नाचते मन लुभाते नाचकी समपर लै बँधी थिरकती हुई सी लय ताल के अतलतल में लय हो आप ही आप आप भी उसकी ही ध्वनि पर थरक थिरक कर ताल से ताल मिलते मन ही मन गुनगुनाते उस ही धुन पर मानों सरवस खो विवश हो गहरे लहरे के साथ ही मन की लहर में आ नाचने लगते हैं। निस्सन्देह ऐसे चमत्कारी सुरसिक राज राज हिय विहारी हियहारी अनोखे गुन इस त्रिगुणात्मक अपार संसार

में केवल सुकवियों के ही बँटे आये हैं कोई बतावे कि सारे संसार भर में इस सिरे से उस सिरे तक कविवरों के सिवा और किस दूसरे में ऐसी अनोखी अनन्य सुलभ विचित्र अलौकिक शक्ति देखने में आती है ।

---

# बाबू बालमुकुन्द गुप्त

[ १८६३—१९०७ ]

—:*:—

गुप्त जी उन लेखकों में से थे जो पहले पहल उर्दू में ही बहुत काल तक लिखते रहे थे और जो शायद जीवन-पर्यन्त उर्दू की ही सेवा में लगे रहते, यदि जातीयता के आवेश में वे हिन्दी की ओर न झुकते बालमुकुन्द जी १८८९ तक 'कोहनूर', 'अवधपंच' आदि उर्दू पत्रों में ही लेख लिखते रहे थे; और उनकी शैली तभी मँज चुकी थी। एवं, पं० मदनमोहन मालवीय तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र के सत्संग में पड़कर जब उन्होंने हिन्दी सीखी और अधिकतर उसी में लिखने लगे, तब उन्हें उस नई भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में बहुत समय न लगा। क्योंकि साहित्यिक प्रतिभा तो उनमें थी ही, बस जिस तरह की हास्य-व्यंग से भरी हुई चुभीली भाषा वे पहले उर्दू में लिखते थे वैसी ही चटपटी, फड़कती भाषा अब हिन्दी में लिखने लगे। गुप्त जी अपने ढंग के अद्वितीय लेखक थे। उनके लेखों में हास्य और व्यंग दोनों गुण आदि से अन्त तक भरे होते थे। वास्तव में उनकी भाषा की रोचकता उन्हीं गुणों पर प्रधानतः निर्भर है।

उर्दू-कविता तथा उर्दू-गद्य दोनों में बादशाही ज़माने से

ही तानाज़नी की मात्रा ख़ूब रहती आई थी। वास्तव में उर्दू की साहित्यिक विशेषता यही रही है। बाबू बालमुकुन्द जी गुप्त की हास्य-व्यंग-पूर्ण हिन्दी की गद्य-शैली भी उर्दू के इसी साँचे में ढली थी। गुप्त जी में स्वाभाविक व्यंग-शक्ति थी। वह शक्ति उस समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में स्वतः प्रस्फुरित हो उठी थी। लार्ड कर्ज़न के आधिपत्य में बंग-विच्छेद तथा अन्य कई असंतोषजनक सरकारी कार्रवाइयों के कारण देश में अशान्ति की आग धधक उठी थी। ऐसे आन्दोलित समय में बिगड़ी हुई प्रजा को खुल्लमखुल्ला असंतोष प्रकट करने का अवसर न देने के लिए सरकार ने राजनैतिक आपत्काल के अनुकूल कठोर क़ानूनों का प्रचार किया।

ऐसी अवस्था में हिंसापूर्ण षड्यन्त्र रचने के अतिरिक्त यदि कोई अन्य भद्र उपाय घोर असंतोष प्रकट करने का था तो वह व्यंगपूर्ण लेखों के लिखने का था। अस्तु, गुप्त जी ने 'शिवशम्भु' के कल्पित नाम से लार्ड कर्ज़न पर ख़ूब कस कर बौछारें की थीं। पर उन्हीं चिट्ठों में गुप्त जी ने अपनी लेखन-शक्ति का तथा हास्य और व्यंग-विषयक प्रतिभा का सर्वोत्तम परिचय दिया।

गुप्त जी के व्यंग के सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो उच्च कोटि के व्यंगकारों की भाँति वे व्यंगपूर्ण लेख लिखते समय सदैव भंग पीने का बहाना कर लेते थे। इस प्रकार भंग के नशे की आड़ में वे उन पर यह जमाने की

कोशिश करते थे, कि जो कुछ खरी-खोटी बातें किसी के लिए कही जावेंगी वे सब बेलाग होकर तथा ईर्ष्या-द्वेष-रहित होकर निष्पक्ष भाव से ही कही जावेंगी। ऐसी निर्लेपता का आभास लोगों पर करके जो मज़ाक़ किया जाता है उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि 'शिवशम्भु शर्मा' के चिट्ठों में तीक्ष्णातितीक्ष्ण व्यंग भी बड़ा हृदयग्राही प्रतीत होता है।

अब गुप्त जी के गद्य के सम्बन्ध में कुछ विचार करना है। यद्यपि उनकी शैली वास्तव में मिश्रित है, तथापि उसका झुकाव अधिकतर हिन्दी की ओर है। राजा शिवप्रसाद की तरह उनकी भाषा में क्लिष्ट उर्दू-शब्द कभी अनावश्यक परिमाण में नहीं रहे। बोल-चाल के मुहावरों का वे बड़ा ध्यान रखते थे। इतना अवश्य है कि कभी कभी उनके वाक्यों में प्राचीन उर्दू-गद्य की सी तुकबन्दी रहती है। उदाहरणार्थ यह वाक्य उनके एक चिट्ठे से ले सकते हैं :—

"वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज का प्यारा हुआ, माँ बाप की आँखों का तारा हुआ।"......

इसी प्रकार 'सतरंह', 'दूज', 'हरेक', 'अबके' (अबकी) आदि कतिपय शब्दों के प्रयोग से गुप्त जी समय समय पर अपनी उर्दू की विशेषज्ञता को प्रकट करते हैं।

इन सब बातों से यह ज्ञात होता है कि गुप्त जी की हिन्दी-शैली की जड़ें उर्दू से ही निकली हैं।

साधारणतः गुप्त जी की भाषा बड़ी शक्तिशाली तथा वेग-

पूर्ण होती है। उसमें एक प्रकार की पैनी धार सी होती है। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक जो लेख उन्होंने 'अनस्थिरता' शब्द के वैयाकरणिक अनौचित्य को लक्ष्य करके पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी पर लिखा था, उसमें वह गुण पूर्ण रूप से भरा है

अन्त में गुप्त जी के हिन्दी-गद्य-विषयक कार्य पर दो बातें कहनी हैं। उन्होंने ऐसे समय हिन्दी लिखना शुरू किया था जब कि उसका गद्य-साहित्य बन रहा था और पं० बालकृष्ण तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र एक उत्कृष्ट शैली का निर्माण कर रहे थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र ग्रामीण शब्द-भांडार की सहायता से गद्य को रोचक बनाने का प्रयत्न कर रहे थे और भट्ट जी संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू सब कहीं से उपयुक्त द्रव्य चुन चुन कर उसी उद्देश्य की पूर्ति में लगे थे। एक प्रकार से हिन्दी-गद्य को आधुनिक परिमार्जित स्वरूप उसी समय मिल रहा था। अतएव तत्कालीन लेखकों के द्वारा उसमें हास्य और व्यंग के समावेश होने की बड़ी ज़रूरत थी। आर्यसमाज के पाखंड-विडम्बना-प्रेरित लेखों में उन्हीं दोनों गुणों की भरमार थी। इसी बीच में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारत-मित्र' के पृष्ठों में अनेक सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक विषयों पर व्यंगपूर्ण लेख लिख कर बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। प्रायः व्यंग और हास्य को अपनी शैली के ताना-बाना में मिला कर उन्होंने हिन्दी-गद्य की चुभीली शक्ति तथा उसके लचीलेपन को

बड़ा योग दिया।

इसके सिवाय अपने साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धियों के साथ क़लम की लड़ाई छेड़ कर उन्होंने अन्य लेखकों को भी सावधानी सिखाई। द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता' शब्द के वैयाकरणिक अनौचित्य की घोर आलोचना करके तथा उस पर लम्बी-चौड़ी टीका-टिप्पणी करके उन्होंने अपने समय के लेखकों का ध्यान गद्य की भाषा की शुद्धता की ओर आकर्षित किया।

---

( १ )

## एक दुराशा

नारंगी के रस में जाफ़रानी बसन्ती बूटी छान कर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। ख़याली घोड़े की बागें ढीली करदी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पावों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूलअरज़ सीमा उल्लंघन करके इधर उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और ख़याल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार बार अमृत डालने लगा—

"चलो चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर"।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ौस में

किसी अमीर के यहाँ गाने बजाने की महफ़िल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा बादल घिरे हुए हैं बिजली चमक रही है रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्त में सावन देख कर अकल जरा चक्कर में पड़ी। बिचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है वसन्त के विकास का समय है वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं बिधि की भूल है जिसने बसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती निर्मल वायु बहती कोयल की कूक सुनाई देती। कहाँ भादों की सी अँधियारी है वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतुविपर्यय है।

इस विचार को छोड़ कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे! कन्हैया कौन? ब्रज के राजकुमार और खेलने वाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वाल बाल। इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिल कर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे। यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर, गुलाल की झोलियाँ भरे रंग की पिचकारियाँ लिये अपने राजा के घर होली खेलने जाये तो कहाँ जाये? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को! खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारिका ही में हैं पर उद्धव को

प्रतिनिधि बना कर व्रजबासियों को संतोष देने के लिये व्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ? ओफ़ ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है ? वह तो समय समझ कर ही गा रहा था। यदि बसन्त में वर्षा की झड़ी लगे तो गाने वाले को क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण है उद्धव है पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है धूप नहीं। चन्द्र है चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर ही में हैं पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल कर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा नहीं पहुँच सकती ? जहांगीर की भांति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी जंज़ीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फ़रयाद उन्हें सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भांति कभी कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उंगलियों से इशारे करते हैं कि वह हैं। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचन्द के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में भी पक्की करदी कि अब राजा प्रजा के मिल कर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशम्भु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशा वाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी

प्रजा का एक वकील है ।

( 'शिवशम्भु का चिट्ठा' से )

( २ )

## आशीर्वाद

तीसरे पहर का समय था । दिन जल्दी जल्दी ढल रहा था । और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पांव बढ़ाये चली आती थी । शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे । सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी । मिर्च मसाला साफ़ हो रहा था, बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे । नागपुरी नारंगियां छील छील कर रस निकाला जाता था । इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं । चीलें नोचे उतर रहीं हैं, तबियत भुरभुरा उठी । इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार । इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं । अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं, साथ ही तड़ तड़ धड़ होने लगी, देखो ओले गिर रहे हैं । ओले थमें, कुछ वर्षा हुई, बूटी तय्यार हुई, बमभोला कह कर शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई । ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिन्टो ने वंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली । ठीक एकही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए । भेद उतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं । और लार्ड मिन्टो के सिर या छाते पर ।

भंग छानकर महाराज जी ने खटिया पर लम्बी तानी कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे । अचानक धड़ धड़ तड़ तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया । आँखें मलते उठे वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्जे

पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था, एक दरवाजे के किवाड़ खोल कर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंके ने दस बीस बूँदों और दो चार ओलों से शर्मा जी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अन्दर भी ओलों की एक बौछाड़ पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये। तथापि एक शीशा चूर हुआ इतने में ठन ठन करके दस बजे, शर्मा जी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए कान टीन और ओलों के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आखें खोले हाथ पाँव सुख में। पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गये होंगे पर वह चील कहाँ गई होगी ?........हा, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकाएं शून्य पड़ी हैं।

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ! प्यारी भंग ! तेरी कृपा से कभी कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसीसे तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भंगड़, क्या सुख का भूखा है। घावों से चूर जैसे नींद में पड़ कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादौं कृष्ण अष्टमी की अर्द्धरात्रि चारों ओर घोर अन्धकार-वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था......वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज बसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज प्यारा हुआ, मां, बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार भारतसन्तान के लिये तीर्थ हुआ। वहां की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई।

"बर जमीने कि निशाने कफ़ पाये तो बुवद।
सालहा सिजदये साहिब नजरां ख़्वाहद बूद॥"*

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है।

---

*जिस भूमि पर तेरा पद-चिन्ह है दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक उस पर अपना मस्तक टेकेंगे।

# पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

—:o:—

द्विवेदी जी ने एक नहीं अनेक प्रकार से आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विस्तारवृद्धि की है। उनके हाथ से कई साहित्यिक विभागों का शिलान्यास हुआ है। आजकल हिन्दी-गद्य में जो नवीन जीवन स्फुरित होता देख पड़ता है उसका श्रेय अधिकांश में इन्हीं को है। वास्तव में हिन्दी-गद्य का सुव्यवस्थित स्वरूप द्विवेदी जी की क़लम से ही निकला है। जितने समय तक वे 'सरस्वती' के सम्पादक रहे, लगातार उनके हाथों हिन्दी में एक नये ढंग की गद्य-शैली का आविष्कार तथा प्रचार हुआ।

वैसे तो द्विवेदी जी का अधिकार कई प्रकार की गद्य-शैलियों पर है और वे समय समय पर विषय के उपयुक्त शैली का प्रयोग करते हैं। परन्तु वास्तव में उन्होंने उनमें से एक ख़ास तरह की शैली पर अपनी छाप लगाई है और उसी पर पक्की सिद्धहस्तता प्राप्त की है। प्रत्येक के नमूने दिये जावेंगे। परन्तु जिस शैली का प्रचार करने के कारण उनका नाम हिन्दी-गद्य के निर्माताओं में अमर रहेगा, उसका विशेष रूप से यहाँ पर उल्लेख किया जावेगा।

स्थूलरूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने तीन प्रकार की गद्य-शैलियों का प्रयोग किया है।

सबसे प्रथम उन्होंने एक प्रकार के मिश्रित गद्य का आविष्कार किया है, जिसमें हिन्दी; उर्दू, अँगरेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत सब कहीं के शब्द तथा वाक्य मिले रहते हैं। यह प्रयत्न नहीं किया जाता कि ढूँढ़ ढूँढ़ कर शुद्ध हिन्दी शब्दों की ही भरमार की जाय। लेखक का ध्येय केवल यह रहता है कि ऐसे ढंग से विचार व्यक्त किये जावें जिससे पढ़ने वाले को अर्थ समझने में कठिनाई न हो और साथ ही साथ बात चुभती हुई भी जान पड़े।

साधारणतः इस रीति से लिखे हुए द्विवेदी जी के लेखों में एक प्रकार का गाम्भीर्य होता है और उनकी भाषा चुटीली होने पर भी साधु और संय व्यंग से ओत-प्रोत होती है। परन्तु यही चुहचुहाती हुई भाषा कभी कभी द्विवेदी जी के हाथ में तेज़ भाले का काम भी करती है। इस शस्त्र का प्रयोग वे तभी करते हैं जब किसी लेखक की उच्छृंखल लेखनी से उनके साहित्यिक सिद्धान्तों को आघात पहुँचता है। ऐसे अवसरों पर वे श्लोकों, शेरों, दोहों, तथा कहावतों के ढेले बुरी तरह से मारते हैं।

'कवि और कविता' शीर्षक अवतरण में द्विवेदी जी के इस मिश्रित गद्य का उत्तम उदाहरण मिलेगा।

उनकी प्रौढ़ रीति की विशदता तथा सुबोधता का पता केवल उस लेख के इस वाक्यांश से लग सकेगा कि "कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़ सुथरी सड़क मिलनी

चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो"............

'कवि और कविता' शीर्षक लेख द्विवेदी जी के मिश्रित गद्य का अच्छा नमूना है। जिस निर्भीकता से वे अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग करते हैं, वह आश्चर्यप्रद है। यही नहीं वे समय समय पर संस्कृत के श्लोक तथा फ़ारसी के शेर उद्धृत करके पांडित्य भी ख़ूब दिखाते हैं।

तेरहवें हिंन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागतकारिणी सभा के सभापति की हैसियत से द्विवेदी जी ने जो भाषण दिया था, उसकी भाषा भी उसी टक्कर की है जैसी कि उनके लेखों में प्रायः हुआ करती है और जिसके कारण हिन्दी-गद्य उनका आभारी रहेगा। उस वक्तृता से जो 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक अवतरण दिया जावेगा उससे उनकी गद्य-शैली की विशेषतायें दिखलाई जा सकती हैं।

यद्यपि उनके भाषण के इस अंश की भाषा अपेक्षाकृत अधिक कसी हुई है, और उसमें हिन्दीपन भी काफ़ी है जिसका झुकाव संस्कृत की ओर हो गया है, तथापि उसमें सदा की भाँति प्रसादगुण विद्यमान है। जो कुछ क्लिष्टता आ गई है वह भी प्रस्तुत विषय के सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि 'साहित्य की महत्ता' ऐसे दुरूह विषय पर सोचते तथा लिखते समय गम्भीरता आ जाना स्वाभाविक ही है। वास्तव में अपनी भाषा

तथा शैली को विषयानुसार परवर्तित करने की क्षमता द्विवेदी जी में थी।

उनके वाक्यों में एक प्रकार का सामंजस्य सा रहता है, जो प्रत्येक ओजपूर्ण गद्य का आवश्यक उपादान समझा जाता है। उदाहरणार्थ, "जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब यदि कहीं देखने को मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है।"

इस वाक्य में एक प्रकार का चढ़ाव-उतार है जिसके कारण उसे पढ़ते समय पढ़ने वाले पर तत्काल प्रभाव पड़ता है। इसी तरह उनके गद्य में जगह जगह पर ओज बढ़ाने के लिए प्रतिपक्षता का भी समावेश है। इस प्रतिपक्षता के अनेक उदाहरण मिलेंगे। द्विवेदी जी के गद्य में एक और बड़ी विशेषता है।

कहा गया है कि भाषामात्र वस्तुतः रूपकों की संहति है। प्रत्येक शब्द जिस जिस पदार्थ के अर्थ में प्रयुक्त होता है वह बिना उस पूर्ण परिचय तथा अनुभूति के निरर्थक सा जान पड़ता है।

द्विवेदी जी ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में अपने गद्य को सदैव रूपकयुक्त रखा है। जो बात उन्हें स्पष्ट करनी होती है उसका दृष्टान्त-द्वारा वे सजीव चित्र सा रख देते हैं। उदाहर-

नार्थ "यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिन की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।"

सारांश यह है कि जिस गद्य-शैली का परिपक्व तथा सुसज्जित रूप द्विवेदी जी ने प्रस्तुत किया है उसमें प्रसाद, ओज, सामंजस्य, प्रतिपन्नता, बहुभाषिता तथा व्यंग के साथ साथ सजीवता अथवा विशदता भी रहती है।

अब उनकी दूसरी प्रकार की लेखन-प्रणाली पर ध्यान देना है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनके दूसरे प्रकार की शैली में जिसका उल्लेख अभी तक हम करते आये हैं, व्यंग की मात्रा न्यूनाधिक परिमाण में सदैव रहती है। यह कह सकते हैं कि बिना व्यंग का कशाघात किये हुए उनकी लेखनी गद्य नहीं लिख सकती। उनके लिखे हुए लेख जो कई वर्ष हुए 'सरस्वती' के 'देश की कथा' शीर्षक स्तम्भों में निकला करते थे उनमें व्यंग तथा हास्य दोनों प्रचुरता में मिले रहते थे। इनके सिवाय उसकी भाषा जानबूझ कर उर्दू-हिन्दी मिश्रित रहती थी। इसी तरह के लेखों में द्विवेदी जी का यह उद्देश्य रहता है कि चाहे भाषा में फ़ारसी की बू ही क्यों न आने लगे, परन्तु उनके क़ाबू में ऐसे शाब्दिक, अस्त्र-शस्त्र आ जाने चाहिए जिनसे वे अचूक निशाना लगा सकें, और जिनसे उनकी हास्य-व्यंग-प्रियता की संतुष्टि हो सके।

अब द्विवेदी जी की तीसरी प्रकार की गद्य-शैली पर विचार

करना है। ऊपर संकेत किया जा चुका कि सुबोध गद्य लिखने वाले द्विवेदी जी समय समय पर वेष बदल देते हैं, और उनकी भाषा काफ़ी क्लिष्ट हो जाती है।

जब वे समझ लेते हैं कि प्रतिपाद्य विषय गूढ़ है या अन्य किसी विचार से गम्भीर्य बनाने योग्य है, तब स्वयमेव उनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत हो जाती है, और उस पर संस्कृत का रंग चढ़ा होता है। किन्तु द्विवेदी जी की क्लिष्ट से क्लिष्ट हिन्दी में भी वह दुरूहता नहीं आने पाती जो कोरे संस्कृतज्ञों की भाषा में प्रायः मिलती है। प्रत्युत उनकी भाषा का प्रवाह सदैव नैसर्गिक तथा निर्मल रहता है और उस पर उनकी छाप रहती है।

यह माना कि 'बेकनविचार-रत्नावली' और 'पुरातत्व का पूर्वेतिहास' इन दोनों की भाषा में अन्तर है। 'पुरातत्व का पूर्वेतिहास' की भाषा अधिक परिपक्व है। 'बेकनविचार' में प्रयुक्त 'विद्याध्ययन से मन मुदित होता है' ऐसे वाक्यों की रचना अब द्विवेदी जी के बाद के लेखों में ढूँढ़ने पर भी न मिलेगी। जिस समय 'बेकनबिचार-रत्नावली' लिखी गई थी उस समय द्विवेदी जी अनुवादक की हैसियत से एक विशिष्ट गद्य-शैली की खोज में थे, और लेखनकला का अभ्यास कर रहे थे।

इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेख्य है। द्विवेदी जी को चाहे जिस शैली का आविष्कारक अथवा परिपोषक कहा जावे, यह बात कम से कम सर्वमान्य होगी कि वे वस्तुतः

लेखनकला के एक विद्वत्तापूर्ण उपासक थे। साधारण लिक्खाड़ों की भाँति बिना किसी ध्येय से उन्होंने इस क्षेत्र में पग नहीं रखा। कई भाषाओं के साहित्यों में पारंगत होकर तथा लिखने का काफ़ी मसाला जमा करके तब लिखने में उन्होंने हाथ डाला है। इसका पता उनके लेखों से स्वयं मिलता है; समयानुकूल कहावतों तथा संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी के पद्यों को उद्धृत करके लेखों को हृदयग्राही बनाना उसी का फल है।

इसी विद्वत्ता के विचार से हम द्विवेदी जी को संस्कृतमय गद्य लिखने वाले लेखकों से परिगणित करते हैं। वास्तव में उनका ठीक ठीक वर्गीकरण करना असम्भव सा है।

---

## १

## म्यूनीसिपैलिटियों के कारनामे

चाहिए तो यह कि आमदनी से खर्च सदा कम ही हो, तथापि वह उससे बढ़ना तो कदापि न चाहिए। परन्तु यह इतनी मोटी बात कितनी ही म्यूनिसिपैलिटियों के ध्यान में नहीं आती। वे लाखों रुपये की क़र्ज़दार हैं। किसी ने सोचा, अपने शहर में नल-द्वारा पानी पहुँचाना चाहिए। पर रुपया पास नहीं। अच्छा, लो क़र्ज़। म्यूनीसिपैलिटी का चाहे बाल बाल बिक जाय, पर कल का पानी ये जरूर पिलावेंगे। जैसे अब तक हमारे बाप-दादे वाटर वर्कस के बिना प्यासे ही मर गये हों। नरोत्तमनगर के म्यूनीसिपैलिटी का एक कल्पित उदाहरण लीजिए :—

इस म्यूनीसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इस लिए हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखा कर आप रायबहादुर हो जायें और ख़ुशामदियों से आप ८ पहर ६४ घड़ी सदा घिरे रहें। म्यूनीसिपैलिटी का काम चाहे चले, चाहे न चले आपकी बला से। इसके मेम्बर हैं, बाबू बख़्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपये तीन चार पंसेरी का भूसा (म्यूनीसिपैलिटी को) देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपये का था। पर कूड़ागाड़ियों के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्सपेक्टर हैं लाला सतगुरदास। आपकी इन्स्पेक्टरी के ज़माने में हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। नज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके ३ हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्यूनीसिपैलिटी के मेम्बर पण्डित सत्य-सर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन १ हज़ार पर बेंच दी गई।

म्यूनीसिपैलिटी के मदर्सों की देख-भाल एक मेम्बर साहब के सिपुर्द है। आपका शुभनाम है—ठाकुर वंशपालसिंह! एक बार एक बैठे-ठाले ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कुल ३० मुदर्रिसों में से २६ मुदर्रिस ठाकुर साहब के रिश्तेदार निकले—कुछ मातृपक्ष के, कुछ पितृपक्ष के।

इस दशा में भी यदि म्यूनीसिपैलिटियों का काम सुचारु रूप से चल जाय तो समझना चाहिए कि सूर्य शीतल हो गया और चन्द्रमा आग उगलने लगा।

२

# साहित्य की महत्ता

ज्ञान-राशि के सञ्चित कोश का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्णसभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए, आपका शरीर

क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए वह निष्क्रिय होकर धीरे धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए, पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एक मात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और असभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रम-पूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय

स्थितियों में से कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ करदी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरुप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषध का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है किम्बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया

था। स्वयं अँगरेज़ी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द ज़रूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषायें बोलने-वाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंगलैण्ड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे, पर बहुत समय हुआ उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषायें सीखनी ही न चाहिए। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषायें सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी

भी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म्म और राजनीति की भाषा सदैव लोक-भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है।

( 'कानपुर-साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के भाषण' से )

---

## ३

# कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं होसकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुन कर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार,

दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का सञ्चार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसङ्गों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य-काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इङ्गलेण्ड, अरब, फ़ारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ ग़दर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज़ है। परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञानवृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है। क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। *सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम होजाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के ख़ास ख़ास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हज़ारों

---

*दे० लार्ड मैकाले ( Macaulay ) की प्रसिद्ध उक्ति "As civilization advances, Poetry declines." —संपादक

वष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका, जो नये कवि होते हैं वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आपही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट करदे तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राज-नैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सर्दी आदि ही के वर्णन से उसे सन्तोष करना उचित है।

ख़ुशामद के ज़माने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको ख़ुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको ख़ुशामद करना पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं, कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलङ्कार ज़रूर माना है। परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलङ्कार हैं? किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द-प्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठ प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिक़ाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उटाइए, आशिक़-माशूक़ों के रङ्गीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रँगी हुई पाइएगा। इश्क़ भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिक़ाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठण्डी साँसें

लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आरही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-सिख, नायिका-भेद, अलङ्कार-शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ, बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद होजाता है। भाव में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आजाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं,

उलटा अवनति होती जाती है ।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं । कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं यह बड़ी भद्दी कविता है । कुछ कहते हैं यह कविता ही नहीं । कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छन्दः प्रभाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं । बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव ! इसी तरह की नुक़ताचीनी से तङ्ग आकर अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है । वह कहता है—"कविते ? यह बेक़दरी का ज़माना है । लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिँचना तो दूर रहा, उल्टा सब कहीं तेरी निन्दा होती है । तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है । पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है । जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं । पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद ज़रूर चूर्ण होजाता है ।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है । इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर उधर होना उचित नहीं ।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है । यह भ्रम है । कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोयटरी' (Poe-

try) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरञ्जक लेख, बात या वक्तृता का ही नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं, संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह विना तुकबन्दी का है। और संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबन्दी का बिल्कुल खयाल नहीं था। अँगरेजी में भी अनुप्रासहीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है कि वजन और क़ाफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक होजाती है।* पर कविता के लिए ऐसी ये बातें हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरञ्जकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िये वग़ैरह की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर

---

*Oscar Wilde तुकबंदी को 'A Spiritual element of thought and passion' कहता है। —सम्पादक

क़ाफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। उसे अपने भावों को वे स्वतन्त्रता से नहीं प्रकट होने देते। क़ाफ़िये और वज़न को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है। और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढँग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय, कि सुनने वालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज कल हिन्दी के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं। कोई सम्पादक के ख़िलाफ़ नाटक प्रहसन और व्यङ्गपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शान्त करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिए इमैजिनेशन ( imagination ) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इस लिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से ले कर पैदा होता है। उसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही

नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढँग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं जाते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है। प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार के विकार-तरंग उसके मनमें उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता

की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत होजाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़ ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्यविषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसी लिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखना चाहिए, और इस क्रम से रखना चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्तिक शब्दस्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्दस्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफ़ी शब्द समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे ख़ूब जानते हैं कि किस किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये

हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। *सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ़ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार-परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो जो उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो। कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खन्दक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह ख़ूब साफ़ और हमवार हो जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क ज़रा भी ऊँची नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को हचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हों; दोनों तरफ़ फलों फूलों से लदे हुए पेड़ हों; जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्दझङ्कार

---

* "Poetry should be simple, sensuous and impassioned."

ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द करदें।* भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख़्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है वही प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐसे शब्दों को मूलरूप में लिखना ही सही समझते हैं पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख़्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो

---

*इस प्रकार के कवियों के लिए अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक कारलाइल (Carlyle) की शिक्षा ध्यान देने योग्य है:—"Why sing your bits of thought, if you can contrive to speak them ? By your thought, not by your mode of delivering it, you must live or die." तथा, 'भाव अनूठे चाहिए, भाषा कैसिउ होय।' (भिखारीदास)

—सम्पादक

जाहिर हो। यह न मालुम हो कि कवि ने कोशिश करके यह बातें कही हैं किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्यवस्तु को देख कर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढँग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उनसे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है शब्द जोरदार न हों पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुनने वाले हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सब से बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुन

कर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं। और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

---

## पं० अम्बिकादत्त व्यास

[ १८५८-१९०० ]

—:o:—

पं० अम्बिकादत्त व्यास का गद्य बड़े घरेलू ढँग का है। संस्कृत के विद्वान् होते हुए हिन्दी लिखते समय अपनी विद्वत्ता को छिपा लेना वे खूब जानते थे। सबब इसका यह हो सकता है कि व्यास जी अपने जमाने के धार्मिक वाद-विवादों से अच्छी तरह व्याप्त थे। स्वयं विश्वास से वे सनातनधर्म के कट्टर पक्षपाती थे और उसके सिद्धान्तों की पुष्टि में उन्होंने कितनी ही वक्तृतायें भी दी थीं। अतः एक प्रचारक की हैसियत से उन्हें आवश्यकतानुसार अपने मत के समर्थन में जनता के सम्मुख व्याख्यान देते समय तथा पैम्फ्लेट लिखने में कई भाषाओं के शब्द तथा मुहावरे काम में लाने पड़ते थे। अतएव अपनी बातों को प्रभावपूर्ण रीति से चुभीली भाषा में व्यक्त करने के लिए उपदेशक की भाँति उनके लिए निरी संस्कृत का प्रयोग करना युक्तिसम्मत न था। इसी से व्यास जी की भाषा बड़ी सीधी-सादी होती थी। पर, उसमें सामयिक लोकोक्तियों तथा पद्य-पंक्तियों की खूब छटा रहती थी।

उनके गद्य में तर्क भी बहुत रहता है। किसी बात की मीमांसा करने में अथवा उस पर प्रमाण देकर बहस करने में

वे बड़े प्रवीण थे। इसका पता उनकी उस वक्तृता से मिलता है जो उन्होंने 'मूर्तिपूजा' पर दी थी, और जिसका कुछ अंश आगे संकलित किया गया है।

यह स्मरण रखने योग्य है कि उनकी तार्किक बातें कभी शुष्क नहीं प्रतीत होतीं। इसका कारण यह है कि व्यास जी का अधिकार बड़ी रोचक शैली पर था। तभी तो 'मूर्तिपूजा' से गहन विषय पर विवाद करते समय भी उनकी युक्तियुक्त बातें मनोरञ्जक मालूम पड़ती हैं।

फिर भी व्यास जी के गद्य में वाग्विस्तर बहुत है। पर यह गुण या अवगुण उस समय के अधिकांश लेखकों में मौजूद था। वह और तत्कालीन धार्मिक उपदेशकों की वावदूकता का प्रतिविम्बमात्र है।

व्यास जी ने कई एक स्फुट निबन्ध भी लिखे हैं, जैसे-'नगर और ग्राम'। उनकी भाषा में तो सादगी की हद होगई है। पर तब भी उसमें स्वभाविकता और विशदता है।

अन्त में, पं० अम्बिकादत्त व्यास को उस तरह के लेखकों की कक्षा में रखना चाहिए जिन्होंने यह साबित कर दिया है कि सीधी-सादी भाषा में भी बड़ा विशद और रोचक गद्य लिखा जा सकता है।

---

## ज्ञान और भक्ति का सम्बन्ध

नास्तिकों को भक्ति का उपदेश नहीं हो सकता इसलिए पहिले उनको आस्तिक बनाना आवश्यक है सो इसी महाप्रचार में शंकराचार्य जी का प्रधान समय गया। परन्तु ऐसे भारी वेदान्ती होकर भी वे आप कैसे भक्त पुरुष थे कि जिस मोक्ष के पाने के लिए भयानक ज्ञान में टक्कर खाना बड़ी दाँत खटाखट से सिद्ध कर गये; आप उसी मोक्ष का अस्वीकार कर भक्ति माँगने लगे। यह उन्हीं का किया स्तव है "न मोक्षस्याकांक्षा······ जननं यातु मम वै भवानी रुद्राणी शिव शिव मृडानीति जपतः।" वे कहते हैं कि हमें मोक्षादि कोई सुख नहीं चाहिए, हमतो जब तक जियें बस शिव शिव भवानी भवानी कहते रहें। और देखिये वे अपनी षट्पदी में क्या कहते हैं "दामोदर गुणमन्दिर सुन्दर वदनारविन्द गोविन्द। भवजलधिमथनमन्दिर परम दरमपनय त्वं मे।" कहते हैं कि "हे दामोदर, ( यह पद उलूखलबन्ध सम्बन्धी है ), हे गुण के मन्दिर ( अर्थात् सब गुण सहित ) हे सुन्दर मुख कमल वाले, हे गोविन्द ( यह पद गोवर्द्धनोद्धार की कथा सूचक है ), हे संसार समुद्र के मथन करने को मन्दराचल सदृश, मेरा महाभय मिटाइये।" देखिये स्वयं शंकराचार्य ने इतना निर्गुण निरूपण किया और "नेह नानास्ति" कह कह जगत् को मिथ्या सिद्ध कर केवल ब्रह्मानन्द की तरंगों से जगत को तरंगित और प्लावित किया पर उनका अपना भय इस किसी जंजाल से भी न गया और दामोदर के आगे हाथ जोड़ के रोना ही पड़ा और कहना ही पड़ा कि "परमेश्वर प्रतिपाल्यो भवता भवताऽभीतोऽहम्।" कौन कहता है कि श्रीशंकराचार्य सगुणोपासक न थे और परम भक्त पुरुष न थे किन्तु केवल

शुष्क ज्ञानी थे ? उनके सौन्दर्यलहरी, आनन्दमञ्जरी षट्पदी, चर्पटी आदि ग्रन्थ देखने से भक्ति और सगुणोपासना टपकती सी देख पड़ती है। अब हम इस पर बल नहीं देना चाहते कि वे अपने घर में शालग्राम अथवा नर्मदेश्वर रखते थे कि नहीं हमारे श्रोता स्वयं समझ लेंगे कि जब वे ऐसे साकार सगुण कृष्ण, काली, शिव, भवानी के सेवक थे तो वे मूर्तिपूजा को अपने अनुकूल समझते होंगे कि प्रतिकूल ?

यदि कोई बड़े ही अवितर्कित शक्ति वाले प्रवल महात्मा हों और वे ऐसा सामर्थ्य रखते हों कि एक दम ब्रह्मानन्द ही में डूब जाँय और निमग्न हो जाँय तो बाबा ऐसे कोई कोई माई के लाल होंगे उनकी वे जानें !! पर सच पूछिए तो चित्त स्थिर होके परमात्मा में लीन हो जाय और जगत् के जाल को भूल जाय तो उसी में मोक्ष है। जब यही सिद्धान्त है फिर चित्त का स्थिर करना, जगत् को भूलना, और आत्मा में डूबना काम रखता है। यह केवल बकने से नहीं होता इसका करना कठिन है। जन्म जन्मान्तर से जिस जगत् के विषय जाल में डूबे हैं क्या उसे निर्गु-निया लोगों के कहने ही से झट भूल जायँ ! अच्छा एक बात इसी समय न देख लीजिये आप लोग कृपाकर सोचिये कि एक बड़ा भारी तालाब है—और उसके चारों ओर पक्का घाट बँधा है। उसी के ठीक मध्य में एक वटवृक्ष है। उस वृक्ष की पल्लवित घनी शाखायें ऐसी फैली हैं कि चारों ओर की सीढ़ियों पर कुञ्ज भवन कीसी शोभा हो रही है। इसको एक मिनट में सब कोई चित्त में जमा लीजिए। अच्छा अब मेरा निवेदन यही है कि इसे सब कोई भूल जाइये। यह अवश्य मिथ्या है आप ही लोगों का मान लिया हुआ है। भूल जाइयो—क्या साहब "जगत् मिथ्या है" यह अभ्यास कर

यदि जगत् को भूल जाना भी सम्भव है तो फिर क्या हुआ यह तालाब मिथ्या है, यह वट मिथ्या है यों अभ्यास कर इसे भूल जाइये। अच्छा कुछ दिन की छुट्टी ले लीजिए, प्रतिदिन एक घण्टे यही रगड़न्त करते रहिए और जब भूल जाइये तो हमें सूचित कीजिएगा। देखिए मान भी लिया जाय कि सचमुच जगत् मिथ्या है तो यह अभ्यास सहज में जा सकता है?

कभी कभी लोगों को दिग्भ्रम हो जाता है तो लोग समझते हैं कि दक्खिन को सूर्योदय हो रहा है। तब एक बेर तो चकमकाते हैं कि यह क्या हो गया हम जिसे दक्खिन समझते हैं उधर सूर्य का चक्का कहाँ से आ गया, फिर निश्चय करते हैं कि सूर्य तो क्या पूर्व छोड़ दक्खिन जायगा यह हमारे ही नेत्रकमलों की महिमा है कि हम पूर्व को दक्खिन समझते हैं। यह सर्वथा हमारा भ्रम है। परन्तु देखिये तो कैसी आश्चर्य की बात है कि यह निश्चय होने पर भी ऊपर ऊपर से तो लोग समझ लेते हैं कि यही पूर्व है पर भीतर से धड़का नहीं जाता।

कहिए तो इसका क्या कारण है? भ्रम हुए बड़ी देर नहीं हुई इस भ्रम के स्थिर रहने की कोई प्रबल सामग्री नहीं है! इस भ्रम को हटाने की सामग्री में सूर्यनारायण ही चमचमाती किरणों के जाल से अन्धकार हटाते सामने विद्यमान हैं। सहस्त्रों इष्टमित्र ताली दे हँसते हैं कि "हो हो हो पूर्व को दक्खिन कहते हैं!" स्वयं भी जानते हैं कि "यस्यामुदेति सविता किल सैव पूर्वा" यह भी निश्चय किये बैठे हैं निःसन्देह हमारा ही भ्रम है! पर तो भी वह खटका जी के बाहर नहीं होता!! यह क्षण मात्र का भ्रम भूत सा सिर पर चढ़ गया कि जितने ही छन्द बन्ध कीजिए पर उससे छुटकारा नहीं! अब सन्ध्यापूजा आदि के समय बड़े

सोच विचार से पूर्व मुख बैठते हैं पर न जानें कौन तो कान में सनसनाता है पर यह पूर्व तो नहीं जान पड़ता !!—कहिए तो यह भ्रम की वासना हृदय से क्यों नहीं निकल जाती। अब आप ही लोग सोचिये तो, जब इस छोटे से भ्रम को हम लोग देखते हैं कि कितना उपाय करने से भी उम्र भर साथ जाता है तो जो अनादि वासना से बन्ध हो रहा है, जिस भ्रम का आरम्भ समय जानना परम कठिन है जिस भ्रम के विद्यमान रखने की कोटि कोटि दुर्वासनायें प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं, और जन्मजन्मान्तर से जिसका अभ्यास चला आता है उसका समूल घात नाश चट पट ही कैसे हो जायगा? अब कहिए तो यदि कोई "भ्रम दूर होगा ब्रह्मज्ञान हो जायगा और मोक्ष पद मिलैगा" इस मन के मंगल ही पर जो सगुणोपासना भी छोड़ छाड़ "घर के न घाट के" हो जाते हैं वे कौन बड़ी बुद्धिमानी प्रगट करते हैं?

अब देखिये वही वेदान्तियों के सिद्धान्त मूर्ति-पूजा द्वारा कैसे सुखपूर्वक सिद्ध होते हैं। जगत् का सम्पर्क छोड़ परमात्मा में एक दम लीन हो जाना बात तो इतनी भी है और इसी के साधने में अहन्ता ममतादि का त्याग है तो जगन्मिथ्या जगन्मिथ्या कहते कहते तो आप लोगों को बतलाया ही जा चुका है कि "पदांगुष्ठशिरोपाग्निः कदा मौलिमवाप्स्यति" और बाबा किसी अधिकारी को उसी ढँग से शीघ्र जगत् से असम्पर्क हो और आत्मानुभव हो तो हम उनके लिए कुछ मना भी नहीं करते वह ब्रह्मानन्द में डूबै, पर देखिए तो भक्तों का एक कैसा अद्भुत रस्ता है। जैसे कोई रोगी औषध खाना ही न चाहै और बिना कुपथ्य घी खाये रही न सकै तो वैद्य लोग उसी घी को एक स्वतन्त्ररूप बना के उसी में

औषध मिला के उसे देते हैं वैसे जब यह जन्मजन्मान्तर का विषयासक्त जीव भव रोग के महौषध स्वरूप परमात्मा में डूबता ही नहीं और परम कुपथ्य ही विषयों को छोड़ता ही नहीं तो क्या युक्ति रक्खी गई है कि कुपथ्य में ही औषध मिला दिया। देखिये जिस जगत् के जाल से जन्मजन्मांतर से फँसा हुआ यह जीव दुःख समुद्र में पड़ रहा है वही जगत् अमृत हो गया। आपके कानों में यदि संगीत ऐसा समा गया है कि सोये सोये भी आप मृदङ्ग की परनें सुना करते हैं तो हम आपको संगीत से छुड़ाना नहीं चाहते। आप वही संगीत भगवन्मन्दिर में बैठ भगवत्सम्बन्धी भजनों से कीजिए तो आप स्वयं देखेंगे कि चित्त कैसा एकाग्र हो भगवान् में डूब गया है। यह संगीत ही का महात्म है कि जिस मन को योगी लोग शरीर के बन्ध बन्ध तोड़ भी शीघ्र वश नहीं कर सकते हैं उसी चंचल मन को संगीत क्षण मात्र में वश करता है। यह संगीत ही का काम है कि सुर ताल में डूबा हुआ बिना अर्थ का "तननतूं" भी जहाँ किसी ने आरम्भ किया कि सुनने वाले काठ हो गये और उन्हीं तानों की गमकों के साथ कलेजा हिलने लगा और कहाँ बैठे हैं क्या करते हैं कौन देखता है क्या समय है यह कुछ स्मरण न रहा। अब उसी संगीत में यदि कुछ अर्थ हो तो मन उसी अर्थ में परिपूर्ण डूब जायगा इससे भी कुछ सन्देह नहीं है। यदि इस अर्थ को आपने बुरा रक्खा तो वही अर्थ नरक में बोड़ने वाला हुआ (जैसे तुच्छ ग़ज़लें) और यदि यही अर्थ ज्ञान बैराग्य भक्ति से भरा हुआ भया तो फिर क्या बात है उसी क्षण जगत् को भूल जाइये और उस परमात्मा के आनन्द में डूबिए। इसका अनुभव दुराग्रह से जटिल नास्तिकाधम को कभी न होगा पर हाँ

जो महात्माओं के संग में पड़े हैं और भजनानन्द में डूब चुके हैं वही जानते हैं कि क्या समाधि का भी आनन्द है कि जहाँ किसी ने "मैं प्रभु पतित पावन सुनें, मैं पतित तुम पतित पावन दौऊ बानक बने", "जाऊँ कहां तजि चरन तिहारे", "जाके प्रिय न राम बैदेही" इत्यादि भजन छेड़े कि चित्त एक दम अपना अभिमान छोड़ भगवान् के शरण आता जाता है और अपने दुराचारों का स्मरण कर एक बेर रुलाई सी आ जाती है। अब इस स्वर कलाप में डूब नाद के तन्तु में लटकता हुआ चित्त संसार को तो भूल जाता है और परमात्मा को उसी के अर्थ में पाता है और उसी में रमता है, फिर जिस सगुण मूर्ति को भजन में पाता है उसी को आँख खोल मन्दिर में देखता है, उसी को कथाओं में पाता है, उसी का नाम ले औरों को भी उछलता नाचता देखता है, उसी के नाम राम-नामें छपे हैं, उसी की छाप तिलकों में लगी है, उसी की सूचना करने वाली तसवीरें लटक रही हैं, उसी के वर्णन के स्तोत्रों का पाठ हो रहा है, उसी में डुबाने वाले काव्य पढ़े जा रहे हैं, उसी को दीनबन्धुता, शरणागत, वत्सलता और पतितपावनता रोम रोम में समा रही है, अब ऐसे समय चित्त एकाएकी जगत् से अलग हो उसी प्रेमपीयूष के समुद्र में डूब जाता है। सावन आया तो उसी का उत्सव, भादों में उसी का उत्सव, गर्मी में उसी के मन्दिर में फुहारों की बहार, होली में उसी के उछाह से गुलाल उड़ती है, कातिक में उसी का दिवाली अन्नकूट होता है और माघ में उसी का वसन्तोत्सव होता है। यों मूर्तिपूजा के रंग में मस्त लोगों को सारा बरस उसी परमात्मा के स्मरण और आनन्द में डूबे बीतता है और सब दिन भी इसी आनन्द में जाता है क्योंकि सबेरे उठते ही तो "प्रातः

स्मरामि रघुनाथमुखारविन्दम्" कहते हुए मंगल आरती के दर्शन किये, आहा! इसका आनन्द उसी को आता है जिसने मथुरा, वृन्दाबन आदि स्थानों में मंगल आरती के दर्शन किये हैं। आहा! इस समय भी स्मरण करने से ऐसा जान पड़ता है कि मानों रात्रि का अन्धकार क्रम से पीछे हट चला है, पूर्व की ओर कुछ कुछ सपेदी आगई है, चिड़ियों ने धीमे धीमे कोमल सुर से कुछ कुछ चकचकाहट आरम्भ की है और ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है। और इसी समय नींद खुली है और आँख खोलते ही चट नारायण का नाम ले कुछ आवश्यक कृत से निमट जै जै करते मन्दिर की ओर दौड़ पड़े हैं और वहाँ भीड़ की भीड़ जय ध्वनि कर रही है और शृङ्गारित प्रभु की मूर्ति का दर्शन हो रहा है, हम दर्शन तो एक वित्ते भर की मूर्ति का करते हैं पर न जानै क्यों उस समय सर्वव्यापक का साक्षात्-कार होता है। हम साधारण वैभव में इनकी झाँकी करते हैं पर न जानै क्यों हमारी आँखों के आगे वह वैभव झलक जाता है कि मानों हम उन पुरुषोत्तम में डूबे हैं जिस के एक रोम पर कोटि ब्रह्माण्ड हैं यह कहैं तो थोड़ा हो। हम सैकड़ों खिलौने देखा करते हैं कहने को तो एक वैसी ही मूर्ति हमारे सामने है पर इस मूर्ति ने न जाने क्या जादू और टोना कर दिया है कि ज्यों ज्यों झुक झुक के दर्शन करते हैं त्यों त्यों हृदय उमँगता जाता है और उस परमात्मा के आनन्द के आँसू चले आते हैं। ऐसे ही थोड़ी थोड़ी देर में सिंगार के दर्शन, राजभोग के दर्शन, सन्ध्या आरती, शयन आरती आदि एक पर एक आमोद लगे रहते हैं और सब दिन उसी में बीतता है। और दिन क्या समूचा जीवन उसी आनन्द में बीतता है।

---

# पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

[ १८६५–१९४७ ]

---

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उपाध्याय जी का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहेगा। वर्तमान हिन्दी-कविता की धारा को चिरप्रचलित ब्रजभाषा की ओर से हटाकर खड़ी बोली की ओर प्रेरित करने में उपाध्याय जी ने उसी प्रकार का परिवर्तन उपस्थित कर दिया है जिस प्रकार प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने अँगरेज़ी कविता में उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनके 'लिरिकल् बैलेड्स' ( Lyrical ballads ) ने एक नये ढँग की कवितायें जनता के सम्मुख रखी थीं, जिनकी भाषा में अभूतपूर्व सारल्य था और जो सबके लिए समानरूप में सुबोध थीं।

उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' नामक भिन्नतुकान्त महा-काव्य उसी खड़ी बोली के परिष्कृत रूप में लिखकर हिन्दी-कविता में एक असाधारण उथल-पुथल मचा दी थी। इसके सिवाय 'तिनका', 'आँसू' ऐसे साधारण विषयों पर भाव-पूर्ण कविता बनाकर उन्होंने इस बात का निराकरण कर दिया है कि किसी समय की बोल-चाल की भाषा में उच्चकोटि के काव्य-साहित्य का निर्माण नहीं किया जा सकता।

इससे अधिक यहाँ पर उपाध्याय जी के कविता-विषयक कार्य पर कहना अप्रासंगिक होगा। अब उनके गद्य के सम्बन्ध में विचार करना है। अयोध्यासिंह जी ने हिन्दी-गद्य के उन्नयन में यद्यपि उतना युगपरिवर्तनकारी काम नहीं किया जितना कि कविता के लिए किया है, तथापि उनकी गणना अपने समय के थोड़े से मननशील गद्य-लेखकों में रहेगी। गद्य पर उन्होंने केवल कोरा विचार ही नहीं किया है, किन्तु उत्पन्न हुई तत्कालीन कई तरंगों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके उन्होंने अपने विचारों का निदर्शन 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' आदि पुस्तकों के द्वारा किया है।

१९वीं शताब्दी के पूर्व काल में जब उर्दू और हिन्दी दोनों के आधुनिक गद्य-साहित्य की नींव रक्खी जा रही थी, तब तक उन दोनों के शब्द-कोशों पर फ़ारसी और संस्कृत का प्रबल आक्रमण होना शुरू नहीं हुआ था। यही नहीं, हिन्दी और उर्दू का पारस्परिक साम्य बहुत अंश में अक्षुण्ण बना हुआ था। हाँ, यह बात ही और थी कि फ़ारसी-लिपि का अधिक प्रचार होने लगा था। यहाँ तक कि उस समय की बहुत सी हिन्दी पोथियाँ, जैसे मुंशी सदासुखलाल-कृत 'सुखसागर', फ़ारसी-लिपि में ही लिखी गई थीं।

बाद को राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उद्योग से देवनागरी अक्षरों का पुनरुज्जीवन हुआ, परन्तु हिन्दी में फिर भी उर्दू का पूरा बोलबाला था।

राजा शिवप्रसाद से कुछ उर्दू-प्रेमियों ने जान-बूझ कर वह उर्दू का प्रभाव हिन्दी में रख छोड़ने में योग दिया था।

कालान्तर में आर्यसमाज के प्रोत्साहन से संस्कृत की ख़ासी धूम मची। धार्मिक खंडन-मंडन के जोश में आकर असंख्य पंडितों ने सनातनधर्म अथवा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का सर्वसाधारण में प्रचार करने की दृष्टि से तथा अपने अपने दल की ओर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए हिन्दी में काफ़ी पर्चे निकाले। इस प्रकार संस्कृत-पंडितों ने हिन्दी को धीरे धीरे अदृश्यरूप से संस्कृतमय बना डाला। अन्त में देखादेखी संस्कृत-शैली के अनुयायी बहुत से हिन्दी लेखक पैदा हो गये।

हिन्दी-गद्य की इस संस्कृतमयता का नियमन भारतेन्दु की ब्रजभाषा तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र की ग्रामीण शब्दावली के द्वारा हुआ। भारतेन्दु ने

"अरे, आज किस वैरी की छाती ठंडी भई? अरे, बड़े बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी होगा"

इस प्रकार के ब्रजभाषा के शब्दों को अपने गद्य में स्थान देकर संस्कृत की उमड़ती हुई बाढ़ को हिन्दी में आने से रोकने का प्रयत्न किया। इसी तरह पं० प्रतापनारायण ने "राम राम क्या मनहूसी की बात निकाल बैठे? सियारों के मुँह कहां

मंगल निकलते हैं ? न सूझै न बूझै मुँह में आया सो बके सिद्ध" इस प्रकार की गँवारू बोल-चाल की भाषा का व्यवहार करके अपने समय के साहित्य को संस्कृतमयी बनने से बचाया।

इसी स्थान पर पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय का नाम भी उल्लेख्य है। उन्होंने संस्कृत की प्रबल बाढ़ से हिन्दी की रक्षा एक विशेष युक्ति से की। उन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' ये दो उपन्यास बिलकुल बोल-चाल की भाषा में लिखकर तैयार किये। जहाँ तक सम्भव था उन्होंने संस्कृत-शब्दों के शुद्ध रूपों के बदले में उनके तद्रूप अपभ्रंश शब्दों का ही प्रयोग किया। इसके सिवाय देहाती मुहावरों का पूरा समावेश किया। यही बात है कि जिससे उन दोनों 'ठेठ हिन्दी' में लिखी हुई पुस्तकों का गद्य बड़ा सुन्दर है, और अन्तर्गत जो वर्णन-स्थल हैं वे भी अत्यन्त हृदयग्राही हैं।

उस ठेठ भाषा के विषय में एक बात यह है कि यद्यपि यह बोल-चाल से ली गई है, तथापि उसमें निरी ग्रामीणता ही है। पं० प्रतापनारायण मिश्र जिस प्रकार की गँवारू भाषा प्रायः अपने लेखों में लिखा करते थे, वह न तो 'ठेठ' में और न 'अधखिला फूल' में ही मिलेगी। जैसा कि उपाध्याय जी की भूमिका में स्वयं 'कहानी ठेठ हिन्दी' के लेखक के शब्द उद्धृत करते हैं: ठेठ-भाषा वह है जो शिक्षित लोग आपस में बोलते चालते हैं। भाषा वैसी ही हो, गँवारी न होने पावे।"

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' दोनों की भाषा उपयुक्त कसौटी पर बहुत कुछ ठीक उतरती है।

इतना जरूर है कि उस प्रकार की ठेठ भाषा में अपभ्रंश संस्कृत-शब्दों के साथ साथ यत्र-तत्र ब्रजभाषा तथा प्रान्तीय बोलियों के भी शब्द आ गये हैं। वैसे तो 'अधखिला फूल' की भूमिका में उपाध्याय जी कह चुके हैं कि संस्कृत के अत्यधिक आश्रय से बचने के लिए ब्रजभाषा तथा बोल-चाल दोनों से बेरोक-टोक हमें शब्द लेने पड़ेंगे। अन्यथा, उर्दू से ऋण लेने पर विवश होना पड़ेगा। अस्तु। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' से जो अवतरण संग्रह में दिया गया है उसकी शब्दावली में कुछ बातें उल्लेख्य हैं। साधारण प्रतिदिन के जीवन के भावों को व्यक्त करने के लिए जिन शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग किया गया है उन्हें अनपढ़ से अन पढ़ श्रोताभी बिना किसी मानसिक श्रम के सहज में समझ सकता है। परन्तु इससे यह समझ लेना कि उस प्रकार की 'ठेठ भाषा' में लिखी हुई पुस्तक का गद्य सर्वांश में आडम्बररहित है, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। प्रत्युत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की भाषा कई स्थानों पर ऊँची उड़ानें लेती है। उदाहरणार्थ तेरहवें 'ठाठ' के आरम्भ में जिससे प्रस्तुत संकलन किया गया है, प्रकृति के तादात्म्य के वर्णन करने के ढँग में बड़ी सजीवता दिखाई गई है जो साधारण बोल-चाल में नहीं रहती।

अस्तु 'ठाठ' की भाषा में शाब्दिक सारल्य के साथ साथ प्रभावोत्पादिनी शक्ति भी कहीं कहीं काफी है।

पर कुछ जगहों पर घरेलूपन भी है, जैसे :—

"पीछे किरिया करम का झमेला हुआ, दूसरे काम-काज की झंझट हुई।"

वास्तव में ठेठ भाषा में अपने ढंग के दो उत्तम उपन्यासों को निश्चित उद्देश्य से लिखकर उपाध्याय जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना खरे संस्कृत शब्दों अथवा उत्कृष्ट उर्दू की पदावली का सहारा लिये ही बोल-चाल की भाषा में सजीव से सजीव गद्य लिखा जा सकता है। तात्पर्य यह है, कि इन्होंने सदा के लिए हिन्दी-गद्य को बोल-चाल की ओर प्रेरित किया।

इस विषय में वे कह भी चुके हैं कि 'किसी भाषा के लिखने की चेष्टा करने पर यथासाध्य उसको उन्हीं शब्दों में लिखना चाहिए जिनमें कि वह बोली जाती होवे—अन्यथा वह उन्नत कदापि न होगी।'

एवं वाग्धारा और साहित्यिक भाषा के बीच में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अयोध्यासिंह जी ने हिन्द-गद्य को 'ठेठ भाषा' में ढालने का प्रयत्न किया। सम्भव है कि उनके इस प्रयत्न का कुछ न कुछ प्रभाव इधर के लेखकों पर पड़ा हो।

अब उनकी ठेठ गद्य-शैली को छोड़ कर उनकी वास्तविक शैली का विवेचन करना है। क्योंकि 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' इन दोनों की भाषा एक ध्येय विशेष से उन्होंने यत्नतः गढ़ ली थी; उससे उनकी स्वाभाविक लेखन-कला का अंदाज़ा नहीं लगता।

गद्य-भाषा के सम्बन्ध में वे अपने विचार स्पष्टरूप में यों व्यक्त कर चुके हैं :—

"शुद्ध संस्कृत-शब्दों के स्थान पर व्यवहृत अपभ्रंश संस्कृत-शब्दों का प्रयोग मैं उससे उत्तम समझता हूँ। 'आँख', 'नाक', 'कान', 'मुँह', 'दूध', 'दही', के स्थान पर लिखने के समय हम इनका शुद्ध रूप 'अक्ष', 'नासिका', 'कर्ण', 'मुख', 'दुग्ध', 'दधि' इत्यादि व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु भाषा इससे कर्कश हो जावेगी, जनसाधारण को बोधगम्य न होगी, साथ ही उसका हिन्दीपन लोप हो जावेगा।"

अर्थात कम से कम सिद्धान्ततः उपाध्याय जी संस्कृत-शब्दों को तभी स्वीकार करेंगे, जब उनके स्थान में बोल-चाल के उपयुक्त अपभ्रंश शब्द न मिलें। उनका मत है, जैसी कि आज-कल बहुत लोगों की धारणा हो चली है, यदि हिन्दी का अस्तित्व अलग स्थिर रखना है तो उसे यथासाध्य संस्कृत के व्याकरण और शब्दावली से विमुक्त रखना चाहिए और उसे निर्जीवता से बचाने के लिए बोल-चाल की ओर ही प्रवृत्त करना चाहिए।

किन्तु, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि इस प्रकार की सीधी-सादी, बोल-चाल की भाषा गूढ़ तथा गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में भी उतनी ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है कि जितनी साधारण, हलके विषयों के लिए।

उपाध्याय जी स्वयं मानते हैं :—

"यदि कोई वादग्रस्त विषय लिखना होवे, किम्वा कोई गूढ़ मीमांसा करना हो, अथवा मनोभावव्यंजक कोई उपयुक्त शब्द भाषा में न प्राप्त होता होवे तो हम संस्कृत शब्दों से हिन्दी लिखने के समय अवश्य काम में ले सकते हैं।"

उनके कथन का सारांश यह है कि यदि किसी लेखक में विषयानुसार शैली को परिवर्तित करने की क्षमता नहीं तो वह लेखक ही कैसा? जहाँ भाव जटिल हों और उन्हें व्यक्त करने के लिए साधारण शब्द असमर्थ हों, वहाँ संस्कृत का सहारा अवश्य लेना पड़ता है। एवं, प्रत्येक विचारशील लेखक का केवल यह कर्त्तव्य है कि वह सुगम से सुगम विषय पर भी लिखते समय अच्छे से अच्छे बोल-चाल के शब्दों को छोड़ कर व्यर्थ में संस्कृत के अधीन न हो जाय।

पं० अयोध्यासिंह जी स्वयं प्रायः संस्कृतमय गद्य लिखते हैं। कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु तब भी उनके वाक्यों में वह दुरूहता नहीं होती जो कि पं० श्रीधर पाठक तथा पं० गोविन्दनारायण मिश्र की भाषा में पाई जाती है। उनका वाक्य-विन्यास भी सरल होता है।

क्योंकि वे एक सरसहृदय पुरुष तथा उच्चकोटि के कवि हैं, इसी लिए उन्हें सरस भाषा से प्रेम है। यही कारण है कि उनके वास्तविक गद्य में संस्कृत-पदावली की अच्छी छटा रहती है। सच्चे कवि की भाँति गद्य लिखते समय भी उनकी

भावुकता उन्हें झंकारपूर्ण कोमलकान्त शब्दों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है।

कहा जाता है कि कवियों का लिखा हुआ गद्य भी अच्छा होता है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि कविता लिखते लिखते तथा पिंगल आदि के नियमों का पालन करते करते कवियों की मानसिक उच्छृंखलता का समुचित नियमन हो जाता है और उन्हें संयत भाषा लिखने पर बाध्य होना पड़ता है। इसी से गद्य लिखते समय वे वाक्य-रचना के नियमों का उल्लंघन करने से बचते हैं।

अस्तु, उपाध्याय जी की संस्कृत-गर्भित गद्य-शैली में जो सौष्ठव तथा जो विशदता है उसका श्रेय उनके काव्य-कौशल को है। क्योंकि वे कवि पहले हैं और गद्य-लेखक पीछे; तभी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं है।

एक बात और है। 'ठेठ' वाली भाषा को एक विशेष प्रकार के सोद्देश्य गद्य का उदाहरण मान कर अलग रखिए और उनके साधारण प्रकार के गद्य पर विचार कीजिए तो ज्ञात होगा कि उस में गम्भीरता है, हास्य और व्यंग उनकी प्रकृति के विरुद्ध हैं। इसी दृष्टि से पं० अयोध्यासिंह जी को संस्कृतमय श्रेणी के गद्य-लेखकों के साथ में रखना चाहिए।

---

# देवबाला की मृत्यु

सूरज वैसा चमकता है, बयार वैसी ही चलती है, धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही अपनी ठौरों खड़े हैं, उनकी हरियाली वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे हिलते हैं, चिड़ियां वैसी ही बोल रही हैं, रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चांदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है पर देवबाला मर गई। धरती के लिये देवबाला का मरना जीना दोनों एक सा है। धरती क्या, गांव में चहल पहल वैसी ही है। हँसना, बोलना, गाना, बजाना, उठना, बैठना, खाना, पीना, आना, जाना सब वैसा ही है। देवबाला के मरने से कुछ घड़ी के लिए दो एक जन का कलेजा कुछ दुखा था, पर अब उनको देवबाला की सूरत तक नहीं है। वह भी देवबाला को भूल गये। हां! अब तक एक कलेजे में दुःख की आग जल रही है। अब तक एक जन की आँखों में आँसू बहता है, वह देवबाला के लिये बावला बन रहा है। वह दूसरा कोई नहीं रमानाथ है। पीछे किरिया करम का झमेला हुआ, दूसरे काम काज की झंझट हुई। रमानाथ को ही यह सब सम्हालना पड़ा। धीरे धीरे उसका दुख भी घटने लगा, धीरे धीरे वह भी देवबाला को भूल रहा है। एक एक करके दिन जाने लगे देवबाला को मरे कई दिन होगये, पर देवनन्दन अब तक नहीं भूले हैं। अब तक वह लड़कपन की हँसती खेलती देवबाला, अब तक वह ब्याह के पहले की बिना घबराहट की लजीली देवबाला, अब तक वह दुखिया रोती कलपती देवबाला, उनकी आँखों में, कलेजे में, रोयें रोयें में, घूम रही है। सो उठते, बैठते,

खाते, पीते, देवबाला ही की सूरत उनकी बनी रहती है। वह सोचते हैं। क्यों? देवबाला की कोई ऐसी कमाई तो नहीं थी, जिससे उसको इतना दुख मिले, फिर किस लिए उसका ब्याह ऐसे निठल्लू, निकम्मे अनपढ़ बुरे के साथ हुआ जिससे उसको कलप कलप कर दिन बिताना पड़ा, क्यों उसके माँ बाप ने उसको ऐसे घर में ब्याहा जहाँ वह एक मूठी नाज के लिए तरसती रही। क्यों ब्याह के छही महीने पीछे ससुर मर गया। बरस भर पीछे सास भी मर गई। माँ बाप जगन्नाथ जी गये, फिर न लौटे। रमानाथ कहते थे, वह दोनों एक दिन कलकत्ते में मर गये। क्यों एक के पीछे एक यह सब कलेजा कँपाने वाली बातें हो गईं। और क्यों जब उसके दिन फिर फिरने को हुए तो वह आप ही चल बसी? क्या जो इस पृथ्वी पर डर कर चलता है वही मुँह के बल गिरता है? क्या धरम से रहने वाले ही को सब कुछ भुगतनी होती है। राम जाने यह क्या बात है। पर जो ऐसा न होता, देवबाला को इतना दुख न भोगना पड़ता। सास ससुर सब दिन जीते नहीं रहते। माँ, बाप, सास, ससुर के मरने से कभी देवबाला को इतना दुख न भुगतना होता, जो रमानाथ भला होता। रमानाथ के बुरे और निकम्मे होने ही से देवबाला की यह सब दशा हुई। इससे मैं समझता हूँ देश की बुरी रीति जो रमाकान्त के जी को डाँवाडोल नहीं कर सकती, अनसमझी से जो वह हाड़ ही को सब बातों से बढ़ कर समझते, झूठे घमण्डों के बस उतर कर ब्याह करके लोगों से हँसे जाने का जो उनको दुख न होता, तो वह हठ न करते और जो वह हठ न करते तो रमानाथ जैसे कूर के साथ देवबाला का ब्याह न होता, और जो रमानाथ के साथ देवबाला का ब्याह न होता, तो कभी

देववाला जैसी भली तिरिया की यह दशा न होती। देश की बुरी रीतियों, झूठे घमण्डों से कितने फूल जो ऐसे ही बिना बेले कुम्हिला जाते हैं, कितनी लहलही बेलियां जो नुच कर सूख कर धूल में मिल जाती हैं नहीं कहा जा सकता। राम! क्या यही चाहते हो, यह देश बुरी रीतियों से ऐसे ही दिन दिन मिट्टी में मिलता रहे। इतना कह कर देव-नन्दन फिर सोचने लगा, जब मैंने जग से नाता तोड़ लिया, जी के उचाट से घर दुआर छोड़ कर साधू हो गया। अपना व्याह तक नहीं किया, एक कौड़ी भी अपने पास नहीं रखता। काम लगने पर दूसरे का दुख छुड़ाने के लिए दो चार सौ अपने भाई से लेता था। अब वह भी नहीं लेता। उसी को समझा दिया, मेरे बाँट के रुपये से दीन दुखियों का भला करते रहना। जब इस भांति में झमेलों से दूर हूँ तूँबा और लँगोटी ही से काम करता हूँ।

तो फिर एक तिरिया की घड़ी घड़ी सुरत किया करना, उसके दुखों को सोच सोच कर मन मारे रहना, देश की बुरी रीति के लिये कलेजा पकड़ना, आँसू वहाना, मुझे न चाहिए। अब इन बखेड़ों से मुझको कौन काम है। धरती का ढंग ऐसा है, सब दिन सब का एक सा नहीं वीतता। उलट फेर इस जग में हुआ ही करता है, इसको कौन रोकने वाला है। फिर उसने सोचा भभूत लगाने से क्या होगा, गेरुआ पहनने से क्या होगा, घर दुआर छोड़ने से क्या होगा, लँगोटी किस काम आवेगी, तूँवा क्या करेगा, साधू होने ही से क्या, जो दूसरे का दुःख मैं न दूर करूं, दुखिया को सहायता न दूं, जिस काम के करने से दस का भला हो उसमें जी न लगाऊँ। देस की बुरी वात के दूर होने के लिए जतन करना,

लोगों के झूठे घमंड को समझा बुझा कर छुड़ाना; जिससे एक को कौन कहे लाखों का भला होगा, क्या मेरे साधू होने का सब से बड़ा फल यह नहीं है? देवबाला भूल जावे, उसको अब भूल जाना ही अच्छा है। पर साँस रहते मैं दूसरों की भलाई के कामों को कैसे भूल सकता हूँ! पर क्या कभी मेरे मन की बात पूरी होगी? क्या कभी यहाँ वाले अपने देश की बुरी चालों को दूर करना सीखेंगे।

क्या दूसरों की भलाई का रंग यहाँ वालों पर चढ़ सकता है? क्या हठ छोड़ कर इस देश के लोग भली भाँति बातों के करने में जी लगा सकते हैं? क्या जतन करने से कुछ होगा? इसी बेले देवनन्दन ने सुना जैसे किसी ने कहा "हाँ होगा"। उन्होंने आँख उठा कर देखा आकाश से एक जोत सामने उतरती चली आती है और उसी में बैठा जैसे कोई कह रहा है "हाँ होगा"। देवनन्दन थिर होकर उसको देखने लगे। उसी में फिर यह बात सुन पड़ी, मुझको तुम जानते हो? मेरा नाम आता है, मेरे बिना धरती का कोई काम नहीं चल सकता, मैं तुमको बतलाती हूँ। जतन करो, जतन करने से सब कुछ होगा। देवनन्दन ने बहुत बिनती के साथ कहा, कब तक होगा, माँ? फिर यह बात सुनने में आई कि जतन करने वाले का कब तक की बात मुँह पर न लानी चाहिए। जब तक उसका काम न हो तब तक उसे जतन करते रहना चाहिए। देवनन्दन ने देखा इतनी बातों के कहने पीछे वह जोत फिर आँखों से ओझल हो गई। देवनन्दन कब तक जीते रहेंगे और किस किस ढंग से उन्होंने देश की बुरी चालों को दूर करने के लिए जतन किया, कैसे खोटी छुटा कर अपने देश भाइयों का भला करना चाहा, इन सब बातों को यहाँ उठाने

का काम नहीं है पर जब तक वह जीते रहे, उनका यह काम था, कुछ दिनों रमानाथ भी उसका साथी हो गया था।

बहुत दिनों तक लोगों ने देवनन्दन को दूसरों की भलाई के लिए घूमते देखा था, पर पीछे उनको भी धरती छोड़नी पड़ी। जिस दिन उन्होंने धरती छोड़ी, उस दिन चारों ओर से लोगों को यह बात सुन पड़ी थी "क्या फिर कोई देवनन्दन जैसा माई का लाल न जन्मेगा?"

[ 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' से ]

# बाबू श्यामसुन्दरदास

[ सन् १८७५-१९४७ ]

—:o:—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आजतक हिन्दी की जो आश्चर्यमयी साहित्यिक अभिवृद्धि हुई है उसका श्रेय जिन महापुरुषों को है उनमें से बाबू श्यामसुन्दरदास जी का बड़ा ऊँचा स्थान है। काशी, जो सनातनकाल से आर्यसंस्कृति का विश्वप्रख्यात केन्द्र रहा है, 'जहाँ के पंडितों की अगाध विद्वत्ता का परिचय एतद्देशीय तथा विदेशी विद्वानों को सदा से मिलता रहा' है, वहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने परम्परागत आई हुई साहित्यिक शृंखला को अपने जीवन-काल में फिर से पुष्ट करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने समय की उठती हुई देश-भक्ति की लहर के वेग में हिन्दी को एक नया साहित्यिक स्वरूप दिया।

भारतेन्दु के अस्त होने पर काशी में साहित्यिक चर्चा का सिलसिला चलता ही रहा। पर उसे केन्द्रीभूत करने का श्रेय कुछ नवयुवकों को है। उनमें से बाबू श्यामसुन्दरदास जी प्रधान थे, क्योंकि उन्हीं के उद्योग से नागरीप्रचारिणी सभा खुली और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

एवं, आजकल हिन्दी को अन्य देशी भाषाओं के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में बाबू साहब अपनी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा जितने सफल हुए हैं उसे देखकर यह स्वयसिद्ध है कि वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

यही नहीं, उन्होंने स्वयं कई ऐसी साहित्यिक रचनायें की हैं जो अपने ढँग की अद्वितीय हैं। प्रतिपादित विषयों के महत्व को देखते हुए 'साहित्यालोचन', 'भाषा-विज्ञान' तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' बिलकुल अपूर्व हैं, क्योंकि पहले ऐसे ग्रन्थों का हिन्दी में अभाव था।

भाषा के विषय में भी श्यामसुन्दरदास जी के अपने अलग सिद्धान्त हैं जैसा कि प्रत्येक साहित्यसेवी में मिलते हैं। अन्य सिद्धान्तों में से उनका प्रधान सिद्धान्त यह है कि हिन्दी समयानुकूल आवश्यकताओं को देखते हुए चाहे जितने परि-वर्तन क्यों न स्वीकार कर ले, किन्तु उसके वैयक्तिक शील तथा रूप पर किसी विदेशी भाषा का अनुचित आधिपत्य न जमने देना चाहिए। इसलिए उनका यह मत है कि आजकल संसार-व्यापी भाषा होने के कारण तथा भारत में उसका विशेष प्रचार होने से अँगरेज़ी यद्यपि हिन्दी को बहुत-कुछ प्रभावित कर रही है और कुछ सीमा तक उसका प्रभाव हिन्दी को उन्नति अथवा प्रगतिशील बनाने में सहायक भी हुआ है पर मननशील लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसे संस्कृत से विच्छिन्न न

होने दें। क्योंकि, बड़े वेग से बढ़ते हुए हिन्दी के प्रचार के समय में यह खतरा है कि कहीं वह अपना निज का स्वरूप तथा अस्तित्व ही न खो बैठे।

शायद इसी विचार से उनकी शैली शुद्ध संस्कृतमय होती है और उसमें आजकल के साधारण बोलचाल में काम आने वाले अन्य भाषा के शब्दों तथा मुहावरों का अभाव होता है। इसके सिवाय उनके लेखों के विषय भी गूढ़ होते हैं। इन्हीं कारणों से कहीं कहीं उनके गद्य की भाषा कुछ दुरूह हो जाती है। पर यह दुरूहता विशेष खटकने वाली नहीं है। हाँ, अलबत्ता उनके गद्य का उपयोग परिमित हो जाता है। अन्य लेखकों की भाषा की समीक्षा करते समय श्यामसुन्दरदास जी की गद्य-शैली आलोचनात्मक शैली के नाम से पुकारी जा सकती है। हिन्दी-गद्य के इतिहास में एक ओर से लल्लूलाल तथा राजा लक्ष्मणसिंह के संप्रदाय के हैं, और दूसरी ओर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से विदग्ध-साहित्य निर्माण करने वालों की श्रेणी में वे सम्मिलित हैं। राजा लक्ष्मणसिंह से उनका सम्बन्ध यों है कि उनकी तरह वे भी गद्य की भाषा को बोलचाल की भाषा से अलग रखने के पक्ष में हैं। साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में काफ़ी अन्तर रखना उनका प्रधान सिद्धान्त है।

इस प्रकार तीन तरह से श्यामसुन्दरदास जी के कार्य का

महत्व है। सब से अधिक प्रशंसा के योग्य जो काम उन्होंने किया है वह यह है कि उनके अविरल परिश्रम से हिन्दी-साहित्य को बड़ी उत्तेजना मिली है और उसकी भावी उन्नति का द्वार खुल गया है। इसके सिवाय उन्होंने कई बहुमूल्य रचनायें करके हिन्दी की साहित्यिक अभिवृद्धि की है। उन्होंने हिन्दी भाषा का कलेवर परिष्कृत बनाने में द्विवेदी जी के समान पूरा योग दिया है।

---

## समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृंखलायें विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाममात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसको स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्य-जनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमा-वली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते

हैं; पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वही उनका अंत नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। योंही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति, क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि में सब आरंभिक जीव समान ही थे; पर सबने एक सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अंत में प्रकृति-देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस

प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास विस्तार और उसकी संकुलता गई त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती, अथवा यह कहना चाहिये कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रयसंबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। मस्तिष्क के विकास से साहित्य का स्थान बड़े महत्व का है।

जैसी भौतिक शरीर की उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भाव–सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है उसके संचित भांडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता–निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही

उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देख कर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है? वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है? साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का स्थायी रूप में विशेष उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़ कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही

मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारतभूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिये। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है, अथवा विलासप्रियता में फँस कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगार-रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु—इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आगई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुप-योग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमानकाल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता-देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि

फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया ? भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ज्ञान धर्म की ओर रहा। जब जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिन्दू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है तब हमारा प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह जो हमारा सहायक नहीं हो सका है इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस संस्कृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सकता है और यह अब तक

आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लोभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिये जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके ? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी-भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी, और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर

दिखाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मत-भेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मतसंबंधी बिवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लियें केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिये।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मत-भेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी अभाव-पूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि यह केवल अन्य स्थानों के शब्दमात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिये। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उस में सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़ ढूँढ़ शब्द रखे गये हों और चार चार अंगुल के समास बिछाये गये हों, पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धसेंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों के बीच जो नये नये भावों का विकाश करने में समर्थ हो, जो इनके जीवन क्रम को उलटने पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिये जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरम्भ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है पर आशा है कि उचित पथके अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कवितायें और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदोंमें

# पं० रामचन्द्र शुक्ल

[ १८८३—१९४१ ]

—:*:—

भाव और भाषा दोनों के विचार से पं० रामचन्द्र जी शुक्ल की गद्य-शैली वस्तुतः संस्कृत है। क्या कविता, क्या गद्य-लेख दोनों गम्भीर से गम्भीर, दुरूह से दुरूह विषयों पर वे बहुधा लिखते हैं। उनकी भाषा भी अधिकतर शुद्ध होती है, क्योंकि गम्भीर विषयों का प्रतिपादन ग्रामीणतापूर्ण अथवा मिश्रित पदावली से नहीं हो सकता। छोटी मोटी नित्य की घटनाओं पर हलके, हास्य-पूर्ण निबन्ध लिखना पं० प्रतापनारायण, बाबू बालमुकन्द आदि लेखकों को ही शोभा दे सकता है क्योंकि उन लोगों की जीवनाभिरुचि बड़ी तीव्र थी और उनका अवतार ही इसी उद्देश्य के सम्पादन के अर्थ हुआ था कि वे अपनी साहित्यिक शक्ति को संसार की अत्यधिक गम्भीरता को सह्य बनाने में तथा लोगों में तल्लीनता या मस्ती का संचार करने में लगावें। परन्तु रामचन्द्र जी शुक्ल सरीखे गम्भीर-प्रकृति वाले पुरुष के मस्तिष्क से विचारपूर्ण साहित्यिक द्रव्य का आविर्भाव होना ही सर्वथा उपयुक्त है। उनके लेखों में काफ़ी चिन्तन-शीलता है। उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक स्वयं जीवन को बड़ा विषम तथा गहन समझता है।

इस प्रकार की गम्भीरता के कारण शुक्ल जी का गद्य दो उपयोगों के लिए परम उपयुक्त है। एक तो उसके द्वारा विदग्ध साहित्य-सम्बन्धी कोई भी सामग्री सुचारुरूप से तैयार की जा सकती है, जिस काम के लिए प्रतापनारायण मिश्र की ग्रामीणता तथा हास्यरस से भरी हुई भाषा अप्रयोज्य सिद्ध हो जावेगी। इसके सिवाय शुक्ल जी का गद्य दार्शनिक अथवा अन्य प्रकार के गहन भावों को व्यक्त करने के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। 'क्रोध', 'श्रद्धा', 'भय' ऐसे गूढ़ विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्ध तथा 'कविता क्या है' आदि साहित्यिक विषयों पर तार्किक संवाद उपर्युक्त बात के परिपोषक हैं। रामचन्द्र जी शुक्ल के गद्य लेखों की भाषा, जैसा अभी संकेत कर चुके हैं, अत्यन्त शुद्ध है। उसमें उर्दूपन अथवा ठेठपन न्यूनातिन्यून है। जो कुछ प्रभावपूर्णता अथवा शक्ति उनकी भाषा में है उसका श्रेय संस्कृत-शब्दावली को ही है। परन्तु उसमें कहीं कहीं जो दुरूहता आ गई है वह संस्कृत से लिये हुए शब्दों के मत्थे नहीं मढ़ी जा सकती, न यही कि उसे उनकी वाक्य-रचना की विषमता का फल कहें। इस दुरूहता का एक मात्र कारण लेखक की विचार-पूर्णता और गम्भीरता है जिससे उसके लेखों में एक प्रकार की क्लिष्टता का सा आभास होने लगता है।

शुक्ल जी के निबन्ध क्या हैं, स्वागत-भाषण से ( Soliloquies ) हैं। पढ़ते समय ध्यान देने से जान पड़ता है कि मानों

कोई एकान्त में बैठे हुए अपने मन के विचार अपने ही आप चुपके से प्रकट कर रहा हो, और उसे इस बात का बिलकुल भी परिज्ञान न हो कि मेरे आसपास कोई श्रोता भी है या नहीं। तभी तो उनके लेखों की भाषा में कहावतों और मुहावरों का अभाव सा है। बात यह है कि जिस लेखक की यह नियत होती है कि जितने ही अधिक संख्या में लोग मेरी कृति को पढ़ें तथा मुझे साधुवाद दें उतना ही मेरा परिश्रम सफल होगा। वही लिखते समय जन-साधारण की रुचि के संतोषार्थ भाँति भाँति की मनोरंजक उक्तियाँ और शब्द लाकर जुटाते हैं। शुक्ल जी तो उद्देश्यरहित होकर साहित्य-सेवा करते हैं, और इसी से विषय की अपेक्षा भाषा को गौण तथा कम महत्वपूर्ण मानते हैं। इसी से उनके लेखों में कोरे शाब्दिक जमाखर्च के लिए स्थान नहीं रहता। इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय फ्रेडरिक हैरिसन कहा करते थे कि :—

"साहित्य का क्षेत्र बड़ा विकट है। जिस किसी की इच्छा उसमें प्रवेश करने की हो उसे प्रथम आत्मनिरीक्षण से यह देख लेना चाहिए कि क्या सचमुच मेरे मस्तिष्क में विचारों की ऐसी गर्मी है जो बिना लिखे मुझे शान्ति नहीं लेने दे सकती"। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल वास्तव में उसी तरह के साहित्यसेवी हैं जो उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टिगत करके क़लम हाथ में लेते हैं। केवल क्षणिक साहित्य की रचना करने के आवेश में आकर अथवा ग्रन्थकार की पदवी पाने की लमक में उन्होंने लेखक-

वृत्ति नहीं स्वीकार की है। केवल आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही उन्होंने यह कार्य करना आरम्भ किया है।

---

# काव्य में प्राकृतिक दृश्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हमारी भाषा नये मार्ग पर आ खड़ी हुई, पर दृश्य वर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेन्दु जी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है; बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में गंगा का और 'चन्द्रावली' में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर यह दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परम्परा के अनुसार ही हैं; इतने में भी एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म सम्बन्ध-योजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक्-पृथक् कथन के साथ उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है। उनमें से एक नीचे दिया जाता है—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत;
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरवर सम सोहत;
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल छाय चहुँ ओर फहरत धुजा पताका;

घहरति घंटा-धुनि धमकत धौंसा करि साका।
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगुल उछारत;
जुग अम्बुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोवति सुन्दरि बदन करन अतिही छबि पावत;
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।

मैं समझता हूँ अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलंबन हैं; उनमें सहृदों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुयें और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियां तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य के अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन के बहुत इधर के होंगे उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे "सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में" बैठे हुए कवि जी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठ कर जीभ निकाल निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े "गुलगुली गिलमें गलीचा" बिछाकर बैठे स्वाँग से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजन चलाते हुए देसी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलंबन हैं, तब इस शंका

के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है। जो जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है क्योंकि भाव का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दांपत्य-रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना है "जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है" विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ या विषाद से रोता हुआ दिखावे। मैं आलंबन मात्र के विशद वर्णन को श्रोताओं में रसानुभव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो हिन्दी में नायिका-भेद और नख-शिख के जो सैकड़ों ग्रंथ बने हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नायिका-भेद में केवल शृङ्गार-रस के आलंबन का वर्णन होता

है और नखशिख के किसी पद्य में उस आलंबन के भी किसी एक अंग मात्र का। पर ऐसे वर्णनों से रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य-वर्णन मात्र को चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे हम काव्य कह सकते हैं। हिमालय वर्णन को यदि हम कुमारसम्भव से निकाल कर अलग करलें तो भी वह एक उत्तम काव्य कहला सकता है। मेघदूत में विशेष कर पूर्व मेघ में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन तो प्रधान है। यक्ष की कथा निकाल देने पर भी उसका काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर नखशिख की बात आ गई है, इस लिए मनुष्य के रूप–वर्णन के संबंध में भी दो चार बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। कारण दृश्य-चित्रण के अंतर्गत वह सभी आता है। पर उसमें भी रूप चित्रण का कोई प्रयास हम नहीं पाते, केवल विलक्षण उत्प्रेक्षाओं और उपमानों की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप नहीं निर्दिष्ट होता। काव्य में मुख, नेत्र और अधर आदि के साथ चंद्र, कमल और विद्रुम आदि के लाने का मुख्य उद्देश्य वर्ण, आकृति आदि का ज्ञान कराना नहीं बल्कि कल्पना में साथ साथ इन्हें भी रख कर सौन्दर्यगत आनंद के अनुभव को तीव्र करना है। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिकों के 'गोसदृशी गवयः' के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं। इस दृश्य से विचार करने पर कई एक प्रचलित उपमान बहुत खटकते हैं—जैसे नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहनी को सामने लाना, जाँघों की उपमा के लिए हाथी की सूँड़ की ओर

इशारा करना। खैर, इसका विवेचन उपमा आदि अलंकारों पर विचार करते समय कभी किया जायगा। अब प्रस्तुत विषय की ओर आता हूँ। मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिए भी काव्य-क्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृति-चित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों ये अलग अलग चित्रों में हम भेद कर सकें।

जैसे दो सुंदरियों की आँख, कान, नाक, भौं, कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों स्त्रियों को उसके सामने बुलाया। यदि वे बतला दें कि यह उसका वर्णन है और यह उसका, तो समझिए कि पूर्ण सफलता हुई। योरुप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है। मुद्रा-चित्रण करने में गोस्वामी तुलसीदास जी अत्यंत कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर चलाने के लिए तीर खींचे हुए रामचंद्र जी को देखिए—

"जटा-मुकुट सिर सारस-नयननि गौहैं तकत सु भौंह सिकोरे"

पूर्वजों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किये जाते हैं, जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अंतःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बचपन में अपने घर में या बाहर जिन दृश्यों को बराबर देखते आये उनके प्रति एक प्रकार का सुहृदय भाव मनमें घर कर लेता है। हिंदुओं के बालकों के हृदय में रामकृष्ण के चरितों से संबंध रखने वाले स्थानों को देखने की उत्कंठा बनी रहती है। गोस्वामी जी के इन शब्दों में यही उत्कंठा भरी है—

"अब चित चेत चित्रकूटहि चलु ;
भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित बन बिलोकु रघुवर-बिहार-थलु"

ऐसे स्थानों के प्रति संबंध की योजना के कारण हृदय में विशेष रूप से भावों का उदय होता है। कोई रामभक्त जब चित्रकूट पहुँचता है, तब वह वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही मुग्ध नहीं होता, अपने इष्टदेव की मधुर भावना के योग से एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय माधुर्य का भी अनुभव करता है। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के काँटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसके मन में सान्निध्य का यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रह सकता कि ये झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जो राम, लक्ष्मण और सीता के कभी चुभे होंगे। इस भाव-योजना के कारण उन झाड़ों को वह और ही दृष्टि से देखने लगता है। यह दृष्टि औरों को नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसे संस्कार जीवन में हम बराबर प्राप्त करते जाते हैं। जो पढ़े लिखे नहीं हैं वे भी आल्हा आदि सुन कर कन्नौज, कालिंजर, महोबा, नयनागढ़ ( चुनारगढ़ ) इत्यादि के प्रति एक विशेष भाव संचित कर सकते हैं। पढ़े लिखे लोग अनेक प्रकार के इतिहास, पुराण, जीवनचरित्र आदि पढ़कर उनमें वर्णित घटनाओं से संबंध रखने वाले स्थानों के दर्शन की उत्कंठा प्राप्त करते हैं। इतिहासप्रसिद्ध स्थान उनके लिए तीर्थ से हो जाते हैं। प्राचीन इतिहास पढ़ते समय कल्पना का योग पूरा पूरा रहता है। जिन छोटे छोटे ब्योरों का वर्णन इतिहास नहीं भी करता उनका आरोप अज्ञात रूप से कल्पना करती चलती है। यदि इस प्रकार का थोड़ा-बहुत चित्रण कल्पना अपनी ओर से न करती चले तो इतिहास आदि पढ़ने में जी ही न लगे। सिकंदर और पौरव का युद्ध पढ़ते

समय पढ़ने वाले के मन में सिकंदर और उनके साथियों का यवन-वेष तथा पौरव के उष्णीष और किरीट-कुण्डल मन में आवेंगे। मतलब यह कि परिस्थिति आदि का कोई चित्र कल्पना में थोड़ा बहुत अवश्य रहेगा। जो भावुक होंगे उनमें अधिक रहेगा। प्राचीन समय का समाज-चित्र हम मेघदूत मालविकाग्निमित्र आदिमें ढूँढ़ते हैं और उसकी थोड़ी बहुत झलक पाकर अपने को और अपने समय को भूल कर तल्लीन हो जाते हैं। एक दिन रातमें सारनाथ से लौटता हुआ मैं काशीकी कुञ्ज-गली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिये हुए उस सकरी गली में जाकर मैं क्या देखता हूँ कि पीतल के सुन्दर दीवटों पर दीपक जल रहे हैं। दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले व्यापारी बैठे हुए हैं। दीवारों पर सिंदूर से कुछ देवताओं के नाम लिखे हुए हैं। पुरानी चाल के चौखटे, द्वार और खिड़कियाँ हैं। मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी वीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चल कर म्यूनिसिपेलटी की लालटेन दिखाई दी। बस सारी भावना हवा होगई।

इतिहास के अध्ययन से, प्राचीन आख्यानों के श्रवण से भूतकाल का जो दृश्य इस प्रकार कल्पना में बस जाता है वह वर्तमान दृश्यों को खंडितप्रतीत होने से बचाता है। वह उन्हें दीर्घ काल-क्षेत्र के बीच चले आये हुए अतीत दृश्यों से मेल दिखाता है और हमारे भावों को काल-बद्ध न रख कर अधिक व्यापकत्व प्रदान करता है। हम केवल उन्हीं से राग-द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घिरे हुए हैं वल्कि उनसे भी जो अब इस संसार में नहीं हैं, पहले कभी हो चुके हैं। पशुत्व और मनुष्यत्व में यही एक

बड़ा भारी भेद है। मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्मप्रसार को बद्ध रख कर संतुष्ट नहीं रख सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। वह अतीत के दीर्घ पटल को भेद कर अपनी अन्वीक्षण बुद्धि को ही नहीं रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे भावों के लिए भूतकाल का क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। वहाँ वे शरीर-यात्रा के स्थूल स्वार्थ से संश्लिष्ट होकर कलुषित नहीं होते, अपने विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। उक्त क्षेत्र में जिनके भावों का व्यायाम के लिए संचरण होता रहता है, उनके भावों का वर्तमान विषयों के साथ उचित और उपयुक्त संबंध स्थापित हो जाता है। उनके घृणा, क्रोध आदि भाव भी बहुत कम अवसरों पर ऐसे होंगे कि कोई उन्हें बुरा कह सके।

मनुष्य अपने रति, क्रोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले अथवा साधना के लिए उन्हें कभी कभी ऐसे क्षेत्र से ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी। नये अर्थवादी पुराने गीतों को छोड़ने को लाख कहा करें पर जो विशालहृदय हैं वह भूत को बिना आत्मभूत किये नहीं रह सकते। अतीत काल में वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्त काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी करता है और उनका ठीक ठीक अवस्थान भी करता है। वर्षा के आरम्भ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते हैं जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महँक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी लिए इधर उधर दिखाई पड़ती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित इस दृश्य के प्रभाव से :—

त्वय्यायत्तं कृषि फलमितिभ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्र मारुह्यमालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

हमारा भाव और भी तीव्र हो जाता है-हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने भाव अंकित कर गये हैं उनके सामने अपने को पाकर मानो हम उन पूर्वजों के निकट जा पहुँचते हैं और उसी प्रकार भावों को अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है, उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों में हम अपने वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं। कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कंदराओं में प्रभात के प्रफुल्ल पद्मजाल में छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं। पलास, ऐंगुदी, अंकोट वनों में अब भी खड़े हैं, सरोवर के कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखायें अब भी झुक झुक कर तीर का नीर चूमती हैं पर हमारी दृष्टि उनकी ओर भूल कर भी नहीं जाती। हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को हम नहीं देख सकते हैं। उनकी आकृति वहन करने वाला आलोक, भगवान् जाने किस लोक में पहुँचा होगा। पर ऐसी वस्तुयें अब

भी देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए, इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदास जी हमें देर तक देखा करते थे। उस समय सिप्रा-वात उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओं पर वहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँडहरों के ईंट–पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंगराग–लिप्त शरीर और सुगन्ध–धूम से वसे केश-कलाप वाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे।

बिजली से जगमगाते हुए नये अंगरेज़ी ढंग के शहरों में धुवां उगलती हुई मिलों और ह्वाइट-वे-लेडला की दूकान के सामने हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं, पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिट जाता है। महासामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकालशुद्ध मनुष्यत्व का अनुभव करते हैं, किसी विशेषकालबद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

. यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेषकालबद्ध मनुष्यत्व न सही पर देशबद्ध मनुष्यत्व तो अवश्य है। हाँ है। इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता है वह हृदय ही नहीं है। इस स्वतन्त्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता से है; केवल धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतन्त्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूल कर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख वृद्धि प्राप्ति की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को

को उत्तेजित करने वाली बँधी बँधाई परम्परा से अपना संबंध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास का अन्य जातियों में अपना नाम लिखाया। फ़िलीपाइन द्वीप-वासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देश-प्रेम है क्या, प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी-नाले, वन पर्वत सहित सारी भूमि का यह प्रेम किस प्रकार का है। जिनके बीच में हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं जिनका हमारा हर घड़ी साथ रहता है—सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत नदी, निर्झर आदि सब से प्रेम होगा। वह सब को चाह भरी दृष्टि से देखेगा, वह सबको सुध करके विदेश में आँसू बहावेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के अन्दर क्या हो रहा है—वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देशप्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके दुःख—सुख के कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी

देखा चाहते हो यह कैसे समझें ? उनसे कोसों दूर बैठ बैठे पड़े पड़े खड़े खड़े विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले प्रेमी नहीं। हिसाब-किताब से देश-देशों का ज्ञानमात्र हो सकता है। हितचिंतन और हित-साधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या भाव पर अवलंबित है, उसका सम्बन्ध लाभ या प्रेम से है, जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा।

"नैनन से रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं;
केतिक वै कलधौत के धाम करील की कुञ्जन ऊपर वारौं।"

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझ कर या कम से कम न खीझ कर, बिना मन मैला किये कमरे का फ़र्श मैला होने देंगे ? मोटे आदमियो, तुम ज़रा सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे ही में—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता !

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोल कर देखिये कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से बनस्थली कैसी लाल हो रही है,

कछारों में चौपायों के झुन्ड इधर उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसिए देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो दो बातें कीजिए। उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइये और समझिये कि यह सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आप की आँखों में समा जायगा, आप उनके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जायँगे तब आप के अन्तःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे। वह सदा हरा भरा और फूला फला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा मोटा जंगल है, जिसमें महुये के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्व-विभाग का कैम्प पड़ा था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। बसंत का समय था। महुवे चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—महुओं की कैसी महक आ रही है! इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोक कर कहा—यहाँ महुवे सहुवे का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मैं समझ गया, चुप हो रहा कि महुवे का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछने वाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा!

हिंदूपन की अंतिम झलक दिखाने वाले थानेश्वर, कन्नौज, दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उनके गंभीर भावों के आलंबन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं उनके लिए इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन-स्वरूप हैं। उन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जाग्रत होते हैं नहीं कह सकते। भारतेन्दु का इतना ही कहना उनके लिए बहुत है कि—

हाय पंचनद ! हा पानीपत !
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी,
अँजहुँ खरो भारतहिं मँझारी॥

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिंदू दृश्य आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का संबंध लगा हुआ है। ऐसे एक एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं। यह रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य हैं। अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि काव्य में 'आलंबन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गई है—केवल ऐसी वस्तुयें और व्यापार सामने रख दिये हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण

करके रख दिया तो क्या वह इसलिए काव्य न कहलावेगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनन्द या शोक को अपने शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकट करने वाला नहीं है? कुमारसंभव के आरम्भ के उतने श्लोकों को जिनमें हिमालय का वर्णन है क्या काव्य से खारिज समझें? मेघदूत में जो आम्रकूट, विंध्य, रेवा आदि के वर्णन हैं उन सब में क्या यक्ष की विरह-व्यथा ही व्यंग्य है? विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिना कर किसी प्रकार इसकी शर्त पूरी करना ही जब से कविजन् अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे तब से वह बात कुछ भूल भी चली कि कवियों का मुख्य कार्य्य ऐसे विषयों को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें। सच पूछिए तो काव्य में अंकित दृश्य श्रोता के भिन्न भावों के स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति, हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रस-परिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति हो गई ठीक नहीं। श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नहीं बल्कि ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। राजा हरिश्चन्द्र को श्मशान में रानी शैव्या से क़फ़न माँगते हुए, राम-जानकी को बन-गमन के लिये निकलते हुए पढ़कर ही लोग क्या करुणार्द्र नहीं हो जाते? उनकी करुणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र दृश्यों पर शोक या दुःख शब्दों और चेष्टा द्वारा प्रकट करे? तुलसीदास जी के इस सवैये में—

"कागर कीर ज्यों भूषन चीर शरीर लस्यों तजि नीर ज्यों का
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाव सनेह लगाई।
संग सुभामिनि भाइ चले दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई;
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं ॥"

पाठक को करुण-रस में मग्न करने की पूरी सामग्री मौजूद है। परिस्थिति के सहित राम हमारी करुणा के आलंबन हैं, चाहे किसी पात्र की करुणा के आलंबन हों या न हों।

# पं० मन्नन द्विवेदी

[ १८८९-१९२१ ]

———:o:———

पं० मन्नन द्विवेदी हिन्दी के कतिपय होनहार लेखकों में से थे जिनको अपने सूक्ष्म जीवन-काल में अपनी साहित्यिक प्रतिभा की परिपक्वावस्था तथा अपनी लेखन-शक्ति की पूरी स्फूर्ति देखने का सौभाग्य न मिल सका। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' तथा पं० मन्नन द्विवेदी इस प्रकार के मुख्य लेखक हैं।

मन्नन द्विवेदी ब्रजभाषा के होनहार कवि तो थे ही, किन्तु साथ ही साथ वे मिश्रित गद्य के एक बड़े उच्च कोटि के लेखक थे। रोचक एवं सजीव गद्य-शैली पर उनका पूरा अधिकार था। 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' में उनके उत्कृष्ट गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मिल सकते हैं।

यदि अधिक संख्या में गद्य-ग्रन्थ लिखने का अवकाश उन्हें मिला होता तो निस्सन्देह उनकी गिनती हिन्दी-गद्य के धुरन्धर लेखकों में हुई होती।

उनके गद्य का सम्बन्ध बहुत कुछ राजा शिवप्रसाद से है। अर्थात् राजा साहब की तरह वे भी संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी सब

कहीं के शब्द और मुहावरों का व्यवहार जी खोलकर करते हैं। परन्तु शिवप्रसाद की भाषा की कृत्रिमता मन्नन द्विवेदी के गद्य में बिल्कुल नहीं है। प्रत्युत, उनके प्रत्येक शब्द से उनकी प्राकृतिक रसपूर्णता तथा सहृदयता टपकती है। यही नहीं, मन्नन द्विवेदी की गद्य-शैली में एक प्रकार की अपरिमेय नैसर्गिकता है, जिसके कारण पढ़ने वाले को उनके लेख बड़े रसीले प्रतीत होते हैं।

उनकी भाषा में एक प्रकार का लालित्य है। ऐसे अवसरों पर, जिनपर कि किसी देश-प्रेम को उत्तेजित करने वाले या संसार की असारता से सम्बन्ध रखने वाले विषय का वर्णन करना आवश्यक होता है, एक प्रकार का ओज एकदम से दबी हुई अग्नि-शिखा की भाँति उद्दीप्त हो उठता है। 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' में इस का पूरा परिचय मिलता है।

साधारणतः 'इतिहास' में उनकी भाषा उर्दू की ओर अत्यधिक रुख़ लिये हुए है और सीधी-सादी है। परन्तु जब 'राजपूतों के स्वातंत्र्य प्रेम' का या 'औरंगज़ेब की असहिष्णुता' के सम्बन्ध में सूफ़ी-धर्म के सिद्धान्तों को वर्णन करने लगे हैं, तब उनकी भाषा में ख़ास तरह का ओज आ गया है। ऐसे गम्भीर स्थलों पर मन्नन द्विवेदी की भाषा का प्रवाह अबाध्य हो जाता है और न जाने कहाँ कहाँ की उपयुक्त उक्तियाँ उन्हें स्मरण हो आती हैं। उदाहरण के लिए उनके इतिहास से बुँदेलखंड के राजा चम्पतराय के स्वतंत्रता-संग्राम के वर्णन

को देखिए जो औरंगज़ेब के साथ उसने छेड़ा था :—

"माता स्वतंत्रता ने वीर चंपत को अपनी झाँकी दिखला दी थी। अस्तु वह बुंदेला वीर फिर भूखे शेर की तरह भटकने लगा। कहाँ तो वीर अपनी जान पर खेलकर अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए वन वन भटकता था, कहाँ माता के दूसरे पुत्र माता के पैर बेड़ियों से जकड़ने के लिए तैयार हो गये। हिन्दू जाति के लिए यह कोई बात नहीं है। राक्षसों की लंका में सिर्फ एक विभीषण पैदा हुआ था। एक ही विभीषण की बदौलत अनहोनी बातें होगईं। सोने की लंका भस्म होगई, पत्थर पानी पर तैरने लगे।"

तथा, "हिन्दुओं में जब तक संगठन न होगा तब तक देश-हित के गीत से भला होने का नहीं। हममें बड़ा भारी ऐब यह है कि हमारी उदारता और संकीर्णता दोनों हद को पहुँची हुई हैं। जो पत्थरों तक में परमात्मा का दर्शन करते हैं, मंदिरों की सजावट में लाखों खर्च कर देते हैं वे अपने भूख से कलपते हिन्दू बच्चे को मूठी भर चने देने के रवादार नहीं हैं। जो गाँव के भीटों पर मीलों घूम घूम कर चीटियों के बिलों में आटा छींटते रहते हैं, वे भाई की गर्दन पर छुरा फेरने के लिये सब से पहले तैयार रहते हैं। अगर अपने को पशु की श्रेणी में गिरा-कर अपने देश का अहित करके आपने अपना स्वार्थ-साधन कर लिया तो क्या! याद रखिये कि आपका यह स्वार्थ मृग-तृष्णा है क्योंकि आप उस विशाल चंदन-वृक्ष (हिन्दू-जाति)

की एक मुरझाई टँघनी है। आप हरे भरे तभी तक रहेंगे जब तक पेड़ हरा-भरा रहेगा। काट कर आपकी पत्तियाँ अलग सूख जायँगी। भक्त लोग खुरखुरे पत्थर पर आप को खूब रगड़ेंगे। रगड़ रगड़ कर आपको घिस डालेंगे। आपका शरीर घिस कर सुगंध पैदा करेगा और आपके काटने वाले के ललाट की शोभा बढ़ावेगा, लेकिन आप के लिये क्या? कहाँ वह हवा के ठंढे झोंके, कहाँ वह वन की एकान्त भूमि, पर्वत का वह सुरम्य पड़ोस, गंगा की वह हरहराती धारा, पास में हरित मलय-पादप, उसकी गोद में लहराती और मचलाती शाखा।"

इस अवतरण से मन्नन द्विवेदी के गद्य की कई बातों का पता लगता है। एक तो, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, उनकी प्रकृति आवेशमय सी थी जो स्वतंत्रता, देश-प्रेम, धर्म तथा अन्यान्य इसी प्रकार के उद्दीपक विषयों के नाम-मात्र से फड़क उठती थी। ऐसी बातों पर लिखते उनकी भाषा बड़ी ओज-पूर्ण तथा हृदयग्राही हो उठती है। ऐसे अवसरों पर उन्हें न मालूम कहाँ कहाँ से उपमायें तथा दृष्टान्त सूझ जाते हैं। ऊपर के अवतरण में 'चीटी चुगाने वाली' बात का उल्लेख करते हुए हिन्दुओं के जीवन-ताटस्थ्य का जो विशद वर्णन किया गया है वह बड़ा हृदयग्राही है। इसी प्रकार हिन्दू-ऐक्य की उपमा चन्दन-वृक्ष से दी गई है और उसके ऊपर जो लंबा रूपक बाँधा गया है। द्विवेदी जी के गद्य की सजीवता उनसे प्रकट होती है।

वास्तव में मन्नन द्विवेदी के गद्य की वर्णन-शक्ति में बड़ा चमत्कार है। इस बात में उनकी तुलना राजा शिवप्रसाद को छोड़ कर कम लेखकों से हो सकती है।

राजा शिवप्रसाद की वर्णन-दक्षता का ज्ञान उनके 'इतिहास-तिमिरनाशक' में कई स्थानों पर होता है। परन्तु अन्त में यही मानना पड़ता है कि राजा साहब दोनों के उपमाओं का क्षेत्र बड़ा ही संकुचित था। एवं, औरंगज़ेब के विलासी सैनिकों के अल्हड़पन को इस प्रकार हास्य-व्यंग-पूर्ण ढंग से व्यक्त करने में ही उनको आनन्द आ सकता था कि 'तलवार रह जाय लेकिन चिलम न जलने पावे।' तात्पर्य यह हुआ कि उनके वर्णनों में कृत्रिम दृश्यों का अधिक ध्यान रखा जाता है। सेना का वर्णन करते समय वे वेष-भूषा को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे, क्योंकि शहर के अप्रकृत समाज का टीमटाम उन्हें विशेष आकर्षक प्रतीत होता था। इस प्रसंग में 'औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन' द्रष्टव्य है।

इसके प्रतिकूल मन्नन द्विवेदी की वर्णन-शक्ति आन्तरिक मानसिक अवस्थाओं तथा मनोविकारों के चित्रण में बड़ी शक्ति-सम्पन्न है। इसके सिवाय जो दृष्टान्त-सम्पन्नता उपमाओं अथवा उक्तियों के रूप में मन्नन द्विवेदी के गद्य में है वह राजा शिवप्रसाद में मिल ही नहीं सकती।

उर्दूपन अवश्य द्विवेदी जी की भाषा में काफ़ी है जो राजा शिवप्रसाद और उनके गद्य के बीच में एक बड़ी संयोजक

शृंखला है। अभी ऊपर "वे अपने भूख के से कलपते हिन्दू बच्चे को मूठी भर चना देने के रवादार नहीं हैं" वाला जो वाक्य उद्धृत हो चुका है उसमें 'रवादार' शब्द का प्रयोग मन्नन द्विवेदी के गद्य के मिश्रित स्वरूप का अच्छा प्रमाण है।

उनके गद्य में और कई विशेषतायें हैं। वह वाक्य-रचना के विचार से वह बड़ा ही सुबोध तथा सुकर है। उसके वाक्य भीमकाय बहुत कम होते हैं, और किसी बात को व्यर्थ में घुमा फिरा कर कहना वे नहीं जानते। हाँ, यह बात दूसरी है कि उसे चुभीली रीति से व्यक्त करने के अभिप्राय से वे प्रायः दृष्टान्तों की झड़ी बाँध देते हैं। अतएव, शैली की रोचकता को बढ़ाने के लिए वे वक्रोक्तियों को पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति कुछ बुरा नहीं समझते।

यह कह सकते हैं कि मन्नन द्विवेदी उस प्रकार के लेखक थे जो भावों की अपेक्षा भाषा को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका यह हौसला सा था कि मेरी लिखी हुई भाषा में ऐसी सजीवता रहे जिससे वह वाचकों के दिलों में घर बनावे और उसे वे समय समय पर उद्धरित कर सकें। तभी तो अपने गद्य के प्रत्येक वाक्य में वे सदैव व्यंजना के गुण को विचारतः लाने की कोशिश करते थे, और इसी लिए उनके लेख गद्य-पंक्तियों तथा भावपूर्ण शब्दों से युक्त होते हैं। इस बात का उत्तम उदाहरण ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरण से उस अंश में मिलता है जो इस प्रकार है:—

"कहाँ वह हवा के ठंडे झोंके............गंगा की वह हरहराती धारा।"

इस वाक्य में लेखक ने केवल वाचकों के चित्त पर गहरा प्रभाव डालने के उद्देश्य से सुन्दर शब्दों के द्वारा एक मनोरम प्राकृतिक दृश्य का चित्र खींचा है। साधारण लेखक उसी बात को थोड़े से शब्दों में सीधी तरह से व्यक्त कर सकता था।

अस्तु, मन्नन द्विवेदी का गद्य आवेशपूर्णता, सजीवता तथा व्यंजकशक्ति के कारण सदैव साहित्यिक दृष्टि से रोचक रहेगा। संस्कृतज्ञों के शुद्धवाद तथा मिश्रित भाषा के परिपोषकों के मिश्रणवाद दोनों से उनकी गद्य-शैली सर्वथा मुक्त है। मुहावरों और अवतरित वाक्यों के प्राचुर्य से उनकी भाषा का एक अद्वितीय स्थान रहेगा।

---

## औरंगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता

भारतवर्ष वही था जहां हमने शताब्दियों तक राज्य किया था, हमारे शरीर में रक्त भी उन्हीं जगद्विजयी पूर्वजों का था, हमारे हाथ पैर और बाहरी टीमटाम भी वैसे ही थे। श्रावणी में हम रक्षाबन्धन बाँधते थे लेकिन उस राखी में हिन्दू-जाति को एक में गूँथ देने की शक्ति बाक़ी नहीं रह गई थी। रामलीला हम बदस्तूर मानते थे, लेकिन हमारे रामबाण में इतना बल कहाँ कि अत्याचारी रावण के दस सिर बेधन कर फिर वापस आ जाते। दिवाली हम करते थे लेकिन हमारे दीपकों में वह प्रकाश

नहीं था जो संसार की आँखों को चकाचौंध कर देता था। होली भी हम रो पीट कर करते ही थे लेकिन हमारा गुलाल आर्य-जाति को राष्ट्रीयता के रंग में रँगने में समर्थ नहीं था। जन्माष्टमी में भगवान् का जन्मोत्सव मनाते थे लेकिन वह प्रचंड ज्योति कहाँ जिसके देखते देखते परतंत्रता की बेड़ियाँ टूट कर गिर जायँ! वे चरण कहाँ जिनके चरण छूने से हमारे संकट की सरिता सूख जाय! वह मोहन की मुरली कहाँ जिनकी तान हमको देश-ममता के मद में मस्त कर देती! हिन्दू-जाति निष्प्राण हो गई थी, केवल बाहरी ढाँचा रह गया था। भला उससे मुगल लोग या कोई भी कैसे डरने लगे? इस लिए हम पर आघात पर आघात हुए। अत्याचार के सिल पर और बेईमानी के बट्टे से नवधाभक्ति में मग्न हिन्दू पीसे गये। इनको रगड़ कर नौरतन की चटनी बनाई गई।

कितने मुसलमान भी औरंगजेब के तअस्सुब के शिकार हो गये। इस कट्टर मुसलमान बादशाह की नज़रों में सिर्फ़ खुदारसूल और कलाम मजीद का मान लेना काफ़ी नहीं था। मुसल्मानी मज़हब की हर एक-बात को जब उसी तरकीब से माने जैसा बादशाह आलमगीर मानता था, तब आदमी पक्का मुसलमान समझा जाता था। इतने पर भी अगर उस पर किसी तरह का पोलिटिकल शुबहा हुआ, फ़ौरन कोई मज़हबी कचाई भी निकल आती थी। ऐसे लोगों में वे फ़क़ीर और महात्मा लोग थे जिनको दारा मानता और जानता था। शाह मुहम्मद नामक एक अच्छा संत था। वह बदख़्शाँ का रहने वाला और लाहौर के मशहूर साधू मियाँ मीर का चेला था। काश्मीर में उसने अपनी कुटी बनाई। उसके मुँह से ज्ञान, वैराग्य और वेदान्त की अमूल्य शिक्षायें और मनोहर पद्य निकलते रहते

थे। दूर दूर के लोग उसके दर्शन के लिए आते थे। सूफ़ी मज़हब के नाम से हमारे पाठक अपरिचित न होंगे। वह मुसलमानी लिबास में अद्वैत वेदान्त का दूसरा स्वरूप है। वेदान्त के "अहं ब्रह्मास्मि" "शिवोहं" इत्यादि वाक्यों के भाव को लेकर सूफ़ी महात्माओं ने कितने अच्छे अच्छे ग्रंथ और पद बना डाले हैं! शंकर भगवान, महात्मा रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ महाराज ने वेदान्त-शिक्षा को खूब अच्छी तरह दर्शाया है लेकिन इन सबसे पहले ख़ुद योगीराज कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में वेदान्त के तत्त्व को गीता-रूप में संसार को भेंट किया है। जीव अमर, अजर है। न वह जन्म धारण करता है, न वह बालक, युवा और न वृद्ध है। सुख दुःख का भोगने वाला, बंधनों में भट-कने वाला वह कोई बंदी नहीं है, वह स्वयं परब्रह्म चिदानंद, शान्तिस्वरूप अनाम, अनीह, अनंत, अपार, और अच्युत है। पांचभौतिक तत्वों से बने हुए शरीर का उपयोग करते हुए भी वह इससे परे है। स्थूल और सूक्ष्मादि अनेक देह उसके मोटे पतले भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र मात्र हैं। माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री और पुत्र कोई किसी का कुछ नहीं है। इसका पता भी तो नहीं है कि कौन कितने दफ़े किसका पिता और कितने बार किसका पुत्र हो चुका है। इस लिये महात्मा लोग संसार में रहकर भी संसार के नहीं होते हैं। कमल का पत्ता जल में रह कर भी नहीं भीगता है। जब संसार के नाते-रिश्ते थोड़ी देर के तमाशे हैं और जब जीव मरता नहीं, केवल पुराने कपड़े उतार कर नये धारण कर लेता है, फिर शोक किस बात का, किसी के मरने पर ग़म क्यों मनाया जाय? तुच्छ शरीर से निकल कर संसार के विराट-रूप में प्रवेश करने की जुदाई को जुदाई क्यों

माना जाय ? इस लिए संत लोग परिवार में रहते हुए भी सदा उसको त्यागने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। वियोग होने पर वे अपने योग के पंखों पर ज्ञान-गगन में मँडराने लगते हैं। चिड़िया टहनी पर बैठती जरूर है लेकिन टहनी कट जाने से वह उसके साथ ज़मीन पर नहीं गिरती है, ऊपर आकाश-मंडल में उड़ने लगती है। साधू लोग धन-दौलत की भी परवा नहीं करते हैं। जब दुनिया ही फ़ानी है तो उसके माल-टाल का क्या ठिकाना है ? फिर जो जगत् भर के लोगों को अपना स्वरूप मानता है वह संसार के सर्वस्व को अपना मानते हुए अपनी शान में मस्त है। बादशाह होने की वजह से आप जरूर बड़े कहे जायँगे लेकिन आपसे कहीं बढ़ कर वह है जिसने आपकी तरह असंख्य बादशाहों की सल्तनत दुनिया को माफ़ी बख़्श दी है। अमेरिका के प्रेसीडेन्ट ने महात्मा रामतीर्थ महाराज से कुछ माँगने के लिए कहा। राम शहंशाह ने हँसते हुए कहा—

"बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरे शतरंज के।
दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के॥"

ऐसे देवताओं के लिए मौत भी एक मज़ाक़ का सामान है। भीष्म-पितामह ने शरशय्या पर धर्मोपदेश दिये। हज़रत मसीह ने सूली पर भी अपने प्रतिवादियों के लिए प्रार्थना की, महर्षि सुकरात ने आनंद से विष का प्याला मुँह में लगाया। रामतीर्थ जी महाराज ने सच्चे हिन्दू की तरह भक्ति से अपना शरीर गंगा मैया को भेंट कर दिया।

"गंगा मैं तेरी बलि जाऊँ।
हाड़मास तुझे अर्पण करदूँ यही फूल बताशा लाऊँ
रमण करूँ मैं शतधारा में न तो नाम न राम कहाऊँ"

जैसा कहा जा चुका है कि वेदान्ती और सूफ़ी में महज़ नाम और रूप का फ़र्क़ है। सूफी ख़ुदा की याद में मस्त रहता है। बाग़ में, गुल में, बुलबुल और सरो में, कामिनी के चाँद से मुखड़े में, मस्तानी तानों से जहाँ कहीं देखता है यार की सूरत, मोहन की माधुरी मूरत नज़र आती है। जब तक मंज़िले–मक़सूद नहीं पहुँचे हज़ार झगड़े हैं। रास्ते की दिक्क़तें और लाख उधेड़-बुन हैं लेकिन जब जो जिसका था उससे मिल कर एक हो गया फिर चिंता किस बात की। योग कैसा, भोग कैसा, रोज़े और नमाज़ कैसे ?

देखते ही यार के शिकवे सारे भूल गये।
बस गूँगे बन कर बैठ गये कलमा कलाम भी भूल गये।

प्यारे प्रीतम के प्रेम की लहर चारों तरफ़ लहरा रही है। देख कर आँखें सहम सी गई हैं।

"दरियाय इश्क़ बह रहा लहरों से बेशुमार"

सरमद नाम का एक मशहूर सूफ़ी था। दारा इसको मानता था। इस लिए यह औरंगज़ेब का क्रोध-भाजन हुआ। औरंगज़ेब की आज्ञा से मक्कार मुसलमानों की एक कमेटी सरमद के न्याय करने को बैठी। चार्ज लगाया गया कि वह नंगा रहता है। अगर असल में औरंगज़ेब का यही मतलब था तो नागे–वैरागी पहले क़त्ल होने चाहिए थे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सरमद का बड़ा भारी और मुख्य अपराध तो यह था कि वह दारा का मित्र था। दारा के मरने पर भी औरंगज़ेब डरता था कि कहीं सरमद अपनी क़ूवत से कुछ बला न गिराये। औरंगज़ेब को पता नहीं था कि संत लोगों के लिए न कोई मित्र है और न कोई शत्रु और न संसार को

तृण-समान जानने वाले महात्मा को औरंगज़ेब की सल्तनत और शान की परवाह थी। अधम औरंगज़ेब के अन्यायी न्यायकारियों ने फ़क़ीर को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। लेकिन जो इन लोगों के लिए बड़ी भारी चीज़ थी वह सरमद के लिए महज़ दिल्लगी थी। जो दिन-रात प्रीतम के प्रेम में मतवाला रहता था वह कितने दिन तक उसका वियोग सह सकता था?

"कौनसी है वह जुदाई की घड़ी जो उम्र भर,
आरज़ू ये वस्ल में यह दिल भटकता ही रहा"

लेकिन :—

"जाकर जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलत न कुछ संदेहू"
जिसका जिस पर प्रेम होता है वह अवश्य उसे मिलता है।

"पा गया बस चेहरये मक़सूद को लैली के वह।
जो हुआ है मिस्ल मजनूँ बुलबुले गुलज़ारे इश्क़॥"

मौत की आज्ञा फ़क़ीर को सुनाई गई। उसके आनन्द का ठिकाना नहीं। इतने दिन अकेले रहने वाले, जुदाई में तपने वाले सरमद का अब ब्याह होगा। ब्याह होगा ऐसे पुरुष से जिससे बढ़ कर संसार में या कहीं भी कोई न हुआ और न कोई होगा। वह समझता था —

"भूली योवन मद फिरै अरी बावरी वाम।
यह नैहर दिन दोय को अंत कंत से काम॥"

मंडपरूपी सूली तैयार की गई। वहीं सरमद का उसके प्यारे का मिलन होगा। पल पल युग के समान बीत रहा है। अपने अवगुणों को ध्यान करके पैर आगे नहीं पड़ता है, कलेजा दहल रहा है, आनन्द, भय और लज्जा से रोमांच हो आये हैं, प्रीतम के दिव्य स्वरूप का ध्यान करके

आँखें झप जाती हैं। देखते देखते घड़ी आ गई, ओफ कैसा दिव्य स्वरूप है! क्या बाँकी झाँकी है!

"तेरी सूरत से नहीं मिलती किसी की सूरत,
हम जहाँ में तेरी तसवीर लिये फिरते हैं।"

देखते देखते विवाह की घड़ी आ गई। अब प्रीतम सरमद के सिर में सिंदूर देंगे। उसके सर में लालिमा की रेखा दौड़ेगी। ऐसे बड़े का ब्याह फिर चुटकी से ज़रा सिंदूर थोड़े ही दिया जायगा। प्रेम में भीगे हुए मस्ती में चूर प्रेमियों की शादी! सर्वाङ्ग लाल करना होगा, खड्ग-शृङ्गार किया जायगा। सरमद माथा खोले, सिर नीचे किये संकोच से सिकुड़ा हुआ खड़ा है। प्यारे ने आकर हाथसे ड्डुड्डी पकड़ मुँह ऊपर उठा दिया, आँखें मिल गईं, अन्तर न रहा, बिछुड़े हुए मिल कर एक हो गये। जो तुम वही हम और जो हम वही तुम, जब ऐसी बात है फिर हम और तुम को भेद कहाँ!

"दरस बिनु दूखन लागो नैन।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभु जी कबहुँ न पायो चैन"

"हमरी उमरिया होरी खेलन की,
पिया मोसे मिलके बिछुर गयो हो।
पिय हमरे हम पिय की पियारी,
पिय बिच अंतर परि गयो हो।
पिया मिलैं तब जियों मोरी सजनी,
पिया बिनु जियरा निकर गयो हो।
इत गोकुल उत मथुरा नगरी,

बीचि डगर पिय मिल गयो हो ।
धरमदास बिरहिनि पिय पाये,
चरन कमल चित गहि रहो हो ।"

अब सूली पर चढ़ा सरमद और सामने उसका मनचोर माखनचोर हरी —

"यार को हमने जा बजा देखा ।
कहीं जाहिर कहीं छिपा देखा ॥"

"गुम कर ख़ुदी को तो तुझे हासिल कमाल हो"

खड्ग ने अपना काम किया, सरमद और उसके प्रीतम एक मिल गये, प्रेम के गीत गाते हुए सरमद विदा होगया ।

"साक़ी ने अपना हाथ दिया भर के जाम सोज़,
इस ज़िन्दगी के कैफ़ का टूटा ख़ुमार आज ।"

महात्मा इस लोक से हँसते हँसते बिदा हो गया । उसका नश्वर शरीर नाश हो गया लेकिन अपना अमर नाम वह छोड़ गया और हमारे लिए "अनल-हक़" का उपदेश । सज्जन लोग दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं; कष्ट को वे कष्ट ही नहीं समझते । तो सोने की परीक्षा कैसे हो ? खराद पर चढ़े बिना हीरे की जाँच कैसे हो ?

"किया दावा अनलहक़ का हुआ सरदार आलम का ।
अगर चढ़ता न सूली पै तो वह मंसूर क्यों होता ?"

अत्याचार का मुख्य प्रयोजन होता है लोगों को दबाना, लेकिन परिणाम इसका उलटा होता है । दुनिया के इतिहास में जहाँ कहीं आप देखेंगे अत्याचार से असंतोष का फैलना पाया जाता है । रगड़ लगने से

चन्दन—वन में भी आग लग जाती है। उसी तरह औरंगज़ेब के ज़ुल्म ने मरी हुई जाति को सचेत कर दिया। अकबर की कुटिल नीति के क्लोरोफ़ार्म से जो बेहोश हो गये थे औरंगज़ेब ने झोंके दे देकर उनको होश में ला दिया। साधू सिक्ख प्रबल योद्धा हो गये, लुटेरे मरहटे फ़तेहयाब दुश्मन हो गये, अपनी मर्यादा से गिरे हुए राजपूत फिर कमर कस कर खड़े हो गये।

इसके अतिरिक्त सतनामियों ने भी अत्याचार सह कर सर उठाये थे। एक मुसलमान सिपाही ने कुछ सतनामी किसानों को सताया जिससे पीड़ित होकर उन लोगों ने उसको दंड दिया। मुसलमानी राज्य में मार खाकर भी मुसलमान सिपाही को मारने का हिन्दुओं का क्या हक़ था? सतनामियों को दंड देने के लिये कुछ सिपाही भेजे गये जो परास्त हुए। अन्त में एक बड़ी सेना दंड देने के लिये भेजी गई। बहादुर सतनामी सामान के न होते हुए भी बड़ी वीरता से लड़ते रहे। अंत में परास्त हुए और हज़ारों की संख्या में मारे गये।

---

# प्रेमचन्द

## प्रेमचन्द की गद्य-शैली

—:o:—

जिस प्रकार प्रेमचन्द जी आजकल के सर्वश्रेष्ठ कहानी तथा उपन्यास-लेखकों में गिने जाते हैं, उसी प्रकार इस समय के सर्वोत्कृष्ट गद्य-लेखकों में उनका बड़ा ऊँचा स्थान है।

जिस ढँग की गद्य-शैली का आविष्कार तथा प्रचार आधुनिक युग में राजा शिवप्रसाद, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सहयोग से हुआ उसी का परिपक्व रूप प्रेमचन्द में मिलता है। राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी के प्रचार की अधिक सम्भावना इसी बात में देखी कि उसका संस्कृतपन घटाकर उसके बदले उसका मेल उर्दू से किया जाय। इसीलिए उन्होंने शिक्षा-विभाग के एक ऊँचे पद पर भाषा तथा इतिहास की ऐसी पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं जिनकी भाषा आधी उर्दू से भरी थी। पर, उन्होंने सिवाय हिन्दी और उर्दू का मिश्रण करने के तथा आगे के लिए यह पद्धति चला देने के कोई विशेष उल्लेख्य काम नहीं किया। उनका यह उद्योग शीघ्र ही

उनके निकटवर्ती लेखकों की रचनाओं में पल्लवित भी होने लगा। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, तथा कई प्रसिद्ध उपन्यास-लेखकों की भाषा में राजा साहब का वह सत्प्रयत्न प्रतिबिम्बित हुआ।

भट्ट जी ने अपनी भाषा काफ़ी परिष्कृत तथा बामुहावरा लिखी, किन्तु उन्होंने स्वयं संस्कृतज्ञ होने के कारण उसमें संस्कृत का गहरा रंग लगाया और उनकी प्रकृति में जो हास्य-प्रियता थी उसकी भी अच्छी मात्रा रक्खी।

मिश्र जी ने तो मुहावरों की झड़ी लगा दी। उनकी भाषा भट्ट जी की भाषा की अपेक्षा अधिक सुबोध पर साहित्यिक दृष्टि से निम्नतर है। क्योंकि हिन्दी का प्रचार बढ़ाने के लिए ही उन्होंने 'नाक', 'भौं', 'दाँत', 'मरे का मारै शाह मदार', ऐसे सुगम विषयों पर लेख लिखे।

द्विवेदी जी ने भट्ट जी के प्रारम्भ किये हुए भाषा-परिशुद्धि के प्रयत्न को बड़ी सुचारु रीति से पूरा किया। हिन्दी-गद्य को काट-छाँट कर उसे नया रूप देने का श्रेय उन्हीं को है।

द्विवेदी जी के पीछे प्रेमचन्द जी का ही नाम आता है। जिस मिश्रित, मुहावरेदार, प्रसादगुणपूर्ण गद्य-शैली को द्विवेदी जी ने सँवारा है और उसका उपयोग वर्षों तक किया है उसी को प्रेमचन्द जी ने अधिक लचीला बनाया है और उसमें कुछ नये गुणों का समावेश किया है।

प्रेमचन्द के गद्य की वर्णनात्मक शक्ति बड़ी प्रबल है। यह

गुण न तो भट्ट जी के गद्य में ही है और न मिश्र जी तथा द्विवेदी जी के गद्य में है। राजा शिवप्रसाद में अलबत्ता वर्णन करने की यह शक्ति कुछ कुछ थी। उनका लिखा हुआ 'औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन' देखने योग्य है। पर उनकी वर्णन करने की योग्यता केवल बाहरी वेष-भूषा तक ही परिमित है। हृद्गत भावों को तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को अंकित करने में वे असमर्थ थे। द्विवेदी जी में भी वर्णन-शक्ति का अभाव सा है। अपने स्वतंत्र विचार चलती-फिरती सुबोध भाषा में विशद रीति से प्रकट करने में अवश्य वे सिद्धहस्त हैं।

प्रेमचन्द इस बात में इन सबों से बाज़ी मार ले जाते हैं। इसका कारण भी हो सकता है कि वे शुरू से कहानी तथा उपन्यास लिखने में ही रहे हैं। तभी वर्णन करते समय वे भाषा को विचित्र प्रकार से तोड़-मरोड़ लेना खूब जानते हैं। जब कभी किसी बाह्य प्रकृति के दृश्य को अथवा बाह्य घटना को चित्रित करने लगते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि उनकी क़लम से भाषा-सौन्दर्य के फुहारे से छूटते हैं। एक ही बात का उल्लेख कई उपमाओं या दृष्टान्तों से चुने हुए शब्दों में करते हैं। इस प्रकार के वर्णनों का नमूना लीजिए :—

"श्रावण का महीना था। आकाश पर काले काले बादल मँडला रहे थे, मानो काजल के पर्वत उड़े जा रहे हों। झरनों से दूध की धारें निकल रही थीं और चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। नन्हीं नन्हीं फुहारें पड़ रही थीं मानो स्वर्ग से

जल में क्रीड़ा कर और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भर कर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहन कर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश में विचरती हुई जान पड़ती है। कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है; और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आई है······"

( 'आभूषण' )

अभी प्रेमचन्द जी की जिस वर्णन-कुशलता का ज़िकर किया गया है उसके सम्बन्ध में कई और भी बातें ध्यान देने योग्य हैं। उनकी वर्णन-शैली की हृदय-ग्राहिता मुख्यतः दो बातों पर अवलम्बित है। एक तो वे जितने वाक्य लिखते हैं वे सदैव लम्बे होते हैं जिससे उनका प्रवाह बड़ा ही अबाध होता है। क्योंकि जितनी ही सूक्ष्म वाक्य-रचना होती है उतना ही उनका लय मुदित होता है और जितनी ही वह विस्तृत होती है उतनी ही अधिक उनमें प्रभावपूर्णता तथा व्यंजनशक्ति होती है।

दूसरी बात यह है कि वे प्रायः समीकृत वाक्य लिखते हैं जिनमें एक ही भाव कई तद्रूप पदों से प्रकट होता है। ऐसे समीकृत वाक्यों से भाषा में अनोखा माधुर्य आ जाता है तथा वह चमत्कारपूर्ण हो जाती है।

उदाहरणार्थ :—

"···उसकी आखों से आँसू की नदी बह रही थी। पति

ने प्रेम के मद में मत्त हो कर घूँघट हटा दिया। दीपक था, पर बुझा हुआ। फूल था, पर मुरझाया हुआ।" ('धोखा')

इन सब गुणों के अतिरिक्त प्रेमचन्द की लेखन-शैली की एक सबसे अधिक स्मरणीय विशेषता यह है कि वे यथास्थल न जाने कहाँ कहाँ से ढूँढ कर ऐसे भावपूर्ण मुहावरों का प्रयोग करते हैं जिनसे उनकी भाषा में अनुपम रोचकता आविर्भूत हो उठती है। वास्तव में मुहावरों का जितना सुन्दर उपयोग उन्होंने किया है उतना शायद ही आजकल के किसी अन्य गद्य-लेखक ने किया हो। शुद्धवादी साहित्यज्ञ इस मुहावरों की भरमार को चाहे भले ही कृत्रिमतापूर्ण ठहरावें, किन्तु जिसे भाषा-सौन्दर्य को परखने का और उससे आनन्द प्राप्त करने का चाव है उसे प्रेमचन्द की भाषा अवश्य रसीली प्रतीत होगी कि मुहावरों का इतना आधिक्य होने से ही उनके गद्य की वर्णन-शक्ति बड़ी सुचारु तथा सजीव हो गई है। अन्य गम्भीर विषयों पर लिखते समय भी उनकी रचनाशैली वैसी ही प्रसाद-गुण-पूर्ण तथा विशद है जैसी कि अन्यत्र आख्यायिकों तथा उपन्यास में है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द जी ने अपनी भाषा में मुहावरों तथा उपमाओं को कुशलतापूर्वक गुम्फित करके अपनी व्यंजन-शक्ति की प्रगल्भता दिखाई है, उसी प्रकार उन्होंने भाषा के साथ अनेक स्थलों पर क्रीड़ा सी की है। उन्हें गद्य-रचना करने में ऐसा हस्त-लाघव सा प्राप्त हो गया था कि कभी कभी केवल

अपनी साहित्यिक रुचि को संतृप्त करने के उद्देश्य से ही वे एक ही बात को प्रकाशित करते समय शब्दों की झड़ी लगा देते हैं। जैसे :—

"विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो हो कर कभी शीतला को देखता और कभी घर को। मानो किसी नए संसार में पहुँच गया है। यह वह अधखिला फूल न था, जिसकी पखड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गई हों। यह पूर्ण विकसित कुसुम न था—ओस के जलकणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ।"

('आभूषण')

तथा :—

"सुभद्रा वहीं पाषाण-मूर्ति की भाँति खड़ी रही।...उसे अब अपने हृदय में एक प्रकार के शून्य का अनुभव हो रहा था, जैसे कोई बस्ती उजड़ गई हो। जैसे कोई संगीत बन्द हो गया हो, जैसे कोई दीपक बुझ गया हो।"

('सोहाग का शव')

इस तरह प्रेमचन्द भाषा के साथ अठखेलियाँ सी करते हैं। उसके द्वारा वे हार्दिक उल्लास का अनुभव करते हैं और बाँचकों को भी वही उल्लास प्रदान करते हैं।

अब उनकी गद्य-शैली की विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन करना है। अपने निकटवर्ती तथा पूर्ववर्ती हिन्दी-गद्य के प्रमुख उन्नायकों के मुक़ाबले में निस्सन्देह प्रेमचन्द जी ने अपनी रच-

नाओं के द्वारा गद्य-शैली को बहुत ही पल्लवित तथा परिमार्जित कर दिया है। उन्होंने पूर्वप्रचलित परम्परागत गद्य की भाषा में जिन नये उपादानों का समावेश किया है उनसे उसकी भाव-प्रदर्शन शक्ति अधिकाधिक व्यापक हो गई है। वर्णन प्रयोग के लिए तो वह सर्वोत्तम है ही, क्योंकि गूढ़ से गूढ़ तथा सरल से सरल भावों को सुगम किन्तु रोचक ढँग से प्रकट करने में भी वह सर्वथा समर्थ है। पर, इसके अलावा उनके मिश्रित भाषा में लिखे हुए तथा शिष्ट-समाज की बोल-चाल की भाषा से मिलते-जुलते गद्य ने हिन्दी की गद्य-शैली का साहित्यिक स्वरूप सदा के लिए एक निश्चित साँचे में ढाल दिया है। उनकी टकसाली भाषा-शैली ने अब भावी लेखकों को एक निर्धारित मार्ग दिखा दिया है। इस प्रश्न का कि हिन्दी-गद्य की भाषा संस्कृतमय होनी चाहिए कि उर्दूमय समाधान प्रेमचन्द ने व्यवहारिक रूप में कर दिया। पिछले गद्य-लेखकों का अधिकतर समय तथा उनकी साहित्यिक शक्तियाँ हिन्दी-प्रचार में तथा हिन्दी की भाषा का संस्कार करने ही में लगी रहीं। प्रेमचन्द ने स्वयं उर्दूदाँ होने के कारण तथा अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-लेखकों के प्रयत्न से पूरा लाभ उठाते हुए एक सुन्दर, रोचक शैली का आविष्कार किया है।

बालकृष्ण भट्ट तथा द्विवेदी जी ने गद्य की भाषा को संस्कृत के हवाले सौंप दिया था। उसे इस फन्दे से प्रेमचन्द आदि कतिपय उर्दूज्ञाता लेखकों ने मुक्त कर किया है। इसी तरह

द्विवेदी जी ने अपने पूर्वकालीन साहित्यिक जीवन में उसे बड़ा गम्भीर बना दिया था। इस अनावश्यक दुरूहता का प्रतीकार भी प्रेमचन्द ने किया है। दुरूहता के दलदल से निकाल कर उसमें रोचकता ला कर उन्होंने उसकी रचना-तारल्य की वृद्धि की है। आजकल शुद्ध संस्कृतमयी भाषा के समर्थक तथा प्रचारक सीधी-सादी, मुहावरेदार, सजीव शैली को गम्भीर तथा चिन्तनापेक्ष विषयों के लिए सर्वथा बेकार और अनुपयुक्त सिद्ध करने में जो दलीलें देते हैं उनका उत्तर भी प्रेमचंद जी ने अपने कई लेखों में दे दिया है। ऐसे विषयों पर उनके कई लेख हैं। उनमें से एक नमूना आगे दिया जा रहा है।

इन सब विचारों से प्रेमचन्द का आधुनिक गद्य-साहित्य में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

---

## मानसिक सन्ताप

सुमन झोंपड़े में चली गई, लेकिन शान्ता वहीं अँधेरे में चुपचाप सिर झुकाये खड़ी रो रही थी। जबसे उसने सदनसिंह के मुँह से वह बातें सुनी थीं, उस दुखिया ने रो रो कर दिन काटे थे। उसे बार बार अपने मान करने पर पछतावा होता। वह सोचती यदि मैं उस समय उनके पैरों पर गिर पड़ती तो उन्हें मुझ पर अवश्य दया आ जाती। सदन की सूरत उसकी आँखों में फिरती और उसकी बातें उसके कान में गूँजतीं। बातें कठोर थीं, लेकिन शान्ता को वह प्रेम और करुणा

से भरी हुई प्रतीत होती थीं। उसने अपने मन को समझा लिया था कि यह सब मेरे कुदिन का फल है, सदन का कोई अपराध नहीं। वह वास्तव में विवश है। अपने माता पिता की आज्ञा पालन करना उनका धर्म है। यह मेरी नीचता है कि मैं उन्हें धर्म के मार्ग से फेरना चाहती हूँ। हाँ, मैंने अपने स्वामी से मान किया, मैंने अपने आराध्यदेव का निरादर किया, मैंने अपने कुटिल स्वार्थ के वश होकर उनका अपमान किया। ज्यों ज्यों दिन बीतते थे, शान्ता की आत्मग्लानि बढ़ती जाती थी। इस शोक, चिन्ता और विरह पीड़ा से वह रमणी इस प्रकार सूख गई थी जैसे जेठ के महीने में नदी सूख जाती है। सुमन झोंपड़े में चली गई तो सदन धीरे धीरे शान्ता के सामने आया और काँपते हुए स्वर से बोला, शान्ता!

यह कहते कहते उसका गला रुक गया। शान्ता प्रेम से गद्गद् हो गई। उसका प्रेम उस विरत दशा को पहुँच गया था जब वह संकुचित स्वार्थ से मुक्त हो जाता है। उसने मन में कहा, जीवन का क्या भरोसा है। मालुम नहीं जीती रहूँ या न रहूँ। इनके दर्शन फिर हों या न हों। एक बार इनके चरणों पर सिर रख कर रोने की अभिलाषा क्यों रह जाय! इसका इससे उत्तम और कौन सा अवसर मिलेगा? स्वामी, तुम एक बार मुझे अपने हाथों से उठा कर मेरे आँसू पोंछ दोगे तो मेरा चित्त शान्त हो जायगा। मेरा जन्म सफल हो जायगा। मैं जब तक जीऊंगी इस सौभाग्य का आनंद उठाया करूंगी मैं तो तुम्हारे दर्शनों की आशा त्याग ही चुकी थी, किन्तु जब ईश्वर ने वह दिन दिखा दिया तब मैं अपनी मनोकामना क्यों न पूरी कर लूँ? जीवन रूपी मरु भूमि में यह

वृक्ष मिल गया है तो उसकी छाँह में बैठ कर क्यों न अपने दग्ध हृदय को शीतल कर लूँ ?

यह सोच कर शान्ता रोती हुई सदन के पैरों पर गिर पड़ी, किन्तु मुरझाया हुआ फूल हवा का झोंका लगते ही बिखर गया। सदन झुका कि उसे छाती से लगा ले, चिमटा ले, लेकिन शान्ता की दशा देख कर उसका हृदय विकल हो गया। जब उसने पहिले पहिल नदी के किनारे देखा था तब वह सौन्दर्य्य की एक नई कोमल पल्लव थी, पर आज वह सूखी पीली पत्ती थी जो बसन्तऋतु में गिर पड़ी है।

सदन का हृदय नदी में चन्द्र-किरणों के सदृश थरथराने लगा। उसने काँपते हुए हाथों से उस संज्ञा-शून्य शरीर को उठा लिया। निराशावस्था में उसने ईश्वर की शरण ली। रोते हुए बोला, प्रभो, मैंने बड़ा पाप किया है, मैंने एक कोमल, संतप्त हृदय को बड़ी निर्दयता से कुचला है; पर उसका यह दण्ड असह्य है, इस अमूल्य रत्न को इतनी जल्दी मुझ से मत छीनो, तुम दयामय हो, मुझ पर दया करो।

शान्ता को छाती से लगाये हुए सदन झोंपड़े में गया और उसे पलंग पर लिटा कर, शोकातुर से बोला, सुमन, देखो यह कैसी हुई जाती है, मैं डाक्टर के पास दौड़ा जाता हूँ। सुमन ने समीप आकर बहन को देखा। माथे पर पसीने की बूँदें आ गईं थी, आँखें पथराई हुई, नाड़ी का कहीं पता नहीं, मुख वर्णहीन हो गया था। उसने तुरंत पंखा उठा लिया और झलने लगी। वह क्रोध जो शान्ता की दशा को देख कर महीनों से उसके दिल में जमा हो रहा था, फूट निकला। सदन की ओर तिरस्कारपूर्ण नेत्रों से देख कर बोली यह तुम्हारे अत्याचार का फल है, यह तुम्हारी

करनी है, तुम्हारे ही निर्दय हाथों ने इस फूल को यों मसला है, तुम्हीं ने अपने पैरों से इस पौधे को यूँ कुचला है। लो तुम्हारा गला छूटा जाता है। सदन, जिस दिन से इस दुखिया ने तुम्हारी वह अभिमान भरी बातें सुनी, उसके मुख पर हँसी नहीं आई, उसके आँसू कभी नहीं थमें, बहुत गला दबाने से दो चार कौर खा लिया करती थी। और तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इस लिये कि मैं उसकी बहिन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने बरसों नाक रगड़ी है, जिसके तलुवे तुमने बरसों सुहलाये हैं, जिसके कुटिल प्रेम में तुम महीनों मतवाले रहे हो। उस समय भी तो तुम अपने माँ बाप के आज्ञाकारी पुत्र थे, या कोई और थे? उस समय भी तो तुम वही उच्च कुल के ब्राह्मण थे या कोई और थे? तब तुम्हारे दुष्कर्मों से खानदान की नाक न कटती थी। आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो! अँधेरे में झूठा खाने पर तैयार, पर उजाले में निमन्त्रण भी स्वीकार नहीं! यह निरी धूर्त्तता, दगाबाज़ी है। जैसे तुमने इस दुखिया के साथ किया है उसका फल तुम्हें ईश्वर देंगे, इसे तो जो कुछ भुगतना था वह भुगत चुकी। आज न मरी कल मर जायगी, लेकिन तुम इसे याद करके रोओगे। कोई और स्त्री होती तो तुम्हारी बातें सुन कर फिर तुम्हारी ओर आँख उठा कर न देखती, तुम्हें कोसती, लेकिन यह अबला सदा तुम्हारे नाम पर मरती रही; लाओ थोड़ा ठंडा पानी। सदन अपराधी की भाँति सिर झुकाये ये सब बातें सुनता रहा इससे उसका हृदय कुछ हलका हुआ। सुमन ने यदि उसे गालियाँ दीं होतीं तो और भी बोध होता। वह अपने को इस तिरस्कार के सर्वथा योग्य समझता था। उसने ठंडे पानी कटोरा सुमन को दिया और स्वयं पंखा झलने लगा। सुमन ने

शान्ता के मुख पर पानी के कई छींटे दिये। इस पर भी जब शान्ता ने आँखें न खोलीं तो तब सदन घबराकर बोला, जाकर डाक्टर को बुला लाऊँ न ?

सुमन—नहीं घबराओ मत। ठंडक पहुँचते ही होश आ जायगा। डाक्टर के पास इसकी दवा नहीं है। सदन को कुछ तसल्ली हुई; बोला, सुमन चाहे तुम समझते हो कि मैं बातें बना रहा हूँ लेकिन मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि उसी मनहूस घड़ी से मेरी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिली। मैं बार बार अपनी मूर्खता पर पछताता था। कई बार इरादा किया कि चलकर अपराध क्षमा कराऊँ। लेकिन यह विचार उठता कि किस बूते पर जाऊँ, घर वालों से सहायता की कोई आशा न थी। और मुझे तो तुम जानती ही हो कि सदा कोतल घोड़ा बना रहा। बस, इसी चिंता में डूबा रहता था कि किसी प्रकार चार पैसे पैदा करूँ और अपनी झोंपड़ी अलग बनाऊँ। महीनों नौकरी की खोज में मारा मारा फिरा, कहीं ठिकाना न लगा। अन्त को मैंने गंगा माता की शरण ली, और अब ईश्वर की दया से मेरी नाव चल निकली है, अब मुझे किसी के सहारे या मदद की आवश्यकता नहीं है। यहाँ झोपड़ी बना ली है। और विचार है कि कुछ रुपये और आ जाँय तो उस पार किसी गाँव में एक मकान बना लूँ, क्यों इनकी तबियत कुछ सँभलती हुई मालुम होती है ?

सुमन का क्रोध कुछ शान्त हुआ। बोली, हाँ, अब कोई भय नहीं है, केवल मूर्छा थी। आँखें बन्द हो गईं और होठों का नीलापन जाता रहा। सदन को ऐसा आनन्द हुआ कि यदि वहाँ ईश्वर की कोई मूर्ति होती तो उसके पैरों पर सिर रख देता। बोला, सुमन, तुमने मेरे साथ

जो उपकार किया है उसको मैं सदा याद करता रहूँगा। अगर और कोई बात हो जाती इस लाश के साथ मेरी लाश भी निकलती।

सुमन—यह कैसी बात मुँह से निकालते हो। परमात्मा चाहेंगे तो वह बिना दवा के ही अच्छी हो जायगी। और तुम दोनों बहुत दिनों तक सुख से रहोगे। तुम्हीं उसकी दवा हो, तुम्हारा प्रेम ही उसका जीवन है, तुम्हें पाकर अब उसे किसी वस्तु की लालसा नहीं है। लेकिन अगर तुमने भूल कर भी उसे अनादर या अपमान किया तो फिर उसकी यही दशा हो जायगी और तुम्हें हाथ मलना पड़ेगा।

इतने में शान्ता ने करवट बदली और पानी माँगा। सुमन ने पानी का गिलास उसके मुँह से लगा दिया। उसने दो तीन घूँट पानी पिया और तब चारपाई पर लेट गई। वह विस्मित नेत्रों से इधर-उधर ताक रही थी। मानो उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं है। वह चौंक कर उठ बैठी और सुमन की ओर ताकते हुए बोली, क्यों यही मेरा घर है न? हाँ, हाँ, यही है। आकर मुझे दर्शन दें; बहुत जलाया है, उस दाह को बुझाएँ। मैं उन से कुछ पूछूँगी। क्या नहीं आते? अच्छा तो लो मैं ही चलती हूँ। आज मेरी उनसे तकरार होगी। नहीं, मेरी उनसे तकरार होगी। नहीं, मैं उनसे तकरार न करूँगी, केवल यही कहूँगी कि अब मुझे छोड़ कर कहीं मत जाओ, चाहे गले का हार बना कर रक्खो, चाहे पैरों की बेड़ी बना कर रक्खो, पर अपने साथ रक्खो। वियोगदुःख अब सहा नहीं जाता। मैं जानती हूँ तुम मुझसे प्रेम करते हो, अच्छा न सही तुम मुझे नहीं चाहते तो मैं तो तुम्हें चाहती हूँ? अच्छा, यह भी नहीं सही, मैं भी तुम्हें नहीं चाहती, मेरा विवाह तो तुमसे हुआ है! नहीं, नहीं हुआ,

अच्छा कुछ न सही, मैं तुमसे विवाद नहीं करती, लेकिन मैं तुम्हारे साथ रहूँगी और अगर तुमने फिर आँख फेरी तो अच्छा न होगा, हाँ अच्छा न होगा। मैं संसार में रोने के लिए नहीं आई हूँ। प्यारे, रिसाओ मत, यह न होगा दो–चार आदमी हँसेंगे, ताने देंगे मेरी खातिर से सह लेना। क्या माँ बाप छोड़ देंगे; कैसी बात कहते हो? माँ बाप अपने लड़कों को नहीं छोड़ते। तुम देख लेना, मैं उन्हें खींच लाऊँगी, मैं अपनी सास के पैर धो धो पीऊंगी, अपने ससुर के पैर दबाऊंगी, क्या उन्हें मुझ पर दया न आवेगी? यह कहते कहते शान्ता की आँखें फिर बन्द हो गईं।

सुमन ने सदन से कहा, अब सो रही है, सोने दो, एक नींद सो लेगी तो उसका जी सँभल जायगा। रात अधिक बीत गई है अब तुम भी घर जाओ।

शर्मा जी बैठे घबराते होंगे। सदन–आज न जाऊँगा। सुमन–नहीं नहीं, वह लोग घबरायँगे। शान्ता अब अच्छी है। देखो कैसे सुख में सोती है। इतने दिनों में आज ही मैंने उसे यों सोता देखा है। सदन ने नहीं माना। वहीं बरांडे में आकर चौकी पर बैठ रहा और सोचने लगा।

[ 'सेवासदन' ]

# प्रेमचंद

## ( २ ) गवेषणात्मक शैली

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का

विषय है। और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहां आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से है आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही श्य या घटना या काण्ड हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नज़रों से देख सकते हैं। हिम से ढके हुये पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के लिए गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिये अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिये विह्लता की। विह्लता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहां हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहां ऊँचा-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शेवरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिये कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया था उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है।

[ 'जीवन में साहित्य का स्थान' ]

# चतुरसेन

———:o:———

आजकल के गद्य-लेखकों में चतुरसेन जी उसी कोटि में आते हैं जिसमें जयशंकरप्रसाद जी, वियोगी हरि जी तथा राय कृष्णदास जी हैं। जिस प्रकार अन्तःप्रकृति के भावों को प्रकट करने में उनका गद्य विशेष रीति से समर्थ है, उसी प्रकार चतुरसेन जी की शैली भी बड़े ही मार्मिक तथा विशद ढँग से भिन्न भिन्न मनोभावों को अंकित करने में पूरे तौर से उपयुक्त है।

श्री वियोगी हरि जी भक्ति-सम्बन्धी तथा रसिकता-पूर्ण विषयों पर लिखने में अपनी शैली का पूरा चमत्कार दिखाते हैं। पर चतुरसेन जी मानव-हृदय की अनेक अवस्थाओं का तथा उसमें तरंगित होनेवाले भावों को चित्रण करने में अधिक दक्ष हैं। इस विचार से उनकी भाषा बड़ी ही लचीली है। वह अनेक भावात्मक मानसिक स्थितियों को अविकल एवं सजीव रूप में व्यक्त करने के लिए परम उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

प्रायः भावात्मक प्रबन्ध लिखने वाले लेखकों की भाषा दुरूह सी हो जाया करती है, क्योंकि ऐसे निगूढ़ तथा मनोपिहित भावों की सूक्ष्म पर्यालोचना करते समय ऐसी ही शब्दावली दिमाग़ से निकलने लगती है जो गम्भीर होती है। किन्तु, चतुरसेन जी के प्रबन्धों में यह बात बहुत कम है। एक तो

अधिकतर उनके शब्द तत्सम नहीं हैं, और दूसरे उनका वाक्य-संगठन जटिल नहीं है।

वाक्य सीधे-सादे तथा सुबोध तो हैं ही, किन्तु साथ ही साथ उनका आकार भी छोटा ही है। भाषा के मुहावरों का यथास्थान प्रयोग जो उन्होंने यत्र-तत्र किया है उससे भी उनकी भाषा में प्रसादगुण की वृद्धि हो गई है। 'लोभ' के वश में पड़ कर मनुष्य की मानसिक अवस्था क्या से क्या हो जाती है, इसका चित्र कैसे जीते-जागते ढंग से चतुरसेन जी करते हैं।

"इसी का सारा नाता है—इसी की गर्मी ही मजे की गर्मी है। सच कहा है किसी ने—"धरा पाताल और दिये कपाल।" ...कमा कर कौन धनी बना है? राम कहो "घर आये नाग न पूजिये, बाँबी पूजन जायँ।" भगवान् ने घर बैठे लक्ष्मी भेजी है—तो क्या मैं ढकेल दूँ? सब के यहाँ इसी तरह चुपचाप आती है। गा बजा कर किसके गई है......?"

उनकी भाषा की विशदता और भी एक युक्ति से बढ़ जाती है। अन्तस्तल में चाहे जितने गहरे गड़े हुए भाव क्यों न व्यक्त करने हों उन्हें प्रकाशित करने को वे बड़े सजीव तथा साधारण जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उपमाओं का प्रयोग करते हैं जिससे बाचकों पर उनकी कही हुई बात का अच्छा असर पड़ता है। जैसे :—

"जैसे फूल से सुगन्ध उड़ जाती है, जैसे नदी का पानी सूख जाता है, जैसे चन्द्रग्रहण पड़ जाता है......जैसे दिये का

तेल जल जाता है,—वैसे ही उसकी नन्हीं सी जान निकल गई थी।" ('अन्तस्तल')

इस प्रसंग में यह बात विशेष उल्लेख के योग्य है कि जहाँ कहीं लेखक उपमाओं आदि ऐसे साधनों का उपयोग करता है वहाँ उसका यह प्रयत्न रहता है कि कहीं वे इस प्रकार गुम्फित न हो जावें कि जिनसे भाषा सरल होने के बदले कठिन हो जावे। इसी विचार से वे अपने अलंकार सीधे सादे रूप में जीवन की साधारण घटनाओं अथवा अनुभवों के आधार पर निर्मित करते हैं।

इन उपर्युक्त गुणों के अलावा चतुरसेन जी के गद्य में कई और ऐसी बातें हैं जो उन्हीं के समकक्ष लेखकों में भी कम मिलती हैं। यहाँ अभिप्राय विशेष कर दो से है। उनकी रचनाओं को पढ़ने पर वाचकों को स्वयं अनुभव होगा कि उनकी भाषा अत्यन्त द्रुतगामी है। शान्तरस से व्याप्त स्थलों पर भी ऐसा अनुभव होता है कि उनका दिमाग़ उनकी क़लम से आगे चल रहा है और वाचक के दिल में भी तद्रूप स्फूर्ति उत्पन्न करता जा रहा है।

उदाहरण के तौर पर यह अंश लीजिए :—

"···कैसा छटपटाया था, कितने हाथ पैर मारे थे, कितना ज़ोर लगाया था, पर अंत में ठंढा हो गया। आँखें बाहर निकल पड़ी थीं, जीभ हलक़ से लटक गई थी, गले की नसें फूल गई थीं, दो मिनट में दम उलट दिया।" ('भय')

यही नहीं 'अन्तस्तल' में 'दुःख', 'शोक', 'कर्मयोग' ऐसे शान्तरसाप्लावित विषयों की पर्यालोचना करते हुए भी उनकी भाषा के प्रवाह का वेग कम नहीं होता।

इस भाषा की द्रुति के कारण उनके गद्य में कभी कभी वक्तृत्व का सा आभास प्रतीत होने लगता है और यह समझ पड़ने लगता है कि मानो लेखक लेक्चरार की सी तेज़ी तथा वावदूकता दिखाने का प्रयत्न कर रहा ह ।

उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उनकी आत्मीयता की सच्ची झलक उनकी शैली में मिलती है। वाचकों के साथ मानसिक भावों का पारस्परिक आदान-प्रदान करने की हार्दिक इच्छा भी प्रकट होती है। इसका प्रमाण उनके किसी भी प्रबन्ध में मिल सकता है। चाहे "निराश' में चित्रित नैराश्यपूर्णता का वर्णन पढ़िए अथवा 'गर्व' में सूक्ष्मरीति से विश्लेषण किये हुए पुरुष के उद्दंडतापूर्ण व्यवहार का सच्चा वृत्तान्त पढ़िए, लेखक के मनोभावों को जानने की तथा उसके साथ साथ जीवन के विभिन्न विभागों का मार्मिक विवेचन करने की प्रबल उत्कंठा आप में अवश्य उत्पन्न होगी।

अन्त में चतुरसेन जी के गद्य को भावात्मक मान लेने पर यह विचार उठे बिना नहीं रहता कि अन्य भावात्मक लेखकों की तरह केवल अन्तर्जगत में उथल-पुथल मचानेवाले भावों का दिग्दर्शन ही करने में वे प्रवीण नहीं है। प्रत्युत, यों भी बाह्य जीवन की घटनाओं का वर्णन करने में उनकी भाषा कहीं कहीं

काफी सफल हुई है।

देखिए एक बुढ़िया का चित्र :—

"...... वह बुढ़िया मुझे मीठे स्वर से 'बेटा' कह कर पुकारती थी, पर मेरे हृदय में उसके लिये कभी मातृभाव उदय नहीं हुआ। उसकी सूरत ही ऐसी थी। छोटी छोटी साँप जैसी आँखें, सिकुड़े हुए अपवित्र होंठ और विल्ली जैसी चाल—मुझे भाती न थी।"

इस प्रकार की वर्णन-क्षमता होने पर उनके गद्य की व्यञ्जक-शक्ति परिमित है। क्योंकि, वास्तव में व्यावहारिक जीवन के मामूली अनुभवों तथा विचारों को विना उनके मानसिक स्रोतों तक पहुँचे सीधे सादे ढँग से प्रकट करने में कोई लेखक अधिक सफल नहीं हो सकता। पर, हाँ आजकल के हिन्दी-गद्य की भाषा को सरल तथा भावपूर्ण बनाने में जहाँ जयशंकरप्रसाद जी आदि अन्य कई सुलेखकों के नाम लिये जावेंगे वहाँ चतुरसेन जी भी स्मरणीय रहेंगे। क्योंकि जिस गद्य को द्विवेदी जी आदि महारथियों ने परिष्कृत करके साहित्यिक प्रयोग के योग्य बनाया है उसमें रस का प्रवाह करने में चतुरसेन जी ने उल्लेख्य कार्य किया है।

---

# आँसू

तुमने मृत्यु के समान ठण्डी और आशा के समान लम्बी निश्वासों के साथ बाहर आकर—उत्तप्त जल कण! क्या पाया? इतना भी न सह

सके ? छीः आप अधीर बने, मुझे भी अधीर बनाया । आखिर आब खोई ।

तुमने कोमल हृदय के गम्भीर प्रदेश में जन्म लेकर इतनी गरम और उतावल प्रकृति कहाँ पाई ? और देखते ही देखते एकाएक आँखों में आकर क्या देख कर पानी पानी होगये ? निर्दयी ! हृदय का सारा रस निचोड़ लाये; क्या आँखों के तेज बुझाने का इरादा था ?

हे अमल, धवल, उज्ज्वल उत्तप्त जल-कण ! हे हृदय के रसीले रस ! ऐसा तो न करो, जब तक हृदय है तब तक उसी में रहो, उसे इतना न निचोड़ो । कुछ अपनी आबरू का ख्याल करो, कुछ मेरे प्यार का लिहाज़ करो, कुछ उस दिन का मान करो—जब रस बन कर रम रहे थे । कुछ उस दिन का ध्यान करो जब बाहर आकर दुर्लभ दृश्य पाया था ।

हे आनन्द के उज्ज्वल मोती ! इन आँखों में तुम ऐसे सज रहे हो जैसे हरे भरे वृक्ष की नवीन रक्काभ कोंपल । पर तुम्हारा ढरकना—बहुत करुण है—बहुत उदास है—तुम ढरकते क्या हो—मानो प्यार से भरा हुआ जहाज़ समुद्र में डूब रहा है । तुम्हारे इस ढरकने का नीरव रव ग्रीष्म की ऊषा के प्रारम्भिक अन्धकार में अधजगे पक्षियों के कलरव के समान उदास मालूम होता है ।

( 'अन्तस्तल' )

# राय कृष्णदास

—:※:—

ये आजकल के होनहार गद्य–लेखकों में से हैं। इन्होंने कई प्रकार की रचनायें की हैं। कहानी, अलाप, कविता, गद्य–काव्य सभी प्रकार की रचनायें ये करते हैं। पर, इस प्रसंग में गद्य–लेखक के नाते इन पर संक्षेप से विचार किया जाता है।

## गद्य-शैली

वैसे तो साधारण जीवन की घटनाओं पर भी वे कहानियाँ लिखते हैं। पर जहाँ कहीं मानव–हृदय की मनोवृत्तियों का चित्रण करने का उन्हें मौक़ा मिलता है तब तो वे बड़ी ही कुशलता दिखाते हैं। न केवल उन मनोवेगों का मार्मिक निरीक्षण करने में ही वे चतुरता का परिचय देते हैं, बल्कि वे ऐसी भावपूर्ण, कोमल–कान्त शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो बड़ी ही आकर्षक होती है। वैसे भी प्रायः उनकी भाषा में एक प्रकार का गहरा मार्दव रहता है और उसके प्रत्येक शब्द में ऐसी तरलता रहती है जिससे पढ़नेवाले के हृदय पर शाब्दिक सौन्दर्य का अनोखा चित्र अंकित हो जाता है।

इसके सिवाय वे बहुत छोटे छोटे वाक्य लिखते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि मानो बड़ी फ़ुर्सत से वे भाषा गढ़ते हैं और उनके मनोभाव आपसे आप झरते हैं।

आजकल के रहस्यवादी कवियों के हाथ से भाषा में जो सजीवता तथा शाब्दिक चमत्कार आ रहा है उसका नमूना राय साहब के गद्य में मिलता है। हाल के गद्य-लेखकों ने गद्य की भाषा को हास्य तथा व्यंग से सराबोर करके उसको सुकुमार मनोभावों को व्यक्त करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बना दिया था। उसी को कृष्णदास जी सरीखे अन्य लेखकों ने अच्छी तरह से पूरा करने की कोशिश की है।

उनकी लिखने की शैली में एक और भी बड़ा गुण है। मनोभावों को प्रकट करने की शक्ति होने के साथ साथ उसमें काल्पनिक छटा भी है। यह कल्पनाशक्ति उनकी प्रयुक्त हुई उपमाओं में देख पड़ती है। पर, इसका समुचित दिग्दर्शन ऐसे स्थलों पर बड़ी खूबी के साथ होता है जहाँ वे प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए मानवी भावों तथा घटनाओं का तद्रूप दृश्य सा अंकित करते हैं।

अन्त में, उनकी गद्य-शैली वास्तव में शुद्ध संस्कृत परिपाटीवाली कही जा सकती है। पर उसमें संस्कृत की दुरूहता नहीं है।

## भाषा का नमूना

"चारों ओर छोटी छोटी टोकरियाँ थीं, उन पर हरियाली का अटल राज्य। सारी बन-स्थली फूलों से लदी थी। रंगों का मेला लग रहा था—वहीं प्रकृति का मीना बाजार था। सौरभ का कोष खुला हुआ था।...."

( सुधांशु' )

तथा,

"रमणी माया की तरह रहस्यमय, कुहुक की तरह चमत्कार-पूर्ण, शिशु-हृदय सी सरल, चंद्रिका की तरह निर्मल, कला की तरह मंजुल ······उसकी आँखें मरुस्थल की तरह सूखी, एवं उजाड़ गाँव की तरह सूनी थीं।" ('अनाख्या')

---

## जयशंकरप्रसाद

जयशंकरप्रसाद जी नाटक, कहानी तथा कविता तीनों लिखने में सिद्धहस्त हैं। नाटक उन्होंने अधिकतर ऐतिहासिक विषयों पर लिखे हैं। बौद्धकालीन भारतीय संस्कृति तथा धार्मिक उत्थान का जो प्रामाणिक चित्र उन्होंने 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में खींचा है वह सर्वथा हृदयग्राही है। यह बात दूसरी है कि वे रंगमंच पर खेले जाने के उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

गद्य में भी प्रसाद जी ने राय कृष्णदास आदि कई लेखकों की तरह एक नया चमत्कार दिखाया है। पिछले लेखकों ने हिन्दी-गद्य को काट-छाँट कर उसे व्यावहारिक स्वरूप देने का जो सराहनीय प्रयत्न किया था और उसमें हास्य-व्यंग का जो मिश्रण किया था उससे उसका कलेवर तथा उसकी साहित्यिक क्षमता तो अवश्य बढ़ गई थी, किन्तु कालान्तर में युग-प्रवृत्ति पलटने पर वह कुछ कुछ संकीर्ण-प्रयोग सिद्ध होने लगा।

विज्ञान की अपूर्व वृद्धि होने के साथ ही साथ आधुनिक संसार की विचार-धारा में मननशीलता की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। अब आजकल के जीवन में नित्य नई नई सामाजिक, राजनीतिक किम्वा दार्शनिक समस्यायें जटिल रूप में आविर्भूत होती रहती हैं जिनसे मानव-हृदय उद्वेलित हो रहा है। इसी जगद्व्यापी मनोगाम्भीर्य को अविकल रूप में व्यक्त करने के लिए पिछली शताब्दी के लेखकों की मखौलपने से सराबोर भाषा काम नहीं दे सकती। पुराने मनचले लेखक अपने समकालीन प्रश्नों का समाधान करते समय हास्य और व्यंग के द्वारा लोगों के दिलों में जो झटके दिया करते थे उनसे अब काम नहीं चलने का।

जयशंकरप्रसाद जी का महत्व ठीक इसी स्थल पर इसी प्रसंग में समझ पड़ने लगता है। उनकी लिखी हुई कोई भी कहानी ले लीजिए। उसमें आपको एतद्कालीन सामाजिक परिस्थिति में पले हुए किसी भी चिंतनशील तथा आन्दोलित-हृदय पुरुष की मानसिक अवस्था का अच्छा हाल मिलेगा। उससे यह भी ज्ञात होगा कि आजकल के जीवन में अशान्ति सी व्याप्त हो रही है। किसी को व्यावहारिक जगत् के रूढ़ि-बन्धनों तथा स्वतन्त्र रीति से उद्भूत हुई वैयक्तिक भावनाओं के पारस्परिक संघर्ष के चक्कर में फँसे हुए देखते हैं तो किसी को अन्य रीति से क्षुब्ध पाते हैं।

ऐसी कोमल मानसिक परिस्थितियों का उपयुक्त चित्रण एक

विशेष प्रकार की मार्दव-युक्त भाषा में ही हो सकता है। एवं, जयशंकरप्रसाद जी की गद्य-रचनायें कहीं से भी खोल कर देखिए, उनकी भाषा सदैव चुनी हुई तथा अत्यन्त कोमलतायुक्त मिलेगी। यह गुण वे केवल श्रुतिमधुर शब्दों के प्रयोग ही से नहीं लाते। शब्दों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए वे एक युक्ति काम में लाते हैं। अर्थात्, जहाँ किसी पात्र के मनोभाव शान्त-रूप में प्रकट करने होते हैं वहाँ वे उसकी मनोवस्था की तुलना बाह्यप्रकृति के तद्रूप दृश्यों से करते हैं। उनकी दृष्टि में बाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृति समानान्तर रेखायें हैं जिनका सम्मिलन स्थूल दृष्टि से चाहे भले न दीख पड़े पर वे वास्तव में एक दूसरे से अदृश्य रीति से मिली हुई हैं।

प्राकृतिक दृश्यों से उन्हें मानव-हृदय के भीतर छिपे हुए भावों का प्रकटीकरण करने के लिए दृष्टान्त भी खूब मिलते हैं। इन उदाहरणों अथवा तुलनाओं के प्रयोग से उनके गद्य में दुरूहता नहीं आने पाती। जैसे :—

'यौवन के ढलने में भी एक तीव्र प्रवाह था जैसे चाँदनी रात में पहाड़ से झरना गिर रहा हो।' इस प्रकार उनके गद्य की भाषा चित्रमय है। साथ ही साथ उससे लेखक की प्रबल कल्पनाशक्ति तथा काव्योपयुक्त अनुपम सूझ का पता लगता है।

उनकी भाषा की कल्पनाशक्ति तथा चित्रमयता का प्रभाव उसकी व्यंजनाशक्ति अर्थात् सांकेतिकता से और भी अधिक बढ़ जाता है।

पर, जयशंकरप्रसाद के गद्य की वर्णनात्मक शक्ति नियमित है। क्योंकि कल्पनापेक्ष स्थलों पर तथा मनोभावों को प्रकट करने में ही वह अपना पूरा चमत्कार दिखाती है। जहाँ बाहरी बातों का वर्णन करना होता हैं, वहाँ बिना काल्पनिक उड़ान लिए उनकी भाषा लड़खड़ाने लगती है।

उदाहरणार्थ 'गुदड़ी में लाल' शीर्षक कहानी में एक बुढ़िया का वर्णन वे यों करते हैं :—

"दीर्घ निश्वासों का क्रीड़ास्थल, गर्म गर्म आँसुओं का फूटा हुआ पात्र! काल कराल की सारंगी, एक बुढ़िया का जीर्ण कंकाल, जिसमें अभिमान के लय में करुणा की रागिनी बजा करती है।"

अन्त में, उनकी गद्य-शैली काव्योचित गुणों से युक्त है और भावपूर्ण विषयों के प्रतिपादन में अधिक काम की है। इसके सिवाय उसका वर्गीकरण संस्कृत की ओर झुकी हुई शैलियों के साथ हो सकता है।

शान्त मनोभाव ही उससे मनोहारी ढँग से व्यंजित हो सकते हैं।

---

# भाषा का नमूना

वनस्थली के रंगीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठीं, देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पँखुरियाँ, बसंत-पवन के परों के समान हिल रही थीं। पीले पराग का अंगराग लगने से किरणें पीली पड़ गईं। बसंत का प्रभाव था।

युवती कामिनी मालिन का काम करती थी। उसे और कोई न था। वह इस कुसुम-कानन से फूल चुन ले जाती और माला बनाकर बेचती। आज भी वह फूले हुए कचनार के नीचे बैठी माला बना रही थी। भँवरे आये, गुनगुनाकर चले गए। बसन्त के दूतों का संदेश उसने न सुना। मलय-पवन अंचल उड़ा कर, रूखी लटों को बिखरा कर, हट गया। मालिन बेसुध थी।

( 'आकाशदीप' )

# महादेवी वर्मा

—:*:—

कवि एक उच्च कोटि के कलाकार होते हैं। साधारण लेखकों की तरह बिना सोचे-विचारे वे भाषा का प्रयोग नहीं करते। उनकी वाणी अन्तस्तल से प्रस्फुटित हो कर चुने हुए चमत्कार-पूर्ण शब्दों के द्वारा मुखरित होती है। उनके वाक्यों में प्रवाह होता है, अनुभूति की स्फूर्ति होती है तथा अनुपम सौन्दर्य होता है। आज कल की खड़ी बोली की कविता में कई अनर्गल बातें मिलतीं हैं। उनमें रोने-गाने की आवाज़ है, निराशापूर्ण तथा उजड़े हुए जीवन का चित्र है और झूठी अनुभव-शून्य काल्पनिकता की भरमार है। कहीं कहीं संसार से ऊबे हुए मन-चले युवकों की ध्वंसात्मक मनोवृत्तियों का प्रकटीकरण है।

पर इन सब बातों से चढ़-बढ़ कर कवियों के आलाप हैं जो ऐसे ढँग से व्यक्त किये गये हैं जिनका सर-पैर नहीं मिलता। न तो कोष काम देता है, न बुद्धि काम देती है और न टीकाकार।

एवं, 'अर्थ' समझने का प्रयास निष्फल सिद्ध होता है, क्योंकि उनकी विचार-शृंखलायें तथा उपमायें सांसारिक जीवन के साधारण ज्ञान और तर्क दोनों से परे होती हैं।

इन दोषों के रहते हुए भी आज-कल के कवियों की रच-नायें एक दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। उनमें भाषा का जो मृदुल,

सुन्दर और प्रखर स्वरूप मिलता है उससे पूर्वकालीन खड़ी-बोली की कर्कशता तथा वर्बरता मिट गई है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि सुकुमार तथा सुमधुर शब्द-चयन करके हमारे कवियों ने भाषा का कलेवर ही बदल दिया है।

इस विचार से 'हिन्दी भाषा' तथा 'हिन्दी-गद्य' के इतिहास में इन रहस्य-वादी कवियों का स्थान बड़े महत्व का है।

श्री महादेवी वर्मा आज-कल के प्रमुख कवियों में हैं। अपने सम-कालीन कवि-वर्ग की कई विशेषतायें रखते हुए उनकी चिन्तन-शीलता, देशानुराग, व्यापक मानवता, अनुभूति, मार्मिकता सभी अनूठे हैं।

उन्होंने गद्य में भी काफी लिखा है। 'वर्णनात्मक तथा आलोचनात्मक' दोनों प्रकार की गद्य-रचनायें उन्होंने की हैं जिनके नमूने आगे दिये जा रहे हैं।

एक प्रतिभा-सम्पन्न कवियित्री तथा प्रवीण लेखिका होने के अलावा महादेवी जी कुशल चित्रकार भी हैं। इस लिए उनकी भाषा-शैली में कल्पना, भावपूर्णता, सजीवता, तथा भाषा-चमत्कार सभी भरे पड़े हैं। उनका प्रकृति-प्रेम, मानव-जीवन के तल तक पहुँचने वाली उनकी प्रखर दृष्टि तथा जीवन के सुख-दुख से तत्काल स्पंदित होनेवाला उनका सुकुमार हृदय इन सब के संयोग से उनकी भाषा एक अनोखी सुकुमारता तथा यथार्थता से अनुप्राणित हो जाती है।

'कहानियाँ' अथवा 'संस्मरण' लिखते समय 'अतीत के

चल चित्र' नामक रचना में महादेवी जी अपने हृदय में गड़े हुए अनुभवों तथा मनोवेगों को ऐसी मर्मस्पर्शी तथा सजीव भाषा में अङ्कित करती हैं कि वाचक का मन उन्हीं के साथ उनके 'अतीत' की ओर उड़ा चला जाता है।

किसी विशेष घटना का वर्णन करने के पहले वे प्रायः तत्सम्बन्धी बेला तथा ऋतु का एक सूक्ष्म किन्तु मनोहारी चित्र सामने रख देती हैं। इस प्रकार कथा-वस्तु प्रस्तुत करते समय तदनुकूल एक वातावरण बना कर वे अपने 'अतीत के चित्रों' की चल-झाँकी दिखाती हैं।

प्राकृतिक वर्णनों में विशेषणों की छटा निराली होती है। 'सुनहली संध्या', 'विरल बादल', 'उन्मद गति' आदि उदाहरण इस बात के परिचायक हैं। 'दीनता', 'दुःख', 'निराशा' आदि जीवन की संतप्त हृदयों की मनोव्यथा का वाह्य तथा आन्तरिक दिग्दर्शन कराते समय महादेवी जी इतनी आर्द्रित तथा उद्वेलित हो उठती हैं कि उनकी भाषा करुण-रस से अवगुंठित हो जाती है। ऐसे हृद्स्पर्शी स्थलों पर उनकी भाषा अधिक द्रुतिगामी हो जाती है और उपमाओं की झड़ी बँध जाती है। उनकी हृत्तन्त्री भी ऐसे अवसरों पर झंकृति हो उठती है। इसी कारण वर्णन करते करते उनके दिमाग़ में एक तूफ़ान सा चलने लगता है। विवश हो कर वे वर्णन-शृंखला को छोड़ कर अपनी गम्भीर विचार-धारा को प्रकट करने लगती हैं जो किसी घटना-विशेष से उनमें सञ्चालित हो जाती है।

'नौ' शीर्षक लेख में अंधे अलोपीदीन काछी के स्तुत्य पुरुषार्थ का उल्लेख करते हुए महादेवी जी जीवन के दुःखपूर्ण स्वरूप की ओर संकेत करती हुई कहती हैं :—

"साधारणतः आज के पुरुष का पुरुषार्थ विलाप है। जितने प्रकार से, जितनी भाव-भंगियों के साथ, जितने स्वरों में वह अपने निराश जीवन का मर्सिया गा सके, उतना ही वह स्तुत्य है।"

'रहस्यवादी' आधुनिक कवियों ने जिस प्रकार के श्रुति-मधुर किन्तु अटपटे शब्दों का प्रचार किया है वे महादेवी जी के गद्य में भी मिलते हैं—जैसे 'नीरव जिज्ञासा', 'फीकी स्मृति', 'नीरव आँसू'।

अभी महादेवी जी की चिन्तनशीलता, गम्भीरता तथा निराशावादिता का उल्लेख किया गया है। पर, उनमें समय समय पर जीवन की छोटी से छोटी और विषम से विषम घटनाओं से साहित्यिक रस निकाल कर भाषा-द्वारा क्रीड़ा करने की प्रवृत्ति भी है। धुरन्धर कलाकार जिनमें जीवन के प्रति अनुराग होता है, और जिन्हें उसी से प्रेरणा भी मिलती है, भाषा का वही प्रयोग करते हैं।

महादेवी जी इस प्रकार का शाब्दिक कौतुक या तो किसी पात्र-विशेष के मनोविश्लेषण के पूर्व उसकी वेश-भूषा अथवा आकार-प्रकार का वर्णन करते समय करती हैं, या किसी असाधारण घटना पर टिप्पणी करते समय।

उदाहरण लीजिए :—

"......मेरी खिड़की के सामने वाला नीम ही बचिया का रंग-मञ्च था और मेरी कुतिया, छात्रावास की पूसी जैसे महत्वपूर्ण दर्शकों का तो वहां स्वागत होता ही था, साथ ही अज्ञातनामा चिड़ियाँ और नीमवासिनी पड़ोसिन गिलहरी की आवभगत में भी कमी न थी।"

इसी प्रकार 'रामा' नौकर की हुलिया का बखान करती हुई श्रीमती महादेवी जी कहती हैं :—

"रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौहें और छोटी छोटी स्नेह-तरल आँखें कभी कभी स्मृति-पट पर अंकित हो जाती हैं। किसी थके, झुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़, मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलानेवाली सघन और सफ़ेद दन्त-पंक्ति"...

('एक')

इन अवतरणों से यह भली भाँति प्रकट होता है कि महादेवी जी की वर्णन-शैली काफ़ी सरस तथा सजीव है। साथ ही साथ यथावसर उसमें तरलता तथा गाम्भीर्य का समावेश करने में वे खूब कुशल हैं।

अन्त में एक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त करना है। उनके गद्य में अधिकांश में शुद्ध हिन्दी की शब्दावली है और उसका सम्बन्ध संस्कृत से निकटतम है। उर्दू अथवा

हिन्दुस्तानी वाली भाषा-विषयक परम्परा से उनकी शैली कोसों दूर है।

—:o:—

## भाषा का नमूना

रधिया को मूर्तिमती दीनता कहना चाहिए। किसी पुरानी धोती की मैली कोर फाड़ कर कसे हुए रूखे उलझे बाल पर्व त्योहार पर काली मिट्टी से मल धो भले ही लिए जाँय पर उन्हें कड़ुये तेल की चिकनाहट से भी अपरिचित रहना पड़ता था। धोती और उसके किनारे को धूल एकाकार कर देती थीं।······

दुःख एक प्रकार का शृंगार भी बन जाता है। इसी कारण दुःखी व्यक्तियों के मुख देखनेवालों की दृष्टि को बाँधे बिना नहीं रहते। रधिया के मुरत का आकर्षण भी उसकी व्यथा ही जान पड़ती थी।······नाक आँखों के बीच में एक तीखी रेखा खींचती हुई ओठ के ऊपर गोल हो गई थी। गहरे काले घेरे से घिरी हुई आँखें ऐसी लगती थीं जैसे किसी ने उँगली से दबा कर उन्हें काजल में गाढ़ दिया हो। ओठों पर पड़ी हुई सिकुड़न ऐसी जान पड़ती थी मानों किसी तिक्त दवा की प्याली के निरन्तर स्पर्श का चिह्न हो।······वह जीवन-रस से जितनी निचुड़ी हुई थी, दुःख में उतनी ही भीग कर भारी हो उठी। इसी कारण उसमें न वह शून्यता थी जो दृष्टि को रोक नहीं पाती और न वह हल्कापन, जो हृदय को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रखता।

[ 'अतीत के चल चित्र से' ]

# यशपाल

——:o:——

यशपाल जी चुने हुए क्रान्तिकारी देश-भक्तों में हैं। उन्होंने अपने जीवन का वह काल जिसे अधिकांश युवक आमोद-प्रमोद अथवा धनोपार्जन में व्यतीत किया करते हैं, अपने देश को पराधीनता से मुक्त करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर, वीरता, साहस तथा त्याग द्वारा आतङ्कापेक्ष कार्यों में लगाया है।

लेखक की हैसियत से भी उनका एक प्रमुख स्थान है।

उग्र विचारवाले होने से तथा क्रान्ति में अटल विश्वास रखते हुए, उनकी लेख-शैली बड़ी तीखी, शक्ति-सम्पन्न तथा प्रभाव-पूर्ण है।

उनके लेख केवल शाब्दिक सज-धज, तथा विद्वत्ता-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखे गये। समाज में एक प्रचण्ड भूकम्प पैदा करना तथा मानसिक क्रान्ति का सञ्चार करना, यही उनके लेखों का प्रधान उद्देश्य है।

उनके एक एक वाक्य से उनकी अदम्य प्रगतिशीलता, अथाह उत्साह तथा प्रबल आतुरता झलकती है। विचार-शैली भी बड़ी खरी, स्पष्ट तथा मर्म-स्पर्शी है। ऐसा आभास होता है कि मानो लेखक तत्कालीन विचार-परम्परा और समाज-व्यवस्था को देख कर बड़ा क्षुब्ध तथा असंतुष्ट हो रहा है। साथ ही

साथ वह जल्दी से जल्दी प्रचलित उन रूढ़ियों, आडम्बरों तथा मनोवृत्तियों को बारूद से उड़ा देने के लिए तुला हुआ सा जान पड़ता है कि जिनके कारण अपने देश का वातावरण गँदला हो रहा है।

उनकी इस उग्र विचार-प्रवृत्ति का प्रकटीकरण भी ऐसी भाषा में हुआ है जिसमें चुभीलापन, प्रखरता तथा बेलागपन है। भाव-प्रदर्शन भी बड़े ओजपूर्ण और सीधे-सादे ढँग से हुआ है। यही नहीं, विचारस्वयं विशद और व्यंग-पूर्ण तो हैं ही, किन्तु वे ऐसे शब्दों तथा ऐसे दृष्टान्तों अथवा उपमाओं के रूप में व्यक्त किये गये हैं कि वे तत्काल मन पर असर कर लेते हैं।

यशपाल की भाषा-शैली इस दृष्टि से काफ़ी उल्लेख्य कही जा सकती है कि उसके अधिकाधिक प्रचलित होने से हिन्दी-गद्य की उस अवाञ्छनीय प्रवृत्ति का समुचित दमन होने की सम्भावना है जिसमें आधुनिक कवियों की देखा-देखी बहुत से लोग कविता-मय अर्थ-शून्य गद्य लिखने लगे थे। भाषा के हिसाब से यशपाल जी की गद्य-शैली बोल-चाल के काफ़ी निकट है। इसके सिवाय, शुद्धता अथवा संस्कृतता के झमेले में पड़ कर उन्होंने अपनी भाषा की व्यञ्जक शक्ति तथा उसके स्वाभाविक प्रवाह को नष्ट नहीं किया।

---

# यशपाल का गद्य

"......हिन्दुओं के त्योहारों का कहना ही क्या। मानो हमेशा आनन्द में पागल हो जाने का बहाना ढूंढ़ते फिरते हैं। होली को ही लीजिए। होली के दिन तो जो कुछ न हो जाय वही गनीमत। भारत में होली के अवसर पर जीवन-शक्ति का जितना उत्कट उच्छ्वास होता है, मेरे विचार में उसे यदि नियमित रूप से संचित कर संसार के बड़े से बड़े साम्राज्य की जड़ में लगा दिया जाय, तो वह साम्राज्य की अडिग चट्टान को डाइनामाइट की तरह उड़ा देगा।

मनुष्य आनन्द में पागल होकर अपनी शक्ति का व्यय क्यों करता है? शरीर को पुष्ट करने के लिए व्यायाम करके भी मनुष्य अपनी शक्ति को व्यय करता है। शारीरिक शक्ति के व्यय से शरीर सशक्त होता है, उसी प्रकार आनन्द में उच्छ्वासित हो कर जीवन-शक्ति बहाने से जीवन-शक्ति और जीवन के उच्छ्वास बढ़ते हैं। इसी लिए राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए नाच, गान, मेले, तमाशे, नाटक, दंगल आदि बहुत जरूरी हैं। वे समाज में जीवन-शक्ति उत्पादन करने वाली ग्रन्थियाँ हैं। हमारे मन्दिर, मस्जिद और धर्म-स्थान राष्ट्र के शरीर में नासूर हैं, जो उनकी स्वाभाविक उन्नति को रोक कर उसे सुस्त और निष्क्रिय बनाने की चेष्टा करते हैं।......

( 'न्याय का संघर्ष'-से )

# महाराज रघुवीरसिंह

—:*:—

सीतामऊ-नरेश डाक्टर रघुवीरसिंह इतिहास के पण्डित तो हैं ही उन्होंने अपनी पुस्तक 'मालवा का इतिहास' लिख कर एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक कमी की पूर्ति की है और ख्याति प्राप्त की है। पर आधुनिक गद्य-लेखकों में भी उनका एक प्रशस्त स्थान रहेगा।

इतिहास-लेखकों की दो तरह की लेखन-शैलियाँ हुआ करती हैं। साधारणतः प्राचीन इमारतों के खँडहरों, मूर्तियों, शिलालेखों तथा सिक्कों में रात-दिन लीन रहनेवाले इतिहासज्ञ अधिकांश में तर्क-कुशल तथा प्रज्ञा-वादी होते हैं। एवं उनकी भाषा तथा विचार-पद्धति दोनों में रूखापन होता है। संग्रहीत ऐतिहासिक सामग्री की छान-बीन करके उसके आधार पर निष्कर्ष निकालते निकालते उनमें ऐसी विश्लेषक मनोवृत्ति उद्दीप्त हो जाती है कि सुंदर से सुंदर इमारत अथवा अन्य कला-वस्तु देख कर भी वे भावावेग से बह नहीं जाते।

डाक्टर रघुवीरसिंह इसके प्रतिकूल एक उत्कृष्ट इतिहासज्ञ होते हुए भी उस नीरस, तर्क-प्रधान तथा इतिवृत्तात्मक शैली के लेखक नहीं है जिसका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है।

उनकी भाषा में कल्पनाशक्ति का प्राधान्य है। साथ ही साथ उसमें कविता की भावुकता, मार्मिकता, शब्द-लालित्य,

रसप्लाव, तथा मनोहारिता ये सभी गुण हैं। पुरानी इमारतों के भग्नावशेष तक उनके हृदय में अतीत काल की ऐतिहासिक घटनाओं के तद्रूप भाव उद्वेलित कर देते हैं। 'नूरजहां की क़ब्र' तथा 'ताज' इन दोनों लेखों में डाक्टर साहब ने वर्णन-चमत्कार का बड़ा सुंदर परिचय दिया है।

जहाँगीर तथा नूरजहाँ के प्रथम मिलन से लेकर उनके राज्य-श्री-कालीन पारस्परिक प्रणय-लीला की याद करते हुए अन्त में उनके समाधिस्थ होने के समय तक उनके भोग-विलास की कहानी का बखान करते समय रघुवीरसिंह जी काल्पनिक उड़ान लेते लेते बिल्कुल तल्लीन और विभोर हो गये हैं। उनकी भाषा में ऐसी मन्थर-गति आ गई है जैसी कि करुण-रस से विह्वल हुए दर्शक की हो जाती है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान करते हुए पुरानी इमारतें टटोलते टटोलते लेखक के सुकुमार तथा चेतनापूर्ण कवि-हृदय में सांसारिक जीवन की क्षणभंगुरता का भाव अमिट होकर अङ्कित हो गया है। इसी दृष्टि से उन्होंने इतिहास को एक स्थल पर अपनी स्मृति को 'चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा' का एक प्रयत्न कहा है।

पुरानी इमारतों के खँडहरों में वे एक मूक ध्वनि सुनते हैं जो अपने को तथा अपनी कृतियों को अमर बनाने के मानव दुष्प्रयत्न पर अट्टहास है।

उनकी भाषा-शैली में उनकी काव्योचित प्रकृति का पूरा

परिचय मिलता है। छुई-मुई की तरह संसार-चक्र की घटनाओं से तत्काल मुरझा जाने वाले और भावावेश से प्रभावित हो कर गम्भीर दार्शनिक किन्तु एक सहृदय पुरुष की भाँति चिन्तन-निमग्न हो कर रघुवीरसिंह जी बहुत गहरे चले जाते हैं। इसी कारण उनका एक एक भाव बड़े विस्तार से पल्लवित होता चला जाता है। ऐसा जान पड़ने लगता है कि जैसे कोई निश्चिन्त, बड़ी फ़ुरसत से एकान्त में बैठा हुआ घण्टों तक एकाग्रचित्त मनन कर रहा हो।

पर, अपनी विचार-धाराओं को प्रकट करते समय भाषा-सौन्दर्य का वे पूरा ध्यान रखते हैं। उनकी शब्दावली बड़ी ही सङ्कलित, सरल, मृदुल तथा भावपूर्ण होती है। एक एक शब्द, एक एक वाक्य, लेखक की किसी न किसी अभिप्रेत मनोभावना अथवा अनुभाव का संकेत तथा समर्थन करता है।

समय समय पर भावावेग से आन्दोलित होने पर भाषा में ओज तथा चुभीलापन बढ़ जाता है। ऐसे स्थलों पर एक ही विचार कई तरह से अनेक वाक्यों के द्वारा प्रकट किया जाता है। 'ताज' शीर्षक निबन्ध का अन्तिम पैरा इस बात का अच्छा उदाहरण है।

अन्त में, रघुवीरसिंह जी की गद्य-शैली भाव-पूर्ण, कल्पना-पेक्ष तथा चिन्तनोपयुक्त है। उसमें माधुर्य, रस तथा भावुकता ये तीनों कविता के आवश्यक उपादान हैं।

# परिशिष्ट

## हिन्दुस्तानी के नमूने

१

### कृत्रिम हिन्दुस्तानी

आज भी हिंदुस्तान की इस पुरानी धर्म और ज्ञान की धरती पर एक आदमी जिस्म के लिहाज़ से छोटा आदमी पैदा हुआ। अस्सी बरस तक इसी ज़मीन पर घूमता फिरता रहा, बोलता चालता रहा। उसको करोड़ों ने देखा। करोड़ों ने ही उसके होंठों से उसकी नर्म और मधुर आवाज़ को सुना। करोड़ों ने उसके प्रेम और अहिंसा के बतलाए हुए रास्ते पर चलने का एलान भी किया। कितनों ने उसकी बोली बोलना, उसके से कपड़े पहिनना, चरखा नहीं तो खद्दर पहिनना सीखा......पर मौक़ा आने पर मालूम हुआ कि वह आस्मान के सूरज की तरह अकेला ही आया था।

(मेहर मुहम्मद खां 'शहाब' 'नया हिंद'–मई, '४८ से)

२

### अच्छी बोलचाल की हिन्दुस्तानी

लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता; बल्कि, यों कहना चाहिये कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावन्त राग-रागनियाँ गाते समय केवल

संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुनने वालों में कितने अनाड़ी बैठे हैं; इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमें राष्ट्र-भाषा का प्रचार करना है तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा......और हमें अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानों और आँखों को खटकेगी जरूर, कहीं गंगा-मदार का जोड़ नज़र आयेगा।

—प्रेमचंद

## ग़रज़ किसकी ?

नौकर रखने का रिवाज बहुत पुराने समय से पाया जाता है। लेकिन नौकर के प्रति मालिक के बरताव में फेरफार होते जाते हैं। कोई उसको अपने परिवार का ही आदमी समझ कर उससे वैसा बरताव करते हैं, और कोई उसे गुलाम मानकर या अपनी मिल्कियत समझकर उस तरह पेश आते हैं। इन दो हालतों के बीच समाज का काम चलता रहता है। आजकल के जमाने में जब कि नौकरों की जरूरत सबको पड़ती है, नौकर को अपनी क़ीमत का पता चल गया है, इसलिए नौकर अपनी शर्त पर और मुँहमाँगी तनख्वाह पर काम करता है। अगर उसका बरताव भले आदमियों का सा रहे, तो यह अच्छी चीज मानी जाय। नतीजा इसका यह हो सकता है कि नौकर, नौकर न रह कर हमेशा के लिए स्वजन यानी अपना ही आदमी बन जाय। लेकिन जहाँ लोग बहुत बड़ी तादाद में यह मानने लगे हों कि हिंसा से सब-कुछ या बहुत-कुछ हो सकता है, वहाँ नौकर स्वजन कैसे बने ?

मैं मानता हूँ कि जो आदमी दूसरों का सहयोग चाहता है और

अपना दूसरों को देना चाहता है, उसे नौकर की गरज न रहनी चाहिए। जिसे गरज होती है, वह ज़्यादा-से-ज़्यादा तनख़्वाह देकर और दूसरी जो शर्तें रक्खी जायँ, उन्हें क़बूल करके नौकर रक्खेगा यानी असल में वह मालिक न रहकर ग़ुलाम सा बन जायगा। इससे वह न अपना भला करेगा, न नामधारी नौकर का। उसके सामने एक ही विचार रहेगा—अपने स्वार्थ की सिद्धि। इसके ख़िलाफ़ जो नौकर की तलाश में नहीं रहेगा, बल्कि सहयोग ढूँढ़ेगा वह अपना और सहयोगी का भला करेगा। इससे उसके परिवार का फैलाव बढ़ता जायगा। और आख़िर सारी दुनिया आपस में एक कुनबे की तरह पेश आयेगी। और यही सच्चा रास्ता है।

—गांधी जी

[ 'हरिजन-सेवक'—मार्च, १०, १९४६ ]

## टकसाली हिन्दुस्तानी

"हम छोटे आदमी हैं किन्तु महान लक्ष्यों की प्राप्ति में जुटे हैं। क्योंकि हमारा लक्ष्य महान है, महानता की थोड़ी-बहुत झलक हम में भी भी आही जाती है। आज भारत और संसार में प्रबल शक्तियाँ काम कर रही हैं और मुझे विश्वास है कि हम भारत के इतिहास में एक गौरवपूर्ण अध्याय आरम्भ करने वाले हैं। भारत का भूगोल इतिहास एवं परम्परा और भारत के प्रति हमारी निष्ठा बदल थोड़े ही सकती है।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

[ ३ जून, सन् १९४७ को 'आल इंडिया रेडियो' से प्रसारित भाषण से ]